यतीन्द्रमतदीपिका

'भावप्रकाशिका' हिन्दीव्याख्या सहित

विशिष्टाद्वैतदर्शन का प्रवेश ग्रन्थ

आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

१६०

श्रीनिवासाचार्यप्रणीता

यतीन्द्रमतदीपिका

हिन्द्यनुवादेन 'भावप्रकाशिकया' च समन्विता

व्याख्याकार

आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

'श्रीधराचार्य'

वेदान्तविभागाध्यक्ष

श्रीहनुमत् संस्कृत महाविद्यालय, हनुमानगढ़ी

अयोध्या (फैजाबाद)

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

YATĪDRAMATADĪPIKĀ

Pages: 36+292

© CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
Varanasi 221001
Tel. +91 542-2335263; 2335264
email : csp_naveen@yahoo.co.in
website : www.chaukhamba.co.in

Also can be had from :
CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road. Darya Ganj
New Delhi 110002
Tel. +91 11-23286537
email: chaukhambapublishinghouse@gmail.com

•

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A. Bungalow Road, Jawahar Nagar
Post Box No. 2113
Delhi 110007

•

CHAUKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind Bank of Baroda Building)
Post Box No. 1069
Varanasi 221001

श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य-
त्रिदण्डीस्वामीजी महाराज

एवं

ब्रह्मर्षि-
श्रीदेवराहाबाबाजीमहाराज

के

पावन चरणों

में

सादर समर्पित

*

शिवप्रसाद द्विवेदी

आमुख

दर्शनों में वेदान्त का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अन्तिम भाग तथा वेदों के अर्थ-निश्चय को वेदान्त कहते हैं। 'वेदानामन्तः' यह वेदान्त शब्द का विग्रह है। अन्त शब्द अनेकार्थक है। 'अन्तः स्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चय-नाशयोः' (नानार्थककोश)। इस कोशवाक्य के अनुसार यहाँ अन्त शब्द को अन्तिमभागपरक अथवा अर्थनिश्चयपरक माना जा सकता है। वेदों का अन्तिम भाग उपनिषद् है तथा वेदों के अर्थों का निश्चय मीमांसाशास्त्र में किया जाता है। 'वेदानां—संहिताब्राह्मणोपनिषदाम्, अन्तः—निश्चयो, यत्र सो वेदान्तः।' यह वेदान्त शब्द का व्याकृत विग्रह किया जाता है। इस विग्रह के अनुसार विंशतिलक्षणी मीमांसा वेदान्तशास्त्र का अभिधेयार्थ है।

अस्तु, सम्पूर्ण जगत् का हितानुशासन रूप वेद है। पूर्वोत्तर मीमांसाओं में आराध्य ईश्वर तथा आराधन के साधन कर्मों का स्वरूप निरूपित किया गया है। परमात्माराधनैकरूपता ही सभी कर्मों का स्वरूप है; यह सभी तत्त्वों के अभिज्ञ महापुरुष मानते हैं। श्रुति कहती है—'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' ब्रह्मनिष्ठों में वह श्रेष्ठ है, जो भगवदाज्ञा-स्वरूप मानकर नित्यनैमित्तिकादि क्रियाओं का फलाभिसंधिरहित होकर अनुष्ठान किया करता है। यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तो ब्रह्मनिष्ठों को भी पावित करने का कार्य करते हैं, अतएव वे आजीवन अनुष्ठेय हैं। इस प्रकार सदाचार्य की सन्निधि में उभय मीमांसा का श्रवण करने वाले व्यक्ति की व्युत्पत्ति की पूर्ति हो जाती है। 'वेदान्तश्रवणेनैव व्युत्पत्तिः पूर्यते।' इस सदुक्ति के अनुसार वेदान्त का श्रवण किये बिना ज्ञान की पूर्णता नहीं होती है।

आज वेदान्तों की अनेक शाखाएँ प्रचलन में हैं, उनमें विशिष्टाद्वैत वेदान्त अन्यतम है। सम्पूर्ण वेदों की तत्त्वापादकता इस वेदान्त के अनुयायियों को अभिप्रेत है। भगवान् नारायण द्वारा उपदिष्ट, श्रीदेवी द्वारा प्रवर्तित दश दिव्यसूरियों द्वारा संरक्षित तथा नाथमुनि, यामुनमुनि प्रभृति आचार्यों द्वारा प्रवर्द्धित श्रीविशिष्टाद्वैत दर्शन के अनुकूल ब्रह्मसूत्रों के श्रीभाष्य नामक भाष्य का प्रणयन भगवत्पाद रामानुजाचार्य ने किया। श्रीभाष्य के दिव्यालोक द्वारा भगवत्पाद रामानुजाचार्य ने श्रुतियों, स्मृतियों तथा सूत्रों में व्याप्त विसंगतियों का पूर्ण रूप से अपनोदन कर श्रुति सरस्वती का पूर्ण सम्मान किया, जिससे प्रसन्न होकर विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती ने श्रीभाष्य के सम्मान में उसे अपने शिर पर धारण किया। तथाहि—

'तच्छ्रुत्वा शारदा हृष्टा श्रीभाष्यं तत्कृतं महत्।
शिरस्यारोप्य सम्भाव्य ततो बाहू प्रसार्य च॥

यतीन्द्रपार्णि सङ्गृह्य न प्रक्षिप्तमिदं निजम् ।
इत्यङ्गीकृत्य वाग्देवी श्रुत्यर्थं तेन भाषितम् ।।
तस्याकरोद् भाष्यकार इति नाम तदा मुदा ।
हयग्रीवं कारयित्वा तस्मै दत्वा महौजसे ।।'

श्रीरामानुजाचार्य के विचारों के प्रबल समर्थक तथा शताधिक दुर्धर्ष ग्रन्थों के प्रणेता चतुरस्र प्रतिभासम्पन्न श्रीमद् वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक श्रीरामानुजाचार्य के अप्रतिम व्याख्याकार हुए। वेदान्ताचार्य के व्याख्याकारों में श्रीमन्महाचार्य की सर्वाधिक प्रख्याति हुई। श्रीमन् महाचार्य का जन्मकाल १।२।१५४३ ई० है तथा तिरोभावकाल ३।१०।१६०७ ई० है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार का परिचय

यतीन्द्रमतदीपिका के प्रणेता श्रीनिवासाचार्य श्रीमन् महाचार्य के शिष्यों में अन्यतम हैं। इसीलिए श्रीनिवासाचार्य यतीन्द्रमतदीपिका के द्वितीय मङ्गलाचरण में आचार्य-स्तवन करते हुए श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमद्वेदान्तदेशिक तथा महाचार्य की स्तुति करते हैं। वे कहते हैं—

'यतीश्वरं प्रणम्याहं वेदाचार्यं महागुरुम् ।
करोमि बालबोधार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाम् ।।'
(द्वितीय मंगलाचरण यतीन्द्रमतदीपिका)

सभी अवतारों के अन्त में उनकी प्रशस्ति में 'इति श्रीबाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन' इत्यादि पंक्ति देखने को मिलती है। इससे भी पता चलता है कि वे श्रीमन्महाचार्य के शिष्यों में प्रधान शिष्य थे।

यद्यपि श्रीनिवासाचार्य के काल का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता, किन्तु वे चूंकि श्रीमन्महाचार्य के शिष्यों में प्रधान थे, इससे स्पष्ट है कि उनका भी काल श्रीमन्महाचार्य के काल से कुछ वर्ष पश्चात् का होगा। यह निश्चित है कि श्रीमन् महाचार्य का जन्मकाल १ फरवरी १५४३ है और उनका तिरोभाव काल ३ अक्तूबर १६०७ है। यह भी निश्चित है कि महाचार्य को प्रख्यात विद्वान् के रूप में प्रसिद्ध होने में जीवन के कम से कम ३० वर्ष लग गये होंगे। इसके पश्चात् ही उनके छात्रों की संख्या भूयसी हुई होगी। श्रीनिवासाचार्य श्रीमहाचार्य के उस समय के शिष्यों में है, जब कि उनके शिष्यों की संख्या भूयसी हो गयी होगी। अथवा 'श्रीमन्महाचार्य प्रथमदासेन' का यह भी अर्थ हो सकता है कि श्रीनिवासाचार्य महाचार्य के सर्वप्रथम शिष्य रहे हों। अस्तु, जो कुछ भी हो श्रीनिवासाचार्य की अवस्था श्रीमहाचार्य से कम से कम ३० वर्ष तो अवश्य कम रही होगी। इस प्रकार श्रीनिवासाचार्य का काल सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा सत्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के लगभग अवश्य मानना होगा।

यतीन्द्रमतदीपिका के उपसंहार ग्रन्थ के अन्त में श्रीनिवासाचार्य की प्रशस्ति के रूप में दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है। वे विशेषण हैं— (१) इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन, (२) श्रीवेङ्कटगिरिनाथपदकमलसेवापरायणस्वामिपुष्करिणी श्रीगोविन्दार्यसूनुना। इस दूसरे विशेषण से पता चलता है कि इनके पिताश्री का नाम श्रीगोविन्दाचार्य था, जो श्रीवेङ्कटेश भगवान् के भक्त तथा श्रीवेङ्कटेश मन्दिर के सन्निकट में ही विद्यमान स्वामि पुष्करिणी पर निवास करते थे। इसीलिए वे 'स्वामिपुष्करिणी गोविन्दाचार्य' की संज्ञा से अभिहित किये जाते थे।

अपने पिता की ही परम्परा को सुरक्षित रखने के कारण श्रीनिवासाचार्य यतीन्द्रमतदीपिका के प्रथम मङ्गलाचरण में श्रीवेङ्कटेश भगवान् तथा श्रीभगवान् के अन्य अर्चावतार रूपों की स्तुति करते हैं। इससे इनके भगवान् वेङ्कटेश में प्रथित भक्ति का पता चलता है।

श्रीनिवासाचार्य ने यतीन्द्रमतदीपिका का उपसंहार करते हुए यतीन्द्रमतदीपिका के उपजीव्य ग्रन्थों की एक लम्वी सूची दी है, जिससे स्पष्ट है कि आपने तात्कालिक विशिष्टाद्वैत दर्शन के उद्भट विद्वानों द्वारा प्रणीत बत्तीस ग्रन्थों को इस ग्रन्थ का उपजीव्य बनाया।

जिस प्रकार भक्ति के स्वरूप का निरूपण उपनिषदों में व्याख्यात बत्तीस ब्रह्मविद्याएँ करती हैं, जिस प्रकार श्रीमद् वेङ्कटनाथ वेदान्तदेशिक ने पादुकासहस्र का प्रणयन बत्तीस पद्धतियों में किया, उसी प्रकार श्रीनिवासाचार्य ने विशिष्टाद्वैत दर्शन के मान्य सिद्धान्तों का उन्मीलन अपने पूर्वाचार्यों के बत्तीस ग्रन्थों को आधार बनाकर किया। यह यतीन्द्रमतदीपिका दश अवतारों में विभक्त है। श्रीभगवान् के प्रधान अवतारों की भी संख्या दश मानी जाती है। जिस प्रकार साधु-संत्राण, अधर्म-विनाश तथा धर्म-संस्थापनार्थ श्रीभगवान् अपने प्रधान दश अवतारों में अवतरित हुए, उसी प्रकार यह यतीन्द्रमतदीपिका भी विशिष्टाद्वैतदर्शन का पूर्णरूप से प्रतिपादन तथा वेदान्तार्थाधिजिगमिषु छात्रों में वेदान्त का यथायथ ज्ञान का प्राकट्य करने के लिए दश अवतारों में अवतीर्ण हुई।

श्रीनिवासाचार्य-प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका का मूल पाठ मैंने वही लिया है, जो पाठ 'विद्याभूषण तिरुनांगूर प्र० भ० अणङ्गराचार्य, विद्वान् स्वामी' श्रीरङ्गजी मंदिर, वृन्दावन, उ० प्र० ने स्वीकार किया है। इन्हीं विद्वान् स्वामीजी की लघुवर्तिका नाम की संस्कृत व्याख्या यतीन्द्रमतदीपिका पर मुझे उपलब्ध थी। इस प्रकरण-ग्रन्थ पर हिन्दी में कोई भी व्याख्या उपलब्ध नहीं थी।

यतीन्द्रमतदीपिका विशिष्टाद्वैतदर्शन का प्रवेश-ग्रन्थ है। इसका आकार जितना ही लघु है, इसके भाव उतने ही विस्तृत हैं। ग्रन्थकार ने अधिक से

अधिक सैद्धान्तिक भावों को कम से कम शब्दों में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करके इसको जितना ही सरल और सुबोध बनाने का प्रशस्त प्रयास किया, उतना ही यह ग्रन्थ जिज्ञासुओं के मन में विस्तृत भावों को जानने की अभिलाषा उत्पन्न कर देता है।

इस ग्रन्थ का जब मैं स्वर्गीय स्वामी को० व० नीलमेघाचार्यजी, वाराणसी की सन्निधि में अध्ययन करता था, उस समय उक्त श्रीस्वामीजी अपने वात्सल्यातिरेक के कारण कभी-कभी इस ग्रन्थ की कुछ पंक्तियों के भावों को मुझे बतलाया करते थे। अध्ययन के पश्चात् मैं तो अध्यापन कार्य में व्यापृत हो गया। इस वर्ष ग्रीष्मावकाश के अवसर पर मन में विचार आया कि—'यतीन्द्रमतदीपिका' के उन विशद भावों को भावप्रकाशिका व्याख्या के रूप में मैं अभिव्यक्त करूँ, जिन भावों को श्रीस्वामी जी कभी-कभी बतलाया करते थे।

संयोगवशात् चौखम्बा सुरभारती के अध्यक्ष श्रीयुत् नवनीतदासजी से बातें हुई तो उन्होंने भी मुझे इस पवित्र कार्य को करने के लिए प्रेरित किया और मैं इस वर्ष इस कार्य में लग गया और इसी १९८८ के ग्रीष्मावकाश की समाप्ति के पूर्व ही लगभग चालीस दिनों में इस पावन कार्य को पूरा कर लिया। उसी का परिणाम है कि यतीन्द्रमतदीपिका की भावप्रकाशिका आज आपके कर-कमलों में जा रही है।

भावप्रकाशिका के सारे विचार हमारे पूज्य गुरुदेव स्वर्गीय स्वामी को० व० श्रीनीलमेधाचार्य जी के विचारों के कुछ अंशमात्र हैं, यह दूसरी बात होगी कि उनके विचारों को सुने हुए बहुत दिन हो जाने के कारण उनके पावन भावों से मेरे कुछ अज्ञातजन्य दोष संपृक्त हो गये हों।

यतीन्द्रमतदीपिका के अवतारों का सारांश भी पाठकों की सुविधा के लिए सम्मिलित किया गया है। भावप्रकाशिका में व्याख्यात प्रधान विषयों की सूची भी प्रस्तुत की गयी है, जिससे कि अध्येताओं को अपने अभीष्ट विषय को अन्वेषित करने में अधिक कठिनाई न उठानी पड़े।

अन्त में अपने उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ, जिन लोगों ने मुझे इस कार्य को करने के लिए प्रोत्साहित किया। साथ ही मैं चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी के अध्यक्ष श्रीनवनीतदासजी का आभारी हूँ जिन्होंने बड़ी ही उदारता के साथ इस ग्रन्थ के प्रकाशन का भार ग्रहण कर मुझे अनुगृहीत किया है। विशेष भगवदिच्छा।

आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी

यतीन्द्रमतदीपिका-स्वरस

यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्य का सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जड़-चेतनात्मक जगत् श्रीभगवान् का शरीर है, अतएव यह श्रीभगवान् का नियाम्य, धार्य एवं शेष है और श्रीभगवान् इस सम्पूर्ण जगत् की आत्मा है; अतएव वे सम्पूर्ण जगत् के नियामक, धारक एवं शेषी हैं। इसी अर्थ का प्रतिपादन—१. 'यस्यात्मा शरीरम्' अर्थात् जिस परमात्मा का यह आत्मा शरीर है, २. 'जगत् सर्वं शरीरं ते' अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है, ३. 'तत् सर्वं वै हरेस्तनुः' अर्थात् जो यह जड़-चेतनात्मक जगत् है, वह सम्पूर्ण श्रीहरि का तनु (शरीर) है—इत्यादि अनेक श्रौत-स्मार्त वाक्य करते हैं। यतीन्द्र श्रीरामानुजाचार्य के मत का प्रकाशन करने के कारण ही इस प्रकरण-ग्रन्थ का नाम यतीन्द्रमत-दीपिका है। 'यतीनामिन्द्रः यतीन्द्रः, श्रीरामानुजाचार्य इत्यर्थः, तस्य मतम्=सिद्धान्तं, दीपयति=प्रकाशयति या सा' यही यतीन्द्रमतदीपिका शब्द की व्युत्पत्ति है।

यतिराज श्रीरामानुजाचार्य ने अपनी कृतियों के द्वारा जिस दर्शन का समर्थन किया, उसे विशिष्टाद्वैत के नाम से अभिहित किया जाता है। वेदान्त-वेद्य परमात्मतत्त्व एक तथा चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् से विशिष्ट है। परमात्मा एवं जगत् में शरीर-शरीरीभावसम्बन्ध है। जिस प्रकार शरीर अपनी आत्मा का अपृथक्सिद्ध होता है, वह अपनी आत्मा के बिना क्षणभर भी नहीं टिक पाता है, उसी प्रकार जगत् भी परमात्मा का अपृथक्सिद्ध पदार्थ है, वह परमात्मा से पृथक् होते ही विनष्ट हो जायेगा। वह जड़चेतनविशिष्ट परमात्मा एक ही है, उससे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है; इसी अर्थ को विशिष्टाद्वैत शब्द बतलाता है। जिस प्रकार शरीर अपनी आत्मा से भिन्न होने पर भी अपनी आत्मा से अभिन्न है, उसी प्रकार परमात्मा से भिन्न होकर भी जगत् परमात्म-विशेषणतया उससे अभिन्न ही है। इसी अर्थ को दृष्टिपथ में रखकर विशिष्टा-द्वैत शब्द की इस प्रकार की व्युत्पत्ति की जाती है—'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम् भेद इत्यर्थः। न द्वैतमद्वैतम् अभेद इत्यर्थः। विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टा-द्वैतम्। वैशिष्ट्यञ्च चिदचिदोः।'

विशिष्टाद्वैतदर्शन के प्रधान प्रतिपाद्य श्रीभगवान् के प्रधान रूप से दश अवतार स्वीकार किये जाते हैं। भगवत्तत्त्व को ही प्रधानरूप से वेदवेदान्तवेद्य बतलाने वाली इस यतीन्द्रमतदीपिका के भी दश अवतार हैं। जिस प्रकार श्रीभगवान् के अवतारों के प्रयोजन—१. सज्जनों की रक्षा, २. असज्जनों के विनाश तथा ३. सज्ज्ञानधर्म का प्रवर्तन—ये तीन माने जाते हैं, उसी प्रकार

इस यतीन्द्रमतदीपिका के भी अवतार—१. सत्पक्ष का संरक्षण, २. सत्पक्षप्रतिपक्षी पक्ष का खण्डन तथा ३. तत्त्व, हित एवं पुमर्थज्ञान रूप सद्धर्म का प्रवर्तन करने का कार्य करते हैं।

सम्पूर्ण यतीन्द्रमतदीपिका को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रमाणविचार भाग तथा प्रमेयविचार भाग। यतीन्द्रमतदीपिका के प्रथम तीन अवतारों में प्रमाणों का विचार किया गया है तथा शेष सात अवतारों में प्रमेयों का विचार किया गया है। भगवान् मनु ने भी बतलाया है कि—

'प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मसिद्धिमभीप्सुना॥'

अर्थात् तत्त्वतः धर्म के स्वरूपज्ञान की कामना वाले मनुष्य को चाहिए कि वह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा अनेक आगमों से युक्त शास्त्र (शब्द) को अच्छी तरह से जाने। अतएव इस यतीन्द्रमतदीपिका के प्रथम तीन अवतारों में क्रमशः प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द, इन तीन प्रमाणों का निरूपण करके; तत्-तत् वादियों को अभिमत, इन तीन प्रमाणों से भिन्न प्रमाणों का, इन्हीं प्रमाणों में अन्तर्भाव भी बतलाया गया है।

आगे यतीन्द्रमतदीपिका के दश अवतारों का स्वरस संक्षिप्ततम रूप से विवेचित है।

प्रथम अवतार

वेदान्तियों की यह मान्यता हैं कि ज्ञान स्वतःप्रमाण द्रव्य है। प्रमाणों की कल्पना वस्तुओं की यथावस्थित रूप से ग्रहणार्थ ही की गयी है। ज्ञान कारण-दोष के कारण कभी-कभी भ्रान्ति तथा संशय के भी जनक होते हैं। अत एव यह स्वीकार किया जाता है कि ज्ञानों में प्रामाण्य स्वतः एवं अप्रामाण्य परतः होता है। मीमांसकों की भी यही मान्यता है। प्रकरणपञ्चिका के तृतीय नयवीथी-प्रकरण में श्रीशालिकनाथ ने कहा भी है—'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।' अर्थात् वैदिकों का यह सिद्धान्त है कि सभी ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। किन्तु नैयायिकों का कहना है कि ज्ञानों के प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः ही होते हैं, स्वतः नहीं। वे कहते हैं कि प्रमा भी ज्ञान-विशेष है, अतएव वह ज्ञान के सामान्य कारणों से अतिरिक्त कारणजन्य है। जिस प्रकार अप्रमा (अप्रामाणिक ज्ञान) ज्ञान के सामान्य कारणों से भिन्न दोष से जन्य होती है; उसी प्रकार प्रमा (प्रामाणिक ज्ञान) भी गुणजन्य होती है। किन्तु यहाँ ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार करने वालों का कहना है कि हम भी प्रमा के जनक, ज्ञान के सामान्य हेतुओं से अतिरिक्त हेतु को मानते हैं और वह हेतु है दोषाभाव रूप हेतु। जब ज्ञान के जनक हेतु में किसी प्रकार का दोष नहीं होता तो उस हेतु से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रमा कहलाता है। अत एव दोषाभाव को ही प्रमा का जनक मानना चाहिए; ऐसा ही मानने में लाघव भी है।

यतीन्द्रमतदीपिका के प्रारम्भ में पदार्थों के विभाजन के पश्चात् प्रत्यक्ष-प्रमाण के निरूपण का प्रारम्भ किया गया। इस अवतार में प्रत्यक्ष के निर्विकल्पक तथा सविकल्पक, इन दो भेदों को बतलाकर कहा गया है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा भी सविशेष (कतिपयविशेषणविशिष्ट) वस्तु का ग्रहण होता है। कोई भी प्रत्यक्ष सर्वविशेषणविहीन वस्तु का ग्राहक नहीं होता है। इसी अवतार में सत्ख्याति का भी निरूपण किया गया है। इस अवसर पर बतलाया गया है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार एक द्रव्य में दूसरे द्रव्यों का सद्भाव रहता है। किसी द्रव्य में द्रव्यान्तर के सद्भाव की सिद्धि प्रतिनिधि विधानोपपादकन्याय से सिद्ध है। जो वस्तु जिसके सदृश होती है, वही उसका प्रतिनिधि होता है। श्रीभाष्य में भी बतलाया गया है कि सोम के अभाव में पूतिका लेने का विधान 'सोमाभावे पूतिकाग्रहणम्' श्रुति इसलिए करती है कि पूतिका में सोम का अंश विद्यमान रहता है। अतएव उसे सोम का प्रतिनिधि माना जाता है। इसी प्रकार रस्सी में सर्प का ज्ञान इसलिए होता है कि रस्सी में सर्पांश विद्यमान रहता है।

सभी वादी ख्यातिभ्रम को मानते हैं। प्रभाकर मीमांसक भ्रमस्थल में अख्याति को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शुक्ति में रजत का भ्रम इसलिए होता है कि वहाँ पर शुक्ति तथा रजत के भेद का ज्ञान ही नहीं हो पाता है। इसी के कारण भ्रान्त पुरुष शुक्ति को देखकर उसे रजत समझ लेता है।

योगाचार बौद्ध भ्रमस्थल में आत्मख्याति स्वीकार करते हैं। योगाचार बौद्ध विज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि वासना-दोष के कारण विज्ञानात्मा ही अनेक रूपों में प्रतीत होने लगती है।

माध्यमिक बौद्ध भ्रान्तिस्थल में असत्ख्याति को स्वीकारते हैं। उनके अनुसार जिस प्रकार विषय असत् है, उसी प्रकार ज्ञान भी असत् ही है। वह तो संवृति नामक दोष के कारण सत् के समान तथा भिन्न-भिन्न के समान प्रतीत होता है।

नैयायिक तथा भाट्ट मीमांसक अन्यथाख्याति को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार सादृश्य-दोष के कारण पुरोवर्ती द्रव्य में ही पूर्वदृष्ट रजतादि पदार्थों की प्रतीति होने के कारण भ्रमज्ञान होता है।

अद्वैती विद्वान् भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि शुक्तिरजत-भ्रमस्थल में अविद्या-दोष के कारण एक विशेष प्रकार का रजत उत्पन्न हो जाता है। वह रजत न तो सत् होता है और न असत्। अपि तु वह सदसत् अनिर्वचनीय होता है। उसी का ग्रहण होने के कारण भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति होती है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में माना जाता है कि शुक्ति में भी रजतांश रहता है, अतएव वह रजत के सदृश होता है। चाकचिक्य-दोष के कारण शुक्ति में रजत

का भ्रम होता है। रजतांश का शुक्ति में सद्भाव होने के कारण यतीन्द्रमत-दीपिकाकार को भ्रमस्थल में सत्ख्याति का स्वीकार अभिप्रेत है। इसके पश्चात् इस अवतार में स्मृति का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव बतलाया गया है। स्मृति-ज्ञान यद्यपि प्रामाणिक होता है, किन्तु अनुभवमूलक होने के कारण उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने वस्तु-प्रत्यक्ष में होने वाले इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को दो प्रकार का माना है—संयोग तथा संयुक्ताश्रय। ब्रह्मसूत्रों में समवाय को नहीं स्वीकारा गया है, अतएव उसे विशिष्टाद्वैती भी नहीं मानते हैं। इसी प्रसङ्ग में यह भी कहा गया है कि 'दशमस्त्वमसि' वाक्य-जन्य ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान नहीं है।

द्वितीय अवतार

यतीन्द्रमतदीपिका के द्वितीय अवतार में अनुमानप्रमाण का निरूपण किया गया है। इसी प्रसङ्ग में असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, बाधित (प्रकरण-सम) तथा कालात्ययापदिष्ट, इन पाँच हेत्वाभासों का निरूपण किया गया है। नैयायिक मानते हैं कि अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ का भी अनुमान होता है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने बतलाया है कि अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ का अनुमान इसलिए असंभव है कि उसका व्याप्तिग्रह असंभव होगा। प्रसङ्गवशात् यतीन्द्र-मतदीपिकाकार ने केवलव्यतिरेकी अनुमान का यह कहकर खण्डन किया है कि केवलव्यतिरेकी हेतु पक्षमात्र में विद्यमान रहने के कारण साधक हेतु हो ही नहीं सकता है, क्योंकि हेतु के लिए यह आवश्यक होता है कि वह पक्ष तथा सपक्ष दोनों में विद्यमान रहे तथा विपक्ष में न रहे। किन्तु केवलव्यति-रेकी हेतु सपक्ष में अन्वित होता ही नहीं। अतएव केवलव्यतिरेकी हेतु का असाधारण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। किञ्च प्रश्न उठता है कि केवल-व्यतिरेकी अनुमान का साध्य, अनुमान से पूर्व कहीं पर प्रसिद्ध है कि नहीं? यदि नहीं, तब तो फिर साध्याप्रसिद्धि-दोष होगा। यदि है तो फिर प्रश्न होता है कि वह पक्ष में प्रसिद्ध है कि उससे भिन्न स्थल में? यदि पक्ष में है तो फिर सिद्धसाधनता-दोष होगा। यदि पक्षव्यतिरिक्त में है और उसमें हेतु अन्वित है तो फिर केवलान्वयी ही अनुमान होगा, यदि हेतु उसमें अन्वित नहीं है तो फिर वह असाधारण हेतु होगा।

नैयायिक विद्वान् यहाँ पर यह कहते हैं कि यदि केवलव्यतिरेकी को न स्वीकारा जाय तो फिर लक्षण की सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि वस्तु का लक्षण स्वेतर समस्तवस्तु व्यावर्तक रूप होता है। उसकी सिद्धि तो केवलव्यतिरेकी हेतु के द्वारा ही सम्भव है। किन्तु नैयायिक विद्वानों का यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि लक्षण तो अन्वयी रीति से भी किया जा सकता है। यह कहा जा सकता है कि यह गौ है, क्योंकि यह सास्ना वाली है। सास्ना वाली होने के कारण ही यह अश्व आदि से भिन्न भी है।

जैसे—मेरी गौ। यदि कहा जाय कि ईश्वर तो एक है, उसका लक्षण अन्वयी रीति से कैसे संभव है ? तो इसका उत्तर है कि शास्त्र ही ईश्वर को स्वेतर समस्त चेतन तथा अचेतन पदार्थों से भिन्न बतलाता है, उसके लिए अनुमान करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। कुछ अनीश्वरों में भी, जो ईश्वरत्व की शङ्का होती है, उनमें भी ईश्वर के लक्षण का अभाव होने के कारण उनका ईश्वर से भेद अन्वयी रीति से ही सिद्ध हो जाता है। अनुमान के द्वारा अत्यन्त अतीन्द्रिय तथा शरीररहित ईश्वर कर्त्ता सिद्ध नहीं हो सकता है; अत एव अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थों की अनुमान के द्वारा सिद्धि संभव नहीं है। मही-महीधर आदि पदार्थों को सावयवत्व हेतु के द्वारा कार्य सिद्ध करके कार्यत्व हेतु के द्वारा उनके कर्त्तारूप से ईश्वर का अनुमान करने पर अन्य घटादि के कर्त्ताओं के समान ईश्वर में भी अल्पज्ञत्व तथा शरीरित्व आदि की सिद्धि होने के कारण कार्यत्व हेतु विरुद्ध हेतु होगा। मीमांसकों को भी यह मान्यता अभिप्रेत है। मानमेयोदय नामक ग्रन्थ में कहा गया है कि बाधक हेतु दो प्रकार का होता है—विरुद्ध तथा विशेष विरुद्ध। मही-महीधर, समुद्र आदि सकर्तृक हैं, क्योंकि ये घट के समान कार्य हैं। इस अनुमान के साध्यभूत क्षित्यादि के कर्त्ता का अशरीरी होना यह विशेष अभिमत है। उस विशेषता के विपरीत शरीरी रूप से घटादि के कर्ताओं को देखे जाने के कारण, यह कार्यत्व हेतु साध्यविशेष के विरुद्ध व्याप्त है। किञ्च यह अशरीरित्व का बाधक भी सिद्ध होता है, अतएव यह विशेषविरुद्ध बाधक हेतु है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ की अनुमान के द्वारा सिद्धि सम्भव नहीं है।

अनुमान के हेतु के पांच रूप अपेक्षित होते हैं—पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व, विपक्ष व्यावृतत्व, अबाधित विषयत्व तथा असत् प्रतिपक्षत्व। इन पांच रूपों से सम्पन्न हेतु ही सद्हेतु माना जाता है। हेतु से भिन्न होने पर भी जिसकी हेतु के समान प्रतीति होती है, उसे हेत्वाभास कहते हैं। ये हेत्वाभास पांच प्रकार के होते हैं। श्रीनाथमुनि ने न्यायतत्त्व नामक ग्रन्थ में तीन प्रकार के ही हेत्वाभासों का निर्देश किया है। उन्होंने न्यायतत्त्व में कहा है—'असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।' अर्थात् असिद्ध, अनैकान्तिक तथा विरुद्ध, ये तीन हेत्वाभास हैं। श्रीनाथमुनि के अनुसार कालात्ययापदिष्ट पक्षाभास में तथा प्रकरणसम का अनैकान्तिक अथवा असाधारण में अन्तर्भाव सम्भव है। भाट्टमीमांसक मानमेयोदय में कहते हैं कि असिद्ध, अनैकान्तिक, विरुद्ध तथा असाधारण, ये चार हेत्वाभास हैं। असाधारण का अनैकान्तिक में अन्तर्भाव सम्भव होने के कारण उनके भी मत में तीन ही हेत्वाभास बच जायेंगे। नैयायिक विद्वान् अनैकान्तिक नामक हेत्वाभास का एक अनुपसंहारी नामक भी भेद स्वीकार करते हैं, किन्तु उसका अन्तर्भाव असाधारण में ही हो जाता है, अतएव उसे पृथक् हेत्वाभास मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

जिस अनुमान में सब कुछ पक्षान्तर्गत ही होता है, उसमें सपक्ष का अभाव होने के कारण साध्य तथा हेतु का व्याप्तिग्रह असम्भव होता है। पक्षमात्र में पाये जाने वाले हेतु को असाधारण हेतु माना जाता है। अनुपसंहारी हेतु भी पक्षमात्रवृत्ति होता है। अतएव उसे असाधारण से अतिरिक्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

भाट्टमीमांसकों की मान्यता है कि जिस अनुमान में पक्ष में साध्य का अभाव निश्चित हो जाता है, उसमें जिज्ञासित साध्यवत्वरूप पक्षता की निवृत्ति होने के कारण वह बाध पक्ष का दोष होता है, किन्तु नैयायिक पक्ष आदि के दोषों का भी हेतुदोष में पर्यवसान मानते हैं, जो उचित नहीं है। हेत्वाभास रूप जो दोष होते हैं, वे व्याप्ति तथा पक्षधर्मता ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञान-विषयक होते हैं। इसीलिए सिद्धसाधनतास्थल में हेत्वाभास नहीं होता है, किन्तु बाधस्थल में हेत्वाभास होता है; यह नैयायिकों का अभिप्राय है। सिद्धान्त में माना जाता है कि सिद्धिस्थल में भी सिषाधयिषा (सिद्ध करने की इच्छा) के ही द्वारा अनुमिति (अनुमान जन्य ज्ञान) की उत्पत्ति होती है, अतएव सिद्धसाधनस्थल में भी नियमतः पक्षत्व की असिद्धि नहीं हो सकती है। बाधस्थल में तो आहार्य परोक्ष को स्वीकार न करने के कारण सिसाधयिषा के द्वारा भी अनुमिति की उत्पत्ति न हो सकने तथा पक्षत्व की सिद्धि न हो सकने के कारण कालात्ययापदिष्ट बाधित को हेत्वाभास मानना उचित ही है। पक्ष में साध्य के अभाव का निश्चय करवाकर, बाध तथा साध्याभाव की व्याप्यवत्ता का निश्चय करवाकर, विरुद्ध एवं सत्प्रतिपक्ष अनुमानजन्य ज्ञान (अनुमिति) के प्रतिबन्धक बनते हैं। हेतु की अनैकान्तता (व्यभिचारयुक्तता) का ज्ञान हेतु एवं साध्य के सहचारज्ञान रूप व्याप्तिज्ञान का विरोधी होता है। हेतु के आश्रयासिद्धि तथा स्वरूपासिद्धि का ज्ञान पक्षधर्मता ज्ञान का विरोधी होता है। व्याप्यत्वासिद्धिस्थल में उपाधि व्यभिचार का अनुमान करवाकर हेतु के व्याप्तिज्ञान का प्रतिबन्धक बनता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सर्वत्र हेत्वाभासों में दोषों का ज्ञान ही अनुमिति का प्रतिबन्धक होता है।

इसके पश्चात् यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने केवलान्वयी अनुमान का समर्थन करके अनुमान के दो भेदों को स्वीकारा है—अन्वयव्यतिरेकी तथा केवलान्वयी। पुनः यहीं पर उपमान तथा अर्थापत्ति का भी अनुमानादि में अन्तर्भाव प्रदर्शित किया गया है।

तृतीय अवतार

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने दो प्रकार का शब्दप्रमाण स्वीकार किया है—लौकिक एवं वैदिक। विशिष्टाद्वैतदर्शन की मान्यता है कि वेद अपौरुषेय एवं

नित्य हैं। ईश्वर वेदों का कर्त्ता नहीं है, अपितु सृष्टि के प्रारम्भ में वे पूर्व-कल्पानुसारी आनुपूर्वी-सम्पन्न वेदों का स्मरण करके उसका उपदेश ब्रह्माजी को दे देते हैं। यदि कहा जाय कि विशिष्टाद्वैती भी वर्णों की उत्पत्ति तथा विनाश स्वीकार करते हैं, अतएव अक्षरराशि रूप वेदों की नित्यता वे कैसे स्वीकार कर सकते हैं? तो इसका उत्तर है कि—सभी कल्पों में वेदों की आनुपूर्वी एकसमान होती है, कोई भी पुरुष स्वतन्त्र रूप से अपने मनोनुकूल वेदों की आनुपूर्वी का प्रणयन नहीं कर सकता है। यही कारण है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा भी पूर्वकल्प में वेद जिस आनुपूर्वी से विशिष्ट रहता है, उसी आनुपूर्वीविशिष्ट वेद का उपदेश ब्रह्माजी को करते हैं। इस प्रकार वह सर्वदा एकसमानानुपूर्वीक ही रहता है। सर्वदा एकसमानानुपूर्वीक रूप से पढ़ा जाना ही वेदों की नित्यता है। किञ्च ईश्वर भी स्वतन्त्रतापूर्वक उसकी रचना नहीं कर सकते हैं, अतएव वेद अपौरुषेय हैं। श्रीभाष्य के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के दैवताधिकरण में कहा भी गया है—'इदमेव वेदस्यापौरुषेयत्वं नित्यत्वं च, यत्—पूर्वपूर्वोच्चारणक्रमजनितसंस्कारेण तमेव क्रमविशेषं स्मृत्वा तेनैव क्रमेणोच्चार्यत्वम्। तदस्मासु सर्वेश्वरेऽपि समानम्। इयांस्तु विशेषः—संस्कारानपेक्षं स्वयमनुसन्दधे पुरुषोत्तमः।' अर्थात् वेदों की अपौरुषेयता तथा नित्यता यही है कि—पूर्व-पूर्व उच्चारण के क्रम से उत्पन्न संस्कार के द्वारा पूर्वोच्चरित क्रमविशेष को स्मरण करके उसी (पूर्वोच्चारित) क्रम से उसका उच्चारण किया जाता है। पूर्वोच्चारित क्रम से ही वेदों का उच्चारण हम संसारी जीव तथा परमात्मा दोनों समान रूप से करते हैं। जीवों तथा परमात्मा के वेदोच्चारण में एक अन्तर अवश्य है कि हम जीवों का वेदोच्चारण संस्कार सापेक्ष होता है; किन्तु श्रीभगवान् पूर्वकल्प में जिस आनुपूर्वी से युक्त वेद होता है, उस आनुपूर्वी से विशिष्ट वेद का उच्चारण करने के लिए संस्कार की अपेक्षा नहीं रखते हैं, अपितु वे संस्कार निरपेक्ष होकर स्वयं उसका अनुसंधान करके श्रीब्रह्माजी को उपदेश कर देते हैं। यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने इसी अवतार में श्रीपाञ्चरात्र, वैखानसागम, दिव्यसूरियों के दिव्यप्रबन्ध तथा पूर्वाचार्यों के प्रबन्धों की वेदों के ही समान प्रामाणिकता प्रतिपादित की है। किञ्च—यह भी बतलाया गया है कि सभी चेतन तथा अचेतन पदार्थों के वाचक शब्दों का चरम पर्यवसान सभी की आत्मा परमात्मा के ही प्रतिपादन में होता है।

चतुर्थ अवतार

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने चतुर्थ अवतार से लेकर दशम अवतार-पर्यन्त प्रमेयों का विस्तृत विचार किया है। इस चतुर्थ अवतार में प्रकृति तथा प्राकृत चौबीस तत्त्वों का विवेचन है। प्रकृतिजन्य पञ्चभूतों से ही चौदह भुवनों का

निर्माण होता है। नैयायिकों ने पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मन, इन नव द्रव्यों को स्वीकार किया है। विशिष्टाद्वैतदर्शन में दिक् को पृथक् द्रव्य नहीं माना जाता है; क्योंकि उपाधिविशिष्ट आकाश को ही दिक् कहा जाता है। अतएव वह आकाश से भिन्न नहीं है। भाट्टमीमांसकों ने तो नैयायिकों द्वारा स्वीकृत नव द्रव्यों के साथ-साथ तमस् एवं शब्द, इन दो अन्य द्रव्यों को स्वीकार किया है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने तमस् का पृथिवी में अन्तर्भाव बतलाया है तथा शब्द, रूप आदि के समान गुणविशेष एवं अद्रव्य है। भाट्टमीमांसकों ने शब्दों को द्रव्य सिद्ध करते हुए कहा है कि जिस प्रकार घटादि द्रव्यों का साक्षात्कार इन्द्रियसन्निकर्ष से होता है, उसी प्रकार शब्द का भी साक्षात्कार श्रोत्रेन्द्रियसन्निकर्ष के द्वारा होता है, अतएव वह घटादि के समान द्रव्य है, किन्तु भाट्टमीमांसकों का यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि शब्द के साक्षात्कार में शब्दाश्रय वायु आदि के अवयव के द्वारा ही इन्द्रिय-सन्निकर्ष होता है। प्रकृति चतुर्विंशति तत्त्वात्मिका है; यह श्रुतियों तथा पुराणों में प्रसिद्ध है तथा सांख्यमतावलम्बी भी इस मान्यता का समर्थन करते हैं। प्रकृति तथा प्राकृत तत्त्वों की चौबीस संख्या इस प्रकार होती है—प्रकृति, महान्, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएँ (रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा, शब्दतन्मात्रा तथा स्पर्शतन्मात्रा), पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (चक्षुः, जिह्वा, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र), पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ), मन तथा पञ्च महाभूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आकाश)। इन चौबीस तत्त्वों से भिन्न पच्चीसवाँ तत्त्व जीव है तथा छब्बीसवाँ तत्त्व परमात्मतत्त्व है। जीवात्मा तथा परमात्मा, ये दोनों अप्राकृत हैं। तत्त्वों की गणना के प्रसङ्ग में शैवों ने ३६ तत्त्वों को स्वीकार किया है। वे परंतत्त्व पशुपति को स्वीकार करते हैं। शुद्धसत्त्व पाँच हैं—शिवतत्त्व, शक्तितत्त्व, सदाशिवतत्त्व, ईश्वरतत्त्व तथा विद्यातत्त्व। माया, माया की कार्यभूत प्रकृति तथा प्राकृत चौबीस तत्त्व एवं जीव के ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व के उपपादक—काल, नियति, कला, विद्या तथा राग—ये पाँच तत्त्व, इस प्रकार शैव मत में तत्त्वों की संख्या छत्तीस हो जाती है। प्रकृति तथा प्राकृतिक चौबीस तत्त्वों के निरूपण के ही प्रसङ्ग में पञ्चीकरण-प्रक्रिया, शरीर के स्वरूप का निरूपण तथा उसकी व्यापकता का विचार करते हुए कहा गया है कि यह सम्पूर्ण प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थ श्रीभगवान् का शरीर है। पुनः समष्टि-सृष्टि के निरूपण के पश्चात् ब्रह्माण्ड का निरूपण किया गया है।

पञ्चम अवतार

इस अवतार में यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कालतत्त्व का विशद निरूपण किया है। यद्यपि सांख्यमतावलम्बी काल को प्राकृत तत्त्वों में नहीं गिनते हैं;

किन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन तथा इतिहास-पुराणों में काल की चर्चा प्राकृतिक तत्त्वों के अन्तर्गत की गयी है। कालतत्त्व को लेकर प्रकृति को पञ्चविंशति तत्त्वात्मिका मानने के ही कारण मान्त्रिकोपनिषद् जीव को छब्बीसवाँ तत्त्व तथा परमात्मा को सत्ताइसवाँ तत्त्व बतलाते हुए कहता है—'तं षड्विंश-मित्याहुः सप्तविंशमथापरे।' अर्थात् औपनिषद्मतावलम्बी जीव को छब्बीसवाँ तथा परमात्मा को सत्ताइसवाँ तत्त्व मानते हैं। यहाँ पर 'अपरे' शब्द की व्युत्पत्ति 'न परे अपरे—औपनिषदा इति यावत्' यह समझनी चाहिए।

अखण्ड काल एक तथा नित्य है। भूत, भविष्यत्, वर्तमान, दिन-रात आदि उसके औपाधिक भेद हैं। काल भी श्रीभगवान् की क्रीडा का साधन है। ईश्वर की दो विभूतियाँ हैं—नित्यविभूति और लीलाविभूति। श्रीभगवान् इन दोनों विभूतियों के स्वामी होने के कारण उभयविभूति नायक कहे जाते हैं। लीलाविभूति में आकर ईश्वर भी काल के अधीन ही कार्यों को करते हैं; किन्तु श्रीभगवान् की नित्यविभूति, जिसे त्रिपाद्विभूति भी कहा जाता है, उसमें काल स्वतन्त्र नहीं है।

षष्ठ अवतार

इस अवतार में श्रीभगवान् की नित्यविभूति का वर्णन किया गया है। 'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' अर्थात् श्रीभगवान् के ऐश्वर्य के एक भाग में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड व्यवस्थित है और 'श्रीभगवान् के ऐश्वर्य का तीन भाग द्युलोक में व्यवस्थित है। यह त्रिपादैश्वर्य अमृत ऐश्वर्य है। इसे ही नित्यविभूति कहते हैं।' यह श्रुति नित्यविभूति का वर्णन करती है। इस नित्यविभूति को ही वैकुण्ठलोक भी कहा जाता है। यह नित्यविभूति शुद्धसत्त्व-मय है। प्रकृति में जो सत्त्वगुण है, वह रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित है; किन्तु नित्यविभूति में जो सत्त्वगुण है, वह रजोगुण एवं तमोगुण के संस्पर्श से रहित है। नित्यविभूति में श्रीभगवान् श्रीदेवी एवं भूदेवी इन दो पत्नियों तथा नित्यमुक्त जीवों के साथ निवास करते हैं। नित्यविभूति के सभी जीव आविर्भूत गुणाष्टक-सम्पन्न होते हैं। नित्यविभूति को पञ्चोपनिषन्मयी कहा गया है। यह श्रीभगवान् की भोगभूमि है तथा श्रीभगवान् के सत्यसंकल्प से ही आविर्भूत गुणाष्टक नित्यमुक्त जीव तत्-तत् भोगों को यहाँ प्राप्त करते हैं। वे श्रीभगवान् का मुखोल्लास करने के लिए ही अनेक शरीरों को भी धारण कर लेते हैं। नित्यविभूति दिव्यविभूति है; अतएव यहाँ पर प्राप्त होने वाले रूप, रस आदि भोग भी दिव्य हैं। उनमें प्राकृत भोगों में पाए जाने वाले दोषों की गन्ध भी नही रहती है। श्रीभगवान् का दिव्यरूप ही सभी का आश्रय है।

सप्तम अवतार

इस अवतार में धर्मभूत ज्ञान का साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है। विशिष्टाद्वैतदर्शन में ज्ञान को धर्मभूतज्ञान शब्द से अभिहित किया जाता है।

इस अभिधान का कारण यह है कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है । उस ज्ञान-स्वरूप आत्मा का धर्म होने के कारण ज्ञान को धर्मभूतज्ञान कहा जाता है । इस धर्मभूतज्ञान को ही बुद्धि, धी, ज्ञान, संवित् तथा मति आदि नामों से भी जाना जाता है ।

धर्मभूतज्ञान अचेतन, स्वयम्प्रकाश, सविषय, सभी द्रव्यों से संयोग के योग्य होने के कारण विभु, प्रभावान् द्रव्य का गुण तथा विषयों का प्रकाशक होता है । यह स्वभावतः नित्य होता है, उसकी संकोचावस्था तथा विकासा-वस्था को ही लेकर यह उसकी उत्पत्ति तथा विनाश आदि का व्यवहार होता है । आत्मा के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन करती हुई श्रुति भी कहती है— 'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात् ।' अर्थात् ज्ञाता आत्मा के ज्ञान का कभी नाश नहीं होता है, क्योंकि ज्ञाता आत्मा नित्य है । विशिष्टा-द्वैतदर्शन में स्वीकार किया जाता है कि ज्ञान स्वयम्प्रकाश तथा स्वतःप्रमाण है । सिद्धान्त में ज्ञान को द्रव्य इसलिए माना जाता है कि वह अवस्थाश्रयी होता है । अवस्थाश्रयी होने के कारण ही ज्ञान की संकोचावस्था तथा विकासावस्था होती है । अवस्थाश्रयत्व ही द्रव्य का असाधारण धर्म है । अतएव धर्मभूतज्ञान में गुणत्व एवं द्रव्यत्व दोनों धर्म पाए जाते हैं । सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि धर्मभूतज्ञान के अवस्थाविशेष हैं ।

भक्ति एवं प्रपत्ति भी ज्ञान के ही अवस्थाविशेष हैं । भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् शरणागत जीवों को मोक्ष प्रदान कर देते हैं । अतएव मोक्ष के साधन रूप से शास्त्रों में जिन ज्ञानयोग-कर्मयोग आदि का निर्देश किया गया है, वे ज्ञानयोग आदि भी भक्ति के द्वारा ही मोक्षावाप्ति के साधन बनते हैं । उस भक्ति के तीन पर्व बतलाए गये हैं—परभक्ति, परज्ञान तथा परमभक्ति ।

उपनिषदों में भगवत्प्राप्ति के साधन रूप से जिन बत्तीस विद्याओं का वर्णन किया गया है, वे भक्ति के ही भिन्न-भिन्न भेद हैं । इन विद्याओं में से किसी एक विद्या की भी प्राप्ति हो जाने पर; जीव के पूर्वाघ का नाश तथा उत्तराघ का संश्लेषाभाव हो जाता है । इस विद्या के ही माहात्म्य से जीव अपने चरमदेह का अवसान होने पर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

अष्टम अवतार

आठवें अवतार में जीवों के स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है । जीव परमात्मा का स्वभावतः शेष, नियाम्य एवं धार्य होते हुए चेतन है; यही उसका स्वरूप है । जीवात्मा के स्वरूप के विषय में विभिन्न वादियों के मतभेद है । देहात्मवादी चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं; इन्द्रियात्मवादी इन्द्रियों को आत्मा मानते हैं; तीसरे प्रकार के चार्वाकमतावलम्बी प्राणों को ही आत्मा

मानते हैं तथा चौथे प्रकार के चार्वाक मन को ही आत्मा मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक क्षणिकविज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। अद्वैती विद्वान् भी ज्ञान (संविद्) को ही आत्मा मानते हैं। किन्तु उनका ज्ञान बौद्धों के ज्ञान के समान अनित्य न होकर नित्य, निर्विकार, एक एवं निर्धर्मक है; इस प्रकार वह कूटस्थ एवं नित्यप्रकाशैकस्वरूप है। वे आत्मा से भिन्न परमात्मा को नहीं मानते हैं। वे मानते हैं कि उपर्युक्त प्रकारक ज्ञान ही वेदान्तवाक्यों के तात्पर्य का विषय है।

विशिष्टाद्वैती दार्शनिकों का कहना है कि बौद्धों के ज्ञानात्मवाद को अद्वैती विद्वानों ने वैदिक रूप दे दिया है। यद्यपि बौद्धों तथा अद्वैती विद्वानों के ज्ञानात्मवाद में यह अन्तर अवश्य है कि बौद्ध क्षणिक ज्ञान को आत्मा मानते हैं और अद्वैती विद्वान् स्थिर ज्ञान को। फिर भी जो दोष बौद्धसम्मत ज्ञानात्मवाद में आते हैं, वे सभी दोष अद्वैतिसम्मत ज्ञानात्मवाद में भी आते ही हैं। साथ ही अद्वैती विद्वानों के ज्ञानात्मवाद में यह सबसे बड़ा दोष है कि वे ज्ञान को निर्धर्मक मानते हैं। किन्तु कोई भी ऐसा ज्ञान उपलब्ध नहीं होता है, जो आश्रय और विषय रहित हो। इस प्रकार अद्वैतीसम्मत ज्ञानात्मवाद अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

आत्मा ज्ञानमात्र नहीं, अपितु ज्ञाता रूप है; इस बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि बादरायण 'ज्ञोऽत एव' (शा० मी० सू० २।३।१९) सूत्र पढ़ते हैं। इस सूत्र में तीन पद हैं—'ज्ञः अतः एव'। 'एव' पद का सम्बन्ध 'ज्ञः' तथा 'अतः' इन दोनों पदों से होता है। 'ज्ञः' के साथ एवकार अन्ययोगव्यावर्तक रूप से अन्वित होता है तथा 'अतः' के साथ वह अयोगव्यावर्तक रूप से अन्वित होता है। इस सूत्र का 'अतः' शब्द पूर्ववर्ती 'नात्मा श्रुतेः' सूत्र के 'श्रुतेः' पद का परामर्शक है। इस प्रकार इस सूत्र का अर्थ होता है कि आत्मा ज्ञानवान् ही है, ज्ञानमात्र नहीं। यह 'ज्ञ एव' का अर्थ हुआ। 'अत एव' शब्द का अर्थ है कि श्रुतियाँ आत्मा के ज्ञातृत्व को बतलाती हैं।

आत्मा को ज्ञातृत्वधर्मावच्छिन्न सिद्ध करते हुए इस सूत्र के 'ज्ञः' पद के शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है—'यो नित्यचैतन्योऽयमात्मात एव' अर्थात् नित्यचैतन्य रूपी गुण वाला ही आत्मा है। 'नित्यं चैतन्यं यस्याऽसौ' यह 'नित्यचैतन्यः' इस पुंल्लिङ्ग पद का विग्रह है।

औपनिषद्-वाक्यों के आलोक में यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने आत्मा को अणु-परिमाण वाला, नित्य तथा अनेक सिद्ध किया है।

विशिष्टाद्वैतदर्शन में जीवों के तीन भेद स्वीकार किये जाते हैं—बद्ध, मुक्त और नित्य। बद्धजीवों के भी दो भेद माने जाते हैं—बुभुक्षु और मुमुक्षु। तथा इन जीवों के भी अवान्तर कई भेद होते हैं। संसारपाश में निगडित संसारी

जीव ही बद्ध कहे जाते हैं। हम सभी बद्धजीवों की कोटि में आते हैं। मुक्तजीव वे हैं, जो श्रीभगवान् की आराधना करके इस संसारचक्र से मुक्ति प्राप्त कर लिए हैं। नित्यजीव श्रीभगवान् की सेवा में सदा संलग्न रहते हैं। जैसे—शेष, गरुड़ इत्यादि।

नवम अवतार

विशिष्टाद्वैतदर्शन की अन्य मान्यताओं के ही समान अर्थपञ्चक विज्ञान की मान्यता भी प्रख्याततम है। इसके अनुसार विशिष्टाद्वैती दार्शनिक ईश्वर के पाँच रूपों को स्वीकार करते हैं। विशिष्टाद्वैतदर्शन में परब्रह्म, नारायण, ईश्वर, परमात्मा, श्रीभगवान् इन सभी शब्दों को समानार्थक माना जाता है। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार श्रीभगवान् के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार, ये पाँच रूप हैं। पररूप से श्रीभगवान् नित्य वैकुण्ठ में अपनी पत्नियों तथा परिजनों के साथ निवास किया करते हैं। सृष्टि का कार्य चलाने के लिए वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध, इन चार व्यूह रूपों को धारण करते हैं। केशवादि द्वादश व्यूहों का भी इन्हीं में अन्तर्भाव होता है। विभवरूप से श्रीभगवान् सज्जन जनता के परित्राण, पापियों के प्रणाश तथा वैदिक धर्म की संस्थापना हेतु इस भूतल पर श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि रूपों से अवतरित होते हैं। अन्तर्यामीरूप से वे सभी जीवों के अन्तःकरण में विराजमान रहकर उनकी रक्षा किया करते हैं। वे अर्चावताररूप से वेङ्कटाचल, श्रीरङ्गम् आदि दिव्य देशों में अवतरित होकर कल्याणकामी जीवों की मनोकामना अपने दिव्यमङ्गलमय विग्रह का दर्शन देकर पूर्ण किया करते हैं।

दशम अवतार

इस अवतार में बतलाया गया है कि अद्रव्यों की संख्या दश हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, संयोग तथा शक्ति। इस प्रकरण में नैयायिकाभिमत चौबीस गुणों का संयोगादि में अन्तर्भाव दिखलाया गया है। कुछ लोग ग्यारहवें अद्रव्य कर्म को भी स्वीकार करते हैं।

उपसंहार ग्रन्थ का स्वरस—इस अंश में बतलाया गया है कि महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा में समस्त चेतनाचेतनविशिष्ट भगवान् श्रीपति को अखिल वेदान्तवेद्य-रूप से बतलाया है। ब्रह्ममीमांसा के प्रथम-द्विक (प्रथम एवं द्वितीय अध्याय) में महर्षि बादरायण ने परमब्रह्म की अखिल-जगत्कारणता का प्रतिपादन करके द्वितीय-द्विक (तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय) में श्रीभगवान् को ही सम्पूर्ण मुमुक्षु जीवों का उपास्य बतलाया है। इसके पश्चात् यतीन्द्रमतदीपिका के उपजीव्य ग्रन्थों की चर्चा की गयी है।

विषय-सूची

मूलस्थ-यतीन्द्रमतदीपिकायाः विषयानुक्रमः

प्रथमोऽवतारः

द्वितीयोऽवतारः

तृतीयोऽवतारः

चतुर्थोऽवतारः

पञ्चमोऽवतारः

षष्ठोऽवतारः

सप्तमोऽवतारः

अष्टमोऽवतारः

नवमोऽवतारः

दशमोऽवतारः

उपसंहारग्रन्थः

यतीन्द्रमतदीपिका की भावप्रकाशिका-व्याख्या में वर्णित प्रमुख विषयों की सूची

प्रथम अवतार

द्वितीय अवतार

तृतीय अवतार

चतुर्थ अवतार

पञ्चम अवतार

षष्ठ अवतार

सप्तम अवतार

अष्टम अवतार

नवम अवतार

दशम अवतार

उपसंहार ग्रन्थ

॥ श्रीः ॥

श्रीनिवासाचार्यविरचिता

यतीन्द्रमतदीपिका

हिन्द्यनुवादेन 'भावप्रकाशिकया' च समन्विता

अथ प्रथमोऽवतारः

मङ्गलाचरणम्

श्रीवेङ्कटेशं करिशैलनाथं श्रीदेवराजं घटिकाद्रिसिंहम्।
कृष्णेन साकं यतिराजमीडे स्वप्ने च दृष्टान्मम देशिकेन्द्रान् ॥ १ ॥

अनुवाद—श्रीवेङ्कटेश भगवान्, श्रीवरदराज भगवान्, घटिकाचल पर विराजमान श्रीनृसिंह भगवान्, श्रीसम्पत् कुमार भगवान् के साथ श्रीरामानुजाचार्य तथा स्वप्न में साक्षात्कृत अपने आचार्यवर्यों की मैं वन्दना करता हूँ।

भावप्रकाशिका

सीतामुखाब्जमवलोकनजीवितः श्रीरामः प्रभुर्विशतमे हृदये दयालुः।
श्री श्रीनिवाससुगुरोर्मधुरा यतोऽद्य, स्युर्व्याकृताः फणितयः प्रथिता जगत्याम् ॥१॥

तस्मै रामानुजार्याय नमः परमयोगिने।
यः श्रुतिस्मृतिसूत्राणमन्तर्ज्वरमशीशमत् ॥ २ ॥

आविश्चकार यतिराजमतार्थदीपिकाम्, दशावतारैः प्रथिताम् मनोहराम्।
यः श्रीमहाचार्यप्रधानशिष्यः तं श्रीनिवासार्यमहं प्रणौमि ॥ ३ ॥

यत्पादपद्मरजसां मधुरैः प्रभावैः चेतांसि यान्ति रहितानि रजस्तमोभिः।
सो विष्वगार्ययतिशेखर अद्य स्यान्मे संरक्षकः स्वकृपया स्ववशीकृतात्मा ॥ ४ ॥

जयताद् देवराहाश्री योगिवर्यो महीतले।
यः स्वकारुण्यभूम्नैव सञ्जीवयति मामपि ॥ ५ ॥

यतीन्द्रमतदीपिकायाः करोति मनोहराम्।
भावप्रकाशिकां व्याख्यां श्रीधरोऽयं सतां मुदे ॥ ६ ॥

ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण की परम्परा शिष्टाचार-प्राप्त है। प्राचीन दार्शनिकों के अनुसार विघ्नविनाशपूर्वक प्रारिप्सित कर्म की परिसमाप्ति ही मङ्गला-

चरण का प्रयोजन है। नवीन दार्शनिक मानते हैं कि मङ्गल का प्रयोजन विद्यमान विघ्न का यथाशक्य विनाश है, ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति तो ग्रन्थकार की शक्ति और प्रतिभा पर निर्भर करती है।

शास्त्रों में श्रीभगवान् के पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार, इन पांच रूपों के वर्णन उपलब्ध होते हैं। यतीन्द्रमतदीपिका के प्रकृत मङ्गलाचरण का प्रारम्भ श्रीनिवासाचार्य श्रीभगवान् के अर्चावताररूपों में प्रख्याततम श्रीवेङ्कटेश भगवान् की स्तुति से करते हैं। वेङ्कटगिरि पर विद्यमान श्रीवेङ्कटेश भगवान् के विषय में कहा है—'कलौ वेङ्कटनायकः।' अर्थात् कलियुग के कल्याणकामियों को चाहिये कि वे आत्मोज्जीवनार्थ श्रीवेङ्कटेश भगवान् की आराधना करें। नव दिव्य-सूरियों ने अपने दिव्य प्रबन्धों में श्रीवेङ्कटेश भगवान् का मङ्गलानुशासन किया है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने अपने मङ्गलाचरण में श्रीवेङ्कटेश भगवान् के पश्चात् काञ्चीपुरम् के श्रीवरदराज भगवान् की वन्दना की है। काञ्चीपुरम् का दूसरा नाम करिशैल है। संभवतः यह नगरी करिशैल के ऊपर अवस्थित है। यहां पर ब्रह्माजी ने कभी अश्वमेध याग किया था और उस अश्वमेध याग की यज्ञवेदी से ही वरदराज भगवान् आविर्भूत हुए थे। यादवप्रकाशाचार्य की सन्निधि में अध्ययनकाल में भगवान् रामानुजाचार्य ने श्रीमद्यामुनाचार्य के स्निग्ध शिष्य श्रीकाञ्चीपूर्ण स्वामी के आदेश से भगवान् वरदराज की बहुत दिनों तक जल सेवा की थी। स्वयम् भगवान् श्रीवरदराज ने रामानुजाचार्य की रक्षा यादवप्रकाशाचार्य के षड्यंत्र से की थी। श्रीवरदराज भगवान् का एक नाम देवराज भी है।

तदनन्तर श्रीनिवासाचार्य ने अपने मङ्गलाचरण में भगवान् के अर्चावताररूप श्रीनृसिंह भगवान् की स्तुति की है। श्रीनृसिंह भगवान् घटिकाचल पर विराज-मान हैं।

इस मङ्गलाचरण में आपने भगवान् के चौथे अर्चावतार रूप श्रीसम्पत्कुमार भगवान् के साथ भगवत्पाद रामानुजाचार्य को स्मरण किया है। श्रीसम्पत्कुमार भगवान् यादवाद्रि पर विद्यमान हैं। भगवत्पाद रामानुजाचार्य ने श्रीसम्पत्कुमार भगवान् को अपने पुत्र रूप में अपनाया था और वे सर्वदा अपने साथ सम्पत्कुमार भगवान् के विग्रह को अर्चामूर्ति के रूप में रखते थे। उन्हीं को ग्रन्थकार ने कृष्ण शब्द से अभिहित किया है।

यह प्रसिद्धि है कि पूर्वाचार्यों ने स्वप्न में श्रीनिवासाचार्यजी को दर्शन देकर इस यतीन्द्रमतदीपिका नामक ग्रन्थ का प्रणयन करने के लिए प्रेरित किया था। उन्हीं की प्रेरणा से श्रीनिवासाचार्यजी ने इस ग्रन्थ का प्रणयन करके सरलतम तथा सुबोध भाषा में कम से कम शब्दों में गम्भीर से गंभीर भावों को अभिव्यक्त करने का पूर्ण सफल प्रयास किया है। दश अवतारों में निबद्ध यह ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत दर्शन के जिज्ञासुओं के लिए इस दर्शन में प्रवेश प्राप्त करने का मुख्य द्वार है। इस अकेले

ग्रन्थ के माध्यम से विशिष्टाद्वैत दर्शन के मान्य सिद्धान्तों को बड़ी आसानी से जाना जा सकता है।

यतीश्वरं प्रणम्याहं वेदान्तार्यं महागुरुम्।
करोमि बालबोधार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाम् ॥ २ ॥

अनुवाद—यतिराज श्रीरामानुजाचार्य तथा अपने परमगुरु श्रीवेदान्तदेशिक तथा श्रीमहाचार्य को प्रणाम करके वेदान्तशास्त्र में प्रविविक्षु जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए यतीन्द्रमत-दीपिका नामक प्रकरण-ग्रन्थ का प्रणयन कर रहा हूँ।

भा० प्र०—'यथा देवे तथा गुरौ' इस श्रुति के अनुसार इस श्लोक में ग्रन्थकार अपने आचार्यों की स्तुति करते हैं। रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतदर्शन के भाष्यकार के रूप में प्रख्यात हैं। श्रीनिवासाचार्य श्रीमन्महाचार्य के प्रथम तथा प्रधान शिष्य है। आपने श्रीवेदान्तदेशिक के न्यायपरिशुद्धि नामक ग्रन्थ की विस्तृत व्याख्या की है। श्रीमन्महाचार्य ने वेदान्तदेशिक के प्रख्यात ग्रन्थ 'शतदूषणी' की चण्डमारुत नाम की व्याख्या की है। श्रीमन्महाचार्य श्रीवेदान्ताचार्य के साक्षात् शिष्य थे; अत एव आप श्रीनिवासाचार्य के परमगुरु थे।

तत्त्वैक्यस्य प्रतिज्ञा

श्रीमन्नारायण एव चिदचिद्विशिष्टोऽद्वैतं[1] तत्त्वम्, भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्नस्स एवोपायः, अप्राकृतदेशविशिष्टस्स एव प्राप्यः इति वेदान्तवाक्यैः प्रतिपादयतां व्यासबोधायनगुहदेवभारुचिब्रह्मनन्दिद्रमिडाचार्यश्रीपराङ्कुशनाथयामुनमुनियतीश्वरप्रभृतीनां मतानुसारेण बालबोधनार्थं वेदान्तानुसारिणी यतीन्द्रमतदीपिकाख्या शारीरकपरिभाषा महाचार्यकृपावलम्बिना मया यथामति सङ्ग्रहेण प्रकाश्यते।

अनुवाद—चेतन तथा अचेतन तत्त्वों से विशिष्ट श्रीमन्नारायण ही अद्वैत तत्त्व हैं। भक्ति एवं प्रपत्ति नामक साधनों से प्रसन्न होकर वे ही (अपनी प्राप्ति में) साधन बन जाते हैं। दिव्य वैकुण्ठलोक में रहकर वे ही सभी जीवों के लिए प्राप्य हैं। इस अर्थ का वेदान्तवाक्यों के आलोक में प्रतिपादन करने वाले व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मानन्द, द्रमिडाचार्य श्रीशठकोपसूरि, नाथमुनि, यामुनाचार्य तथा रामानुजाचार्य आदि के मतानुसार वेदान्तशास्त्र में प्रवेश पाने की इच्छा वाले बालकों के ज्ञानार्थ, वेदान्तचार्य का कृपापात्र मैं (श्रीनिवासाचार्य) वेदान्त (उपनिषदों) का अनुसरण करने वाली यतीन्द्रमत-दीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का अपनी बुद्धि के अनुसार प्रणयन कर रहा हूँ।

---

१. चिदचिद्विशिष्टाद्वैततत्त्वम्।

भा० प्र०—भगवान् नारायण ही तत्त्व हैं—महाभारत के मोक्षधर्म नामक प्रकरण में कहा गया है कि—

'तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः ।
तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः प्रभुः ॥'

इस वाक्य के अनुसार स्पष्ट है कि तत्त्व एक ही है । श्लोक का अभिप्राय है कि सार्वभौम हेतुओं के आधार पर तत्त्वजिज्ञासा से विचार करने वाले विद्वानों को इसी निर्णय पर पहुँचना पड़ता है कि सम्पूर्ण जगत् के स्वामी महायोगी नारायण ही एकमात्र तत्त्व हैं । न्यायनिबन्धनात्मिका शारीरक-मीमांसा में किया गया विचार ही इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में निर्दिष्ट है । अत एव एकतत्त्ववाद ही शारीरक-मीमांसा का अभिप्रेत अर्थ सिद्ध होता है । उसी तत्त्व को श्रीमन्नारायण शब्द से अभिहित किया गया है । यहाँ पर श्रीमन्नारायण को मूल में 'चिदचित्प्रकारकविशिष्टाद्वैतं तत्त्वम्' कहा गया है ।

विशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ—विशिष्टाद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'द्वयोर्भावो द्विता । द्वितैव द्वैतम् । न द्वैतमद्वैतम् । विशिष्टञ्चेदमद्वैतं विशिष्टाद्वैतम् । वैशिष्ट्यञ्च चिदचिदोः शरीरशरीरीभावसम्बन्धेन ।' कहने का अभिप्राय है कि शास्त्रों के अनेक वाक्य हैं, जो सम्पूर्ण जगत् को श्रीभगवान् का शरीर बतलाकर श्रीभगवान् को जगत् की आत्मा बतलाते हैं । जैसे—'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह छान्दोग्य श्रुति बतलाती है कि इस सम्पूर्ण जगत् की आत्मा परमब्रह्म है । 'यस्य आत्मा शरीरम्' अर्थात् यह जीवात्मा जिस परमात्मा का शरीर है । 'यस्य पृथिवी शरीरम्' जिसका पृथिवी शरीर है । 'य आत्मानमन्तरो यमात्मान वेद यस्यात्मा शरीरम्' अर्थात् जो परमब्रह्म इस आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे आत्मा नहीं जानती । आत्मा जिसका शरीर है । 'जगत् सर्वं शरीरं ते ।' अर्थात् हे भगवन् (श्रीराम) ! यह सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है । 'तत्सर्वं वै हरेस्तनुः' सम्पूर्ण जगत् श्रीहरि का शरीर है । इस तरह सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक जगत् परमब्रह्म का शरीर सिद्ध होता है । शरीर होने के कारण जगत् ब्रह्म का उसी तरह विशेषण है, जिस तरह हम लोगों का शरीर हम लोगों का विशेषण है । जिस तरह शरीर-विशिष्ट स्वरूप को हम लोग 'मैं' 'मैं' इस रूप से अनुभव करते हैं, उसी तरह परमब्रह्म भी चेतनाचेतनविशिष्ट अपने स्वरूप को 'मैं' (अहम्) इस रूप से अनुभव करता है । अतएव वह 'अहम् बहु स्याम' इस प्रकार से सृष्टि के प्रारम्भ में सत्य संकल्प करता है ।

हम लोगों को चेतनाचेतनात्मक जगत् परमब्रह्म का शरीर नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि हम लोग जिन प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों के आधार पर चेतनाचेतन पदार्थ को समझते हैं, उन प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों के द्वारा श्रीभगवान् को नहीं जाना जा सकता है । श्रीभगवान् तो शास्त्रैकसमधिगम्य हैं । उनके विषय में प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों की गति नहीं है । परब्रह्म के प्रत्यक्ष एवं अनुमान का अविषय होने

के ही कारण प्रत्यक्ष एवं अनुमान के विषयभूत चेतनाचेतनात्मक जगत् परब्रह्म का शरीर नहीं प्रतीत होता है। परब्रह्म शास्त्रों के विषय हैं, अतएव शास्त्रों से सिद्ध होता है कि जगत् परब्रह्म का शरीर है और परब्रह्म जगत् की आत्मा हैं।

श्रीभगवान् की प्रसन्नता के साधन—'भक्तिप्रपत्तिभ्याम्०' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया है कि श्रीभगवान् ही जीवों के परम प्राप्य हैं। किन्तु श्रीभगवान् की प्राप्ति के साधन उनकी प्रसन्नता है। अपने प्रयासों द्वारा उनको प्राप्त करना कठिन है। वे जिस पर प्रसन्न हो जाते हैं उसको प्राप्त हो जाते हैं। काठकश्रुति कहती है—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' अर्थात् जिसको परमात्मा अपना लेता है उसीको वह प्राप्त होता है। अतएव परमात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयास न करके उसकी प्रसन्नता के लिए प्रयास करना चाहिए। श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए दो साधन हैं—भक्ति एवं प्रपत्ति। इन दोनों से ही श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर अपनी प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त कर देते हैं। गीता में वे स्वयं कहते हैं—

'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥'

अर्थात् जो जीव तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तान रूप प्रीतिपूर्वक सदा मेरे स्वरूप रूपैश्वर्यादि का चिन्तन किया करते हैं, उनको मैं ऐसी बुद्धि का योग दे देता हूँ कि वे मेरे सन्निकट में पहुँच जाते हैं।

भगवान् ही जीवों के प्राप्य हैं—'अप्राकृतदेशविशिष्टः' इत्यादि वाक्य से बतलाया गया है कि दिव्य श्रीवैकुण्ठलोक में रहने वाले श्रीभगवान् ही जीवों के लिए प्राप्य हैं। इसीलिए विष्णुसहस्रनाम में भीष्म कहते हैं–'मुक्तानां परमागतिः।' अर्थात् भगवान् ही मुक्त जीवों के लिए परम प्राप्य हैं। महर्षि बादरायण 'मुक्तोपसृत्य व्यपदेशाच्च' सूत्र में भी कहते हैं कि श्रुतियाँ बतलाती हैं कि परमब्रह्म मुक्तजीवों का प्राप्य है। इस अर्थ का वेदान्तवाक्यों के आलोक में प्रतिपादन करने वाले आचार्यों की नामावली का निर्देश ग्रन्थकार व्यास बोधायन इत्यादि वाक्य से करते हैं।

यतीन्द्रमत-दीपिका का दूसरा नाम ग्रन्थकार ने शारीरक-परिभाषा बतलाया है। चेतनाचेतनात्मक जगत् परमब्रह्म का शरीर है, अतएव 'जगत् शरीरमस्ति अस्य' इस अर्थ में 'शारीरः' पद बनता है। शारीर का अर्थ है परमात्मा। उस जगत् रूप शरीर वाले ब्रह्म का वर्णन करने के कारण 'शरीरं कायति=गायति=वर्णयति' इस अर्थ में शारीरक पद से वेदान्तशास्त्र का अभिधान होता है। इस तरह इस ग्रन्थ का दूसरा नाम वेदान्त-परिभाषा भी है।

पदार्थसमुद्देशः

सर्वं पदार्थजातं प्रमाणप्रमेयभेदेन द्विधा भिन्नम्। प्रमाणानि त्रीण्येव। प्रमेयं द्विविधम्—द्रव्याद्रव्यभेदात्। द्रव्यं द्विविधम्—जडमजडं चेति। जडं च द्विविधम्—प्रकृतिः कालश्चेति। प्रकृतिश्चतुर्विंशतितत्त्वात्मिका। कालस्तु

उपाधिभेदेन त्रिविधः। अजडं तु द्विविधम्—पराक् प्रत्यक् चेति। परागपि द्विधा—नित्यभूतिः धर्मभूतज्ञानं चेति। प्रत्यगपि द्विविधः-जीवेश्वर-भेदात्। जीवस्त्रिविधः—बद्धमुक्तनित्यभेदात्। बद्धोऽपि द्विविधः—बुभुक्षु-मुमुक्षुभेदात्। बुभुक्षुर्द्विविधः—अर्थकामपरो धर्मपरश्चेति। धर्मपरो द्विविधः—देवतान्तरपरो भगवत्परश्चेति। मुमुक्षुर्द्विविधः—कैवल्यपरो मोक्षपरश्चेति। मोक्षपरो द्विविधः—भक्तः प्रपन्नश्चेति। प्रपन्नश्च द्विविधः—एकान्ती परमैकान्ती चेति। परमैकान्ती द्विविधः—दृप्तार्तभेदात्।

ईश्वरः पञ्चधा—परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतारभेदात्। पर एकधा। व्यूहश्चतुर्धा—वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धभेदात्। केशवादि व्यूहान्तर-मत्रैवान्तर्भवति। मत्स्यादयो विभवाः पुनरनन्ताः। अन्तर्यामी प्रतिशरीर-मवस्थितः। अर्चावतारस्तु श्रीरङ्गवेङ्कटाद्रिहस्तिगिरियादवाद्रिघटिका-चलादिषु सकलमनुजनयनविषयतां गतो मूर्तिविशेषः। अद्रव्यं तु सत्त्व-रजस्तमश्शब्दस्पर्शरूपरसगन्धसंयोगशक्तिभेदाद्दशधैव।

अनुवाद—सम्पूर्ण पदार्थ-समूह को दो भागों में विभक्त किया जाता है—प्रमाण एवं प्रमेय। प्रमाण तीन ही हैं। प्रमेय दो प्रकार के हैं—द्रव्य एवं अद्रव्य। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—जड़ एवं अजड़। जड़ भी दो प्रकार के हैं—प्रकृति एवं काल। प्रकृति चौबीस तत्त्वों वाली हैं। काल तो उपाधि के भेद से तीन प्रकार का होता है। अजड़ भी दो प्रकार के होते हैं—पराक् एवं प्रत्यक्। पराक् भी दो प्रकार के होते हैं—नित्यविभूति एवं धर्मभूतज्ञान। प्रत्यक् भी दो प्रकार के हैं—जीव एवं ईश्वर। बद्ध, मुक्त एवं नित्य के भेद से जीव तीन प्रकार के होते हैं। बद्ध (जीव) भी दो प्रकार के होते हैं—बुभुक्षु एवं मुमुक्षु। बुभुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—अर्थ एवं काम को चाहने वाले तथा धर्म को चाहने वाले। धर्मपरक जीव भी दो प्रकार के होते हैं—देवतान्तरपरक एवं भगवत्परक। मुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—कैवल्य चाहने वाले तथा मोक्ष चाहने वाले। मोक्षपरक जीव भी दो प्रकार के होते हैं—भक्त एवं प्रपन्न। प्रपन्नमुमुक्षु भी दो प्रकार के होते हैं—एकान्ती एवं परमैकान्ती। परमैकान्ती जीव भी दो तरह के होते हैं—दृप्त एवं आर्त। ईश्वर के पाँच रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी एवं अर्चावतार। पर रूप से ईश्वर एक ही प्रकार का है। व्यूह रूप से वह चार प्रकार का है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। केशव आदि जो द्वादश व्यूह हैं, उनका भी इन्हीं चार व्यूहों में अन्तर्भाव हो जाता है। विभव रूप से ईश्वर के मत्स्य आदि अनन्त भेद हैं। अन्तर्यामी रूप से ईश्वर सभी शरीरों के भीतर अन्तरात्मा रूप से विद्यमान है। अर्चावतार तो श्रीरङ्गम्, वेङ्कटाद्रि, हस्तिगिरि, यादवाद्रि, घटिकाचल आदि तत्तत् दिव्य देशों में सभी मनुष्यों द्वारा दर्शन किये जाने वाले रङ्गनाथ, वेङ्कटेश आदि मूर्तिविशेष को ही कहा जाता है।

अद्रव्य तो दस प्रकार के ही हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग तथा शक्ति।

भा० प्र०—इस पदार्थ-विभाग के द्वारा ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन में वैशेषिकाभिमत सप्तपदार्थी अथवा नैयायिकाभिमत षोडशपदार्थी को स्वीकार न करके द्विपदार्थी सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रख्यात व्याख्याता श्रीवेदान्तदेशिक ने भी पदार्थों का विभाग इसी प्रकार से करते हुए तत्त्वमुक्ताकलाप के जड़द्रव्यसर में कहा हैं—

'द्रव्याद्रव्यप्रभेदान् मितमुभयविधं तद्विदस्तत्त्वमाहुः,
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जडमजडमिति प्राच्यमव्यक्तकालौ।
अन्त्यं प्रत्यक् पराक् च प्रथममुभयधा तत्र जीवेशभेदात्,
नित्या भूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह जडामादिमां केचिदाहुः॥'

इस श्लोक में वेदान्तदेशिक ने तत्त्व शब्द के द्वारा पदार्थ को बतलाकर कहा है कि पदार्थवेत्ताओं के अनुसार उसके दो भेद हैं—द्रव्य और अद्रव्य। द्रव्य के भी दो भेद हैं—जड़ और अजड। जड़ द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं—अव्यक्त एवं काल। अजड़ द्रव्य भी दो प्रकार के होते हैं—प्रत्यक् एवं पराक्। प्रत्यक् भी दो प्रकार के होते हैं—जीव एवं ईश्वर। पराक् भी दो प्रकार के होते हैं—नित्यविभूति एवं धर्मभूतज्ञान। इनमें नित्यविभूति को कुछ लोग जड द्रव्य के अन्तर्गत मानते हैं। तत्त्वमुक्ताकलाप के इसी पदार्थ-विभाजन का विस्तृत रूप है यतीन्द्रगतदीपिकाकार का यह पदार्थों का समुद्देश। इस अनुच्छेद में कई पारिभाषिक शब्द आये हैं, उनका विवरण निम्न प्रकार का है—

द्रव्य का लक्षण—उपादानत्व है। जो उपादान होता है वही द्रव्य कहलाता है। जिसकी अवस्थाएँ होती हैं वह उपादान कहलाता है। 'अवस्थाश्रयत्वम् उपादानत्वम्।' वस्तु के आगन्तुक एवं अपृथक् सिद्ध धर्म को अवस्था कहते हैं। जो उपादान न हो उस वस्तु को **अद्रव्य** कहते हैं।

जड—उस द्रव्य को कहते हैं, जो किसी ज्ञान का विषय बनने पर ही प्रकाशित हो।

अजड—द्रव्य अपने प्रकाश के लिए प्रकाशकान्तर की अपेक्षा नहीं रखते हैं, वे स्वयम् प्रकाशित होते हैं। प्रकृति के चौबिस तत्त्व ये हैं—प्रकृति, महान्, अहङ्कार, पांच तन्मात्राएँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, मन एवं पञ्चमहाभूत।

प्रत्यक् द्रव्य—'आत्मानं प्रति अञ्चति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अपने लिए तथा स्वयम् प्रकाशित होते हैं। पराक् द्रव्य स्वयम्प्रकाश तो होते हैं, किन्तु वे अपने लिए प्रकाशित नहीं होते हैं। 'परस्मै अञ्चति' यह पराक् शब्द की व्युत्पत्ति है। अत एव—'स्वस्मै भासमानत्वम्' तथा 'परस्मै भासमानत्वम्' क्रमशः प्रत्यक एवं पराक् के

लक्षण हैं। काल के औपाधिक भेद—भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् हैं। नित्यविभूति वैकुण्ठलोक का एक नाम है। धर्मभूतज्ञान बुद्धि को कहते हैं। भोग को चाहने वाले जीवों को बुभुक्षु तथा मोक्ष को चाहने वाले जीवों को मुमुक्षु कहते हैं।

कैवल्यपरक—वे जीव होते हैं, जो प्रकृति के बन्धन से विनिर्मुक्त होकर आत्मानुभव करना चाहते हैं। मोक्षपरक जीव संसार के बन्धन से मुक्त होकर परमानन्द-स्वरूप परब्रह्म का अनुभव करना चाहते हैं।

प्रपन्न—जीव वे हैं, जो एकमात्र श्रीभगवान् को ही अपना रक्षक मानते हैं।

ईश्वर के पाँच रूपों का प्रतिपादन करते हुए आगम ग्रन्थों में कहा गया है—

'मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।
परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्॥
अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः।
इत्येवं पञ्चधा प्राहुः मां रहस्यविदो जनाः॥'

अर्थात् रहस्यों के जानकार तथा वेदान्तशास्त्र के पारंगत विद्वान् मेरे निम्न प्रकार के पाँच रूपों को बतलाते हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा दयालु एवं पुरुषाकार वाला अर्चावतार। तत्त्वत्रयकार भी ईश्वर के पाँच रूपों का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—'ईश्वररूपञ्च—परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतारभेदेन पञ्चविधम्' (तत्त्वत्रयम् ३।३४)।

उद्दिष्टपदार्थानां लक्षणपरीक्षायाः प्रतिज्ञा

एवमुद्दिष्टानामुद्देशक्रमेण लक्षणपरीक्षे क्रियेते।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार से निर्दिष्ट पदार्थों के निर्देश क्रम से उनका लक्षण तथा लक्षणों की परीक्षा की जा रही है।

भा० प्र०—ऊपर के अनुच्छेद में पदार्थों का विस्तृत विभाग प्रस्तुत किया गया है।

उद्देश पदार्थ—पदार्थों के नाम को गिनाना ही उद्देश कहलाता है—'नाम्ना पदार्थसङ्कीर्तनम् उद्देशः।' उद्देश के अन्तर्गत उनके स्वरूपादि की कोई भी चर्चा नहीं की जाती है, केवल उनका नाम गिना दिया जाता है। उपर्युक्त उद्दिष्ट पदार्थों के लक्षण तथा उन लक्षणों की परीक्षा की प्रतिज्ञा इस पंक्ति में ग्रन्थकार करते हैं—

लक्षण पदार्थ—किसी भी वस्तु का असाधारण धर्म ही उसका लक्षण कहलाता है 'असाधारणधर्मो लक्षणम्' असाधारण धर्म वह धर्म है, जो उससे भिन्न पदार्थों में न पाया जाय। उसी धर्म के द्वारा वह वस्तु स्वेतर समस्त वस्तुओं से भिन्न प्रतीत होती है। वस्तु का जो लक्षण किया गया है वह लक्षण ठीक है कि नहीं, इस प्रकार का विचार ही परीक्षा कहलाता है। परीक्षा के अन्तर्गत देखा जाता है कि इस लक्षण-वाक्य में कहीं कोई दोष तो नहीं है। निर्दुष्ट लक्षण ही परीक्षकों की गोष्ठी में समादृत होता है, अत एव लक्षणों की परीक्षा आवश्यकीय होती है।

प्रमाणलक्षणम्

तत्र--प्रमाकरणं प्रमाणम् । प्रमाणं लक्ष्यम् । प्रमाकरणत्वं लक्षणम् ।

अनुवाद—प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं । इस वाक्य में लक्ष्य प्रमाण है तथा लक्षण प्रमाकरणत्व है ।

भा० प्र०—जिसका लक्षण बतलाया जाता है, उसको लक्ष्य कहा जाता है तथा लक्ष्य पदार्थ का जो असाधारण धर्म होता है, उसे लक्षण कहा जाता है । 'असाधारण-धर्मो लक्षणम् ।' असाधारण धर्म वह होता है, जो लक्ष्यतावच्छेदक समनियत होता है । यहाँ लक्ष्य प्रमाण है, अतएव प्रमाण में लक्ष्यता है तथा लक्ष्यतावच्छेदक हुआ प्रमाणत्व, अतएव जहाँ-जहाँ प्रमाणत्व होगा वहाँ-वहाँ प्रमाकरणत्व अवश्य रहेगा । प्रकृत वाक्य में लक्ष्य प्रमाण है । प्रमाण का लक्षण है—प्रमा का करण होना । किसी भी वस्तु के अनेक कारण होते हैं । उन सभी कारणों के द्वारा कार्य किया जाता है । जैसे—घट के चक्र, चीवर, दण्ड, मृत्पिण्ड, कुलाल आदि अनेक कारण हैं और इन सभी कारणों से घट निर्वर्तित होता है । किन्तु कार्य के सम्पादक कारणों में जो सर्वोत्कृष्ट कारण होता है, उसे ही करण कहते हैं । 'प्रकृष्टं कारणं करणम् ।' महर्षि पाणिनि ने करण को साधकतम कहा है—'साधकतमं करणम्' अर्थात् जिसका प्रयोग होते ही शीघ्र ही कार्य पूर्ण हो जाय, उसे करण अथवा साधकतम कहते हैं । इस तरह सिद्ध है कि प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं । अर्थात् प्रमाण प्रमा का साधकतम है ।

प्रमालक्षणम्

यथावस्थितव्यवहारानुगुणं ज्ञानं प्रमा । प्रमा लक्ष्यम् । यथावस्थित-व्यवहारानुगुणज्ञानत्वं लक्षणम् । ज्ञानं प्रमेत्युक्ते शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानेऽतिव्याप्तिः । अत उक्तं व्यवहारानुगुणमिति । एवमपि तत्रैवाति-व्याप्तिः—भ्रान्तिदशायामिदं रजतमिति व्यवह्रियमाणत्वात् । अत उक्तं यथावस्थितेति । यथावस्थितपदेन संशयान्यथाज्ञानविपरीतज्ञानव्यावृत्तिः । धर्मिग्रहणे मिथो विरुद्धानेकविशेष(स्म)स्फुरणं संशयः । यथा ऊर्ध्वता-विशिष्टे (धर्मिणि) स्थाणुर्वा पुरुषो वेति ज्ञानम् । अन्यथाज्ञानं नाम धर्मविपर्यासः । यथा—कर्तृत्वेन भासमाने आत्मनि कुयुक्तिभिः कर्तृत्वस्य भ्रान्तत्वोपपादनम् । विपरीतज्ञानं नाम धर्मिविपर्यासः । यथा—वस्तुनो वस्त्वन्तरज्ञानम् ।

अनुवाद—जो वस्तु जैसी है, उसके उसी प्रकार के व्यवहार के अनुकूल जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान को प्रमा कहते हैं । इस वाक्य में प्रमा लक्ष्य है तथा यथावस्थित-व्यवहारानुकूलज्ञानत्व उसका लक्षण है । ज्ञान को ही प्रमा मानने पर शुक्ति को देखकर यह रजत है, इस प्रकार का जो भ्रमज्ञान होता है, उसमें प्रमा की अतिव्याप्ति होने लगती, अतएव व्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहा गया । किन्तु सीपी को

रजत समझकर उसे उठाने आदि का व्यवहार होता है, अतः शुक्तिरजत-ज्ञानस्थल में प्रमा की अतिव्याप्ति रह ही गयी। इसीलिए यथावस्थित व्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहा गया। यथावस्थित पद के प्रयोग के द्वारा प्रमा की संशय, अन्यथाज्ञान तथा विपरीतज्ञान, इन तीनों प्रकार के ज्ञानों से भिन्नता सिद्ध हो गयी। जहाँ पर किसी भी वस्तु में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म प्रतीत होते हैं, वह ज्ञान संशय कहलाता है। जैसे अन्धेरे में किसी ऊँची वस्तु को देखकर यह ठूंठा वृक्ष (स्तम्भ) है या कोई आदमी है, इस प्रकार के अनिश्चय गर्भ अनेक प्रकार के धर्म प्रतीत होने लगना ही संशय है। किसी वस्तु के धर्म को दूसरे प्रकार का समझना ही अन्यथाज्ञान है। जैसे कर्तारूप से आत्मा की प्रतीति होती है, फिर भी कुयुक्ति के द्वारा आत्मा के कर्तृत्व को भ्रमजन्य सिद्ध करना अन्यथाज्ञान है। किसी वस्तु को ही उल्टा समझ लेना विपरीत-ज्ञान है। जैसे भैंस को अश्व समझ लेना।

भा० प्र०—प्रमा का लक्षण—सामान्यतः ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—प्रमा एवं अप्रमा। इस प्रमा को लक्षित करते हुए कहा गया है—'यथा-वस्थितव्यवहारानुगुणं ज्ञानम्।' किसी भी वस्तु को दो प्रकार से जाना जा सकता है, जो वस्तु जैसी है उसको ठीक-ठीक उसी प्रकार से जानना तथा उसको उस प्रकार का न जानकर उससे भिन्न प्रकार का अथवा भिन्न रूप से जानना। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि यदि ज्ञानमात्र को प्रमा माना जाय तो भ्रम भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। अत एव वह भी प्रमा कहलाने लग जायेगा। यदि व्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहा जाय तो भी जो व्यक्ति चाकचिक्य आदि दोषों के कारण सीपी को रजत समझ लेता है, वह उसे उठाने का व्यवहार भी करता है, अत एव वह ज्ञान भी व्यवहारानुगुण ज्ञान हुआ। फलतः भ्रमस्थल में ही पुनः प्रमा की अतिव्याप्ति होगी। इस अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए कहा गया यथावस्थित व्यवहारानुकूल ज्ञान को प्रमा कहते हैं। सीपी रजत नहीं है। सीपी को सीपी समझकर व्यवहार करना ही यथा-वस्थित व्यवहारानुकूल ज्ञान कहलायेगा और इस प्रकार का ज्ञान ही प्रमा कहलाता है। संशयज्ञान, अन्यथाज्ञान तथा विपरीतज्ञान भी यथावस्थित व्यवहारानुकूल ज्ञान नहीं है। अतएव इनमें भी अब प्रमा की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।

संशयज्ञान—में वस्तु के स्वरूप का निर्णय नहीं हो सकने के कारण उसको अनेक प्रकार की प्रतीति होती है। जैसे अन्धकार में किसी ऊँचे आकार वाली वस्तु को देखकर मनुष्य को जब यह प्रतीत होने लग जाय कि यह क्या है? कोई चोर तो नहीं खड़ा है? या यह कोई स्तम्भ है? इसी प्रकार के ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं।

अन्यथाज्ञान—में वस्तु का धर्म ही दूसरे प्रकार का प्रतीत होने लग जाता है। श्रुतियाँ आत्मा को स्वभावतः कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व आदि धर्मों से विशिष्ट बतलाती हैं। 'एष हि द्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्रश्नोपनिषद् ४।९)। श्रुति आत्मा के द्रष्टृत्व, श्रोतृत्व, घ्रातृत्व, आस्वादयितृत्व,

मननकर्तृत्व, कर्तृत्व तथा ज्ञानाश्रयत्व आदि गुणों को बतलाती है। 'एष आत्मापहत पाप्मा विजरो विमृत्युरविशोकोऽविजिघत्सोऽविपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।' यह छान्दोग्योपनिषद् की पुरुषविद्या की श्रुति जीव की स्वाभाविक गुणाष्टक सम्पन्नता को बतलाती है। प्रत्यक्षतः भी आत्मा के कर्तृत्व आदि गुणों को देखा जाता है। महर्षि बादरायण 'ज्ञोऽत एव' (शा० मी० २।३।१९) सूत्र में आत्मा के स्वाभाविक ज्ञातृत्व धर्म को बतलाते हैं; किन्तु कुछ दार्शनिक आत्मा के ज्ञातृत्व आदि धर्मों को अपनी कुयुक्तियों के बल पर भ्रमजन्य सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। आत्मा में ज्ञातृत्व को भ्रान्तिजन्य जानना ही उनका अन्यथाज्ञान है।

विपरीत ज्ञान—उसे कहते हैं, जहाँ पर किसी वस्तु को दूसरीं वस्तु समझ लिया जाता है। अश्व को महिष समझ लेना विपरीतज्ञान है। जीव को ही ब्रह्म समझ लेना विपरीतज्ञान है।

लक्षणस्य दोषत्रयम्

लक्षणस्य त्रीणि दूषणानि सन्ति—अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति। लक्ष्यैकदेशे लक्षणस्यावर्तनमव्याप्तिः। लक्ष्यादन्यत्र वर्तमानत्वमतिव्याप्तिः। लक्ष्ये क्वाप्यवर्तनमसम्भवः। यथा—जीवो गुणत्रयवश्यः इत्युक्ते अव्याप्तिः, ज्ञानगुणक इत्युक्ते अतिव्याप्तिः, चक्षुर्विषयो जीव इत्युक्तेऽसम्भव एव। अत्रोक्तदूषणत्रयाभावात् प्रमालक्षणं सुस्थम्।

अनुवाद—लक्षण में पाये जाने वाले तीन दोष हैं—अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। लक्षण का समग्र लक्ष्य में समन्वित न होकर लक्ष्य के किसी अंशविशेष-मात्र में चरितार्थ होना ही उसका अव्याप्ति दोष है। लक्षण का लक्ष्य तथा लक्ष्य से भिन्न स्थल में भी समन्वित होने को उसका अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। लक्षण का लक्ष्य के किसी भी अंश में समन्वित नहीं होने को असम्भव दोष कहते हैं। जैसे—जीव को गुणत्रय का वशवर्ती बतलाना अव्याप्तिदोषग्रस्त है। जीव को ज्ञानाश्रय बतलाना अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है। जीव को चक्षुरिन्द्रिय का विषय बतलाना असम्भव दोष से ग्रस्त है। उपर्युक्त तीनों में से किसी भी प्रकार का दोष न होने के कारण यह प्रमा का लक्षण निर्दुष्ट है।

भा० प्र०—'गुणत्रयवश्यो जीवः' कहना इसलिए अव्याप्तिग्रस्त है कि केवल बद्ध जीव ही गुणत्रय (प्रकृति) के परतन्त्र होते हैं। मुक्त तथा नित्य जीव प्रकृति से परे होते हैं। अतएव मुक्त जीवों तथा नित्य जीवों में गुणत्रयवश्यता न होने के कारण यह जीव का अव्याप्त लक्षण है। ज्ञानाश्रयत्व जीव का इसलिए अतिव्याप्त लक्षण है कि जीव के ही समान ईश्वर भी ज्ञानाश्रय है। अतएव यह लक्षण जीव के ही साथ-साथ ईश्वर में भी समन्वित होता है। जीव का चाक्षुषत्व लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त है, क्योंकि जीव कभी चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता ही नहीं है। वह तो अतीन्द्रिय है। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' (म० उ० ३।१।९)। श्रुति आत्मा को

अणुपरिमाणक बतलाकर उसके अतीन्द्रियत्व का समर्थन करती है। अतएव चक्षु-र्विषयत्व किसी भी जीव में नहीं पाए जाने के कारण यह जीव का असम्भव लक्षण है।

करणपदार्थविवेचनम्

साधकतमं करणम्। अतिशयितं साधकं साधकतमम्। यस्मिन् सत्यविलम्बेन (कार्यं) ज्ञानमुत्पद्यते तदतिशयितमित्युच्यते। तेन प्रमाकरणं प्रमाणमिति सिद्धम्।

अनुवाद—साधकतम साधन को करण कहते हैं। कार्य जो सर्वोत्कृष्ट साधन होता है, उसे साधकतम कहते हैं। जिस साधन का प्रयोग होते ही कार्य हो जाता है, उसे अतिशयित अर्थात् सर्वोत्कृष्ट साधन कहते हैं। इस तरह प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, यह सिद्ध हुआ।

भा० प्र०—प्रमाण का लक्षण करते हुए ग्रन्थकार ने प्रमा के करण को प्रमाण कहा है। उपर्युक्त अनुच्छेद में प्रमा का विवेचन किया जा चुका है। अतएव यहाँ पर करण पदार्थ का निरूपण करते हुए उन्होंने बतलाया कि साधकतम को करण कहते हैं। अब प्रश्न है कि साधकतम किसे कहते हैं तो इसका उत्तर वे देते हैं कि कार्य के अतिशयित साधन (हेतु) को साधकतम कहते हैं। साधक शब्द से यहाँ पर सर्वोत्कृष्ट अर्थ में 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' (अष्टाध्यायी ५।३।५५) सूत्र से तमप् प्रत्यय होकर साधकतम शब्द बना है। इसका अर्थ है कार्य के सम्पादक अनेक साधनों में सर्वोत्कृष्ट साधन। इसीलिए कहा गया कि जिस साधन का प्रयोग होते ही अविलम्ब कार्य उत्पन्न हो जाय, उसे अतिशयित साधन कहते हैं।

धर्मराजाध्वरीन्द्रकृतप्रमालक्षणखण्डनम्

अनधिगतार्थगन्तृ प्रमाणमित्यादिकं तु तत्तद्वादिभिरेव निरस्तत्वादनादरणीयम्।

अनुवाद—अज्ञात अर्थ का बोधक प्रमाण होता है, इत्यादि प्रमाण लक्षण तो विभिन्न वादियों के द्वारा ही खण्डित होने के कारण अनादरार्ह हैं।

भा० प्र०—वेदान्तपरिभाषाकार-कृत प्रमा के लक्षण का खण्डन—'अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम्' इस वाक्य का विग्रह इस प्रकार है—'न अधिगतः अनधिगतः, अज्ञात इत्यर्थः। अनधिगतश्चासौ अर्थः अनधिगतार्थः, अनधिगतम् अर्थं गच्छति यत् तत् ज्ञानं प्रमाणम्।' यहाँ पर अनधिगत पद को अबाधित का भी उपलक्षण मानना चाहिए। प्रमाण शब्द में भी 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् प्रत्ययेन' इस नियम के अनुसार 'प्रमा' शब्द से 'ल्युट् च' (अष्टाध्यायी ३।३।११५) सूत्र से भाव में ल्युट् प्रत्यय मानना चाहिए। इस तरह उक्त वाक्य का अर्थ यह हुआ कि अज्ञात एवं अबाधित विषयों के ज्ञान को प्रमा कहते हैं। इस वाक्य के द्वारा यतीन्द्रमतदीपिकाकार को वेदान्तपरिभाषाकार के—'अनधिगताबाधितविषयज्ञानत्वम्' इस प्रमा के

लक्षण का खण्डन अभिप्रेत है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार के अभिप्रेतार्थ को समझने के पूर्व वेदान्तपरिभाषाकार के उक्त लक्षण का अभिप्राय ठीक से समझना आवश्यक है। कुछ अद्वैती विद्वान् स्मृति को प्रमा नहीं मानते हैं। अतएव स्मृति में प्रमा की अतिव्याप्ति के वारण के लिए अनधिगत पद का लक्षण में सन्निवेश किया गया है। स्मृति तो अनुभूत अर्थ की ही हुआ करती है, अतः वह अधिगत अर्थविषयिणी है। किन्तु अज्ञातार्थमात्र के ज्ञान को प्रमा मानने पर शुक्ति में होने वाले रजत-भ्रमस्थल में लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। शुक्ति-रजत में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए ही अबाधित पद को विषय का विशेषण बनाया गया। शुक्ति में होने वाला रजत-ज्ञान बाधित होता है, अत एव वह अबाधित विषय का ज्ञान नहीं है। फलतः अब शुक्तिरजत में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी। यहाँ पर यदि कोई यह कहें कि अनधिगत विषयमात्र के ज्ञान को प्रमा मानने पर धारावाहिक बुद्धिस्थल में लक्षण की अव्याप्ति होगी। एक ही वस्तु का अनेक क्षणों तक 'अयम् घटः, अयम् घटः' इत्यादि प्रकार से होने वाले ज्ञानस्थल को धारावाहिकबुद्धिस्थल ज्ञान कहते हैं। ऐसे स्थल में अनेकक्षण-पर्यन्त ज्ञान की एक ही प्रकार की धारा प्रवाहित होती रहती है। यहाँ पर प्रथम क्षण में जो घटज्ञान होता है, द्वितीयादि क्षणों में भी वही घटज्ञान होता है, अत एव वह ज्ञान अनधिगतवस्तुविषयक न हो सकने के कारण प्रमा नहीं हो पायेगा। किन्तु धारावाहिकबुद्धिस्थल में होने वाले ज्ञान को अप्रमा नही माना जाता। फलतः यह अव्याप्त लक्षण होगा। तो इस आक्षेप का उत्तर देते हुए वेदान्तपरिभाषाकार कहते हैं कि यह दोष होना तो तब संभव है जब कि काल का साक्षात्कार हम नहीं मानते। जिस तरह नैयायिक नीरूप रूप का भी चाक्षुषत्व मानते हैं, उसी तरह हम नीरूप काल का भी चाक्षुषप्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। अतएव प्रथम क्षण में होने वाला 'अयम् घटः' यह प्रत्यक्ष ज्ञान द्वितीय क्षण में होने वाले 'अयम् घटः' इस ज्ञान के पूर्व ही विनष्ट हो गया रहता है। इस तरह तृतीयादि क्षणों में होने वाले ज्ञान के विषय में भी समझना चाहिए। फलतः धारा-वाहिकबुद्धिस्थल में भी प्रत्येक क्षण में होने वाला ज्ञान नवीन-नवीन ही होने के कारण अनधिगतार्थविषयक ही होता है, अधिगतार्थविषयक नहीं। अतएव उक्त लक्षण में अव्याप्ति दोष की शंका नहीं की जा सकती है।

किन्तु वेदान्तपरिभाषाकार के इस लक्षण का खण्डन विभिन्न वादियों ने किया है। उन वादियों का कहना है कि प्रमा के इस लक्षण को अव्याप्ति दोष से रहित नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा काल के सूक्ष्म भेदों का साक्षात्कार असम्भव है। सूक्ष्मकाल के भेदों का भी आकलन प्रत्यक्ष के द्वारा मानने पर 'नीलो-त्पलपत्रशतं मया समकालं भिन्नम्' इस प्रकार का यौगपद्याभिमान अनुपपन्न हो जायेगा। किञ्च किसी भी क्रिया में होने वाले वस्तु में क्रिया, उस क्रिया से विभाग, पूर्व संयोग का नाश तथा उत्तर संयोग की उत्पत्ति इन चारों क्रिया का यौगपद्याभि-

मान भी असंभव होगा। अतः काल के सूक्ष्म भेदों का साक्षात्कार असंभव है। मूल के आदि पद से बौद्धाभिमत प्रमा लक्षण का भी खण्डन यहाँ अभिप्रेत है।

विशिष्टाद्वैताभिमतप्रमाणसंख्या

तानि प्रमाणानि प्रत्यक्षानुमानशब्दाख्यानि त्रीण्येव।

अनुवाद—वे प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही हैं।

भा० प्र०—दार्शनिकों में प्रमाण-संख्या-विषयक मतभेद——श्रीनिवासाचार्य ने पदार्थों का दो भेद किया—प्रमाण एवं प्रमेय। उन प्रमाणों की संख्या का निर्देश करते हुए वे कहते हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द ये तीन ही प्रमाण हैं। एव शब्द के द्वारा यह सूचित किया गया है कि इन तीन प्रमाणों से अधिक अथवा कम प्रमाणों की संख्या नहीं स्वीकारी जा सकती है। प्रमाणों की संख्या के विषय में विचारकों का निम्न प्रकार का मतभेद है—चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते हैं। बौद्ध एवं वैशेषिक प्रत्यक्ष एवं अनुमान, इन दो प्रमाणों को ही मानते हैं। सांख्य एवं विशिष्टाद्वैती प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, इन तीन प्रमाणों को मानते हैं। नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द, इन चार प्रमाणों को मानते हैं। प्राभाकर मीमांसक पाँच प्रमाणों को मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति। भाट्ट मीमांसक तथा अद्वैती विद्वान् छह प्रमाणों को मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। पौराणिक आठ प्रमाणों को मानते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, संभव एवं ऐतिह्य। इस प्रमाण-विषयक मतभेद को वेदान्तकारिका में इस प्रकार कहा गया है—

'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दञ्च ते उभे॥
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केवलम्।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः॥
अभाव षष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
सम्भवैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः॥'

यतीन्द्रमतदीपिकाकार का अभिप्राय है कि वस्तुतः स्वतंत्र रूप से तीन ही प्रमाण हैं। तद्व्यतिरिक्त प्रमाणों का उन तीन प्रमाणों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। प्रमाणान्तरों का इन तीन प्रमाणों में अन्तर्भाव का प्रकार ग्रन्थकार स्वयम् आगे प्रतिपादित करेंगे।

प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्

तत्र साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षम्। अनुमानादिव्यावृत्त्यर्थं साक्षात्कारीति। दुष्टेन्द्रियजन्यव्यावृत्त्यर्थं प्रमेति।

अनुवाद—उन तीनों प्रमाणों में साक्षात्कारी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। प्रत्यक्षप्रमाण का अनुमानादि प्रमाणों से भेद सिद्ध करने के लिए साक्षात्-

कारी पद को प्रमा का विशेषण बनाया गया है। दूषित इन्द्रियों से उत्पन्न ज्ञान से प्रमा की भिन्नता सिद्ध करने के लिए प्रमा पद का प्रयोग किया गया है।

भा० प्र०—यतीन्द्रमतदीपिकाकार प्रत्यक्षप्रमाण को साक्षात्कारीप्रमा का साधकतम बतलाते हैं। साक्षात्कारिणीप्रमा वह होती है, जो चक्षुरादि इन्द्रियों से उत्पन्न होती है। तर्कभाषाकार केशवमिश्र कहते हैं—'साक्षात्कारिणी च प्रमा सैवोच्यते या इन्द्रियजा'। अर्थात् विषयों के साथ इन्द्रियों का संबन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे साक्षात्कारी प्रमा कहते हैं। अनुमान और शब्द प्रमाण से भी प्रमा होती है, किन्तु वह साक्षात्कारिणी नहीं होती; अपितु वह अनुमिति प्रमा तथा शाब्दी प्रमा होती है। उन दोनों प्रमाओं से भिन्न प्रकार की प्रमा का साधकतम सिद्ध करने के लिए लक्षणवाक्य में साक्षात्कारी शब्द कहा गया है। ज्ञान दोषदूषित इन्द्रियों से भी उत्पन्न होता है। जैसे काचकामलादि दोष से दूषित चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत उजला भी शंख पीला प्रतीत होता है। तिमिर तथा अङ्गुल्यवष्टम्भ आदि से दूषित चक्षुरिन्द्रिय से एक ही वस्तु दो दिखने लग जाती है। किन्तु इस प्रकार के ज्ञान को प्रमा नहीं कहा जा सकता है। ऐसे ज्ञानों से भी प्रत्यक्षप्रमाण जन्य ज्ञान की भिन्नता सिद्ध करने के लिए लक्षण में प्रमा पद का प्रयोग किया गया है।

प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकं सविकल्पकमिति भेदद्वयनिरूपणम्

तच्च प्रत्यक्षं द्विविधं—निर्विकल्पकसविकल्पकभेदात्। निर्विकल्पकं नाम गुणसंस्थानादिविशिष्टप्रथमपिण्डग्रहणम्। सविकल्पकं तु सप्रत्यवमर्शं गुणसंस्थानादिविशिष्टद्वितीयादिपिण्डग्रहणम्। उभयमप्येतद्विशिष्टविषयमेव। अविशिष्टग्राहिणो ज्ञानस्यानुपलम्भादनुपपत्तेश्च।

अनुवाद—प्रत्यक्षप्रमाण दो प्रकार का होता है—निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। गुण तथा संस्थान आदि से विशिष्ट एकजातीय द्रव्यों में प्रथम वस्तु का जो साक्षात्कार होता है, उसे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं तथा प्रत्यवमर्शपूर्वक गुणसंस्थानादिविशिष्ट एकजातीय द्रव्यों में से द्वितीय आदि पिण्डों के साक्षात्कार जन्य ज्ञान को सविकल्पक प्रत्यक्ष कहते हैं। ये दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष विशेषणविशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण करते हैं। ये दोनों प्रकार के प्रत्यक्ष विशेषणविशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण करते हैं, क्योंकि निर्विशेष वस्तु के ग्राहक ज्ञान की न तो उपलब्धि होती है और न तो उस प्रकार का ज्ञान उपपन्न ही हो सकता है।

भा० प्र०—निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष से भी सविशेष वस्तु का ही ग्रहण होता है—निर्विकल्पक-प्रत्यक्षप्रमाण के विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वानों की मान्यता अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा भिन्न है। नैयायिक अद्वैती आदि मानते हैं कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष के द्वारा सभी विशेषणों से शून्य वस्तु का ग्रहण है। अद्वैती विद्वान् तो उसे सन्मात्र का ग्राहक बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि कोई भी ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता, जो सभी विशेषणों से रहित वस्तु का ग्रहण कर सके। सविकल्पकप्रत्यक्ष

को तो सब लोग मानते है कि वह जाति आदि अनेक विशेषणों से विशिष्ट वस्तु को अपना विषय बनाता है, किन्तु निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का भी विषय सविशेष वस्तु ही होती है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में अनुभूत विशेषणों का ही तो प्रत्यवमर्श प्रतिसन्धान सविकल्पकप्रत्यक्ष में होता है। निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में कुछ विशेषणों से रहित वस्तु का ग्रहण होता है, सभी विशेषणों से रहित वस्तु का नहीं। सभी विशेषणों से रहित वस्तु का ग्राहक कोई भी ज्ञान नहीं होता, यह देखा जाता है। जितने भी ज्ञान होते हैं, उनमें इदन्त्व एवं इत्थन्त्व अवश्य पाये जाते हैं। यह वस्तु यह है और ऐसी है इत्यादि रूप से ही हर प्रतीति होती है। संस्थान तथा आकार से रहित किसी भी वस्तु का साक्षात्कार होता ही नहीं हैं, यदि ऐसा भी प्रत्यक्ष होता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती। चूंकि ऐसे प्रत्यक्ष की उपलब्धि होती ही नहीं, अत एव इस प्रकार का ज्ञान योग्यानुपलब्धि पराहत है। साथ ही इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य वस्तु का जो प्रथम प्रत्यक्ष होता है, वह सविशेषवस्तु-विषयक ही होता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है। सविकल्पकप्रत्यक्ष के समान यह अनुग्राहक तर्क भी निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के सविशेष-वस्तु-विषयता में साधक है। इस तरह साधकप्रमाणाभाव तथा बाधकप्रमाणों के सद्भाव से सिद्ध होता है कि कोई भी ज्ञान सभी विशेषणों से रहित वस्तु का ग्रहण नहीं करता। अतएव एक जाति की वस्तुओं में से जो प्रथम पिण्ड का साक्षात्कार होता है, उसे निर्विकल्पकप्रत्यक्ष कहते हैं तथा द्वितीयादि पिण्डों का जो ग्रहण होता है, उसे सविकल्पकप्रत्यक्ष कहते हैं। प्रथम पिण्ड-ग्रहण में गोत्व आदि की अनुवृत्ताकारता नहीं प्रतीत होती और द्वितीय आदि पिण्डों के ग्रहण में संस्थानादि-रूप गोत्वादि की अनुवृत्ताकारता की प्रतीति होती है। यह भी गौ है, क्योंकि इसमें भी सास्नादिरूप गोत्व है। इस प्रकार से द्वितीयादि पिण्ड (व्यक्ति) के ग्रहण को इसलिए सविकल्प कहा जाता है कि प्रथम प्रतीति में अनुभूत वस्तु के संस्थान रूप गोत्व आदि की विशेषता का द्वितीयादि ग्रहण में निश्चय किया जाता है। इस तरह स्पष्ट है कि गोत्वादि की अनुवृत्ति की प्रतीति तथा प्रतीति का अभाव ही सविकल्पक एवं निर्विकल्पक शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है। प्रथम पिण्डग्रहण में गोत्वादि की अनु-वृत्ति की प्रतीति नहीं होती, अत एव वह ग्रहण निर्विकल्पक है। यदि प्रथम व्यक्ति के ग्रहणकाल में अनुवृत्ति का ग्रहण न होने से गोत्व का ग्रहण नहीं माना जाय तो फिर उसका ग्रहण द्वितीय आदि व्यक्तियों के ग्रहणकाल में नहीं हो सकता है। फलतः 'इयमपि गौः गोत्वावच्छिन्नत्वात्।' यह प्रत्यवमर्श द्वितीयादि पिण्डग्रहण-काल में नहीं हो सकता है। अतः सिद्ध है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष भी सविशेषवस्तु-विषयक ही होता है, निर्विशेषवस्तु-विषयक नहीं।

वस्तूनां ग्रहणप्रकारः

ग्रहणप्रकारस्तु—आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। इन्द्रियाणां प्राप्य प्रकाशकारित्वनियमात्। अतो घटादिरूपार्थस्य चक्षुरादी-

(चक्षूरूपे)न्द्रियस्य च सन्निकर्षे सति अयं घटः पट इति चाक्षुषज्ञानं जायते । एवं स्पार्शनप्रत्यक्षादयोऽपि ।

अनुवाद—वस्तुओं का ग्रहण इस प्रकार होता है । आत्मा मन से संयुक्त होता है । मन इन्द्रियों से संयुक्त होता है और इन्द्रिय विषयों से संयुक्त होता है । क्योंकि इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे अपने विषय को प्राप्त कर उनका प्रकाश अपने आश्रय के प्रति कर देती हैं । घट आदि विषय तथा चक्षु आदि इन्द्रियों का सन्निकर्ष (सम्बन्ध) होने पर यह घट है, यह पट है, इत्यादि चाक्षुष्ज्ञान होता है । इसी तरह स्पार्शन प्रत्यक्ष आदि भी होते हैं ।

सम्बन्धविचारः

द्रव्यग्रहणे संयोगस्सम्बन्धः । द्रव्यगतरूपादिग्रहणे समवायानङ्गी-कारात् संयुक्ताश्रयणं सम्बन्धः ।

अनुवाद—द्रव्य के ग्रहण में संयोग नामक संबन्ध होता है तथा द्रव्य के रूप आदि के ग्रहण में संयुक्ताश्रय संबन्ध होता है, क्योंकि हम समवाय नामक सम्बन्ध को नहीं स्वीकारते हैं ।

भा० प्र०—विशिष्टाद्वैतियों का सन्निकर्ष-विषयक विचार—नैयायिक विद्वान् छह प्रकार के सन्निकर्ष को स्वीकारते हैं—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेष्यविशेषणभाव ।

दो पदार्थों के बीच होने वाला ऐसा संबंध जो टूट सकता है, वह संयोगसंबंध कहलाता है । चक्षुरिन्द्रिय का घट के साथ संयोगसंबंध होता है । समवाय एक ऐसा संबंध है, जो टूट नहीं सकता है । रूप का शरीर के साथ समवायसम्बन्ध है, क्योंकि शरीर के बिना शरीर रूप नहीं रह सकता । रूपी द्रव्य में रूप समवायसम्वन्ध से रहता है । चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त घट के रूप का ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय संयुक्तसमवाय-सम्बन्ध से करती है और चक्षुरिन्द्रिय से संयुक्त घट में समवायसंबंध से रहने वाले रूप में रूपत्व भी समवायसंबंध से रहता है; अतएव उसका ग्रहण संयुक्तसमवेत-समवायसम्बन्ध से होता है । शब्द आकाश का गुण है, गुण और गुणी में समवाय-सम्बन्ध होता है । न्यायसिद्धान्तानुसार आकाश एक है । कर्णकुहर में रहने वाली श्रोत्रेन्द्रिय भी आकाश ही है । अत एव उसमें शब्द समवायसम्बन्ध से विद्यमान है । श्रवणेन्द्रिय का शब्द के साथ समवायसम्बन्ध है । उस शब्द में शब्दत्व जाति भी समवायसम्बन्ध से रहती है । अतएव श्रवणेन्द्रिय द्वारा शब्दत्व जाति का जो साक्षात्कार होता है, वह समवेतसमवायसम्बन्ध से होता है । नैयायिकों का कहना है कि अभाव अपने आश्रय में विशेषण रूप से विद्यमान रहता है । पृथिवी पर घटाभाव है । इसका अर्थ है कि पृथिवी का विशेषण है घटाभाव । अतएव उस अभाव का जो प्रत्यक्ष होता है, उसमें विशेषणविशेष्यभाव रूप सम्बन्ध होता है । यही नैयायिकों के सम्बन्ध अथवा सन्निकर्षों का स्वरूप है ।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार इन सभी सम्बन्धों को न मानकर केवल दो सम्बन्ध मानते हैं—संयोग और संयुक्ताश्रय। इनका अभिप्राय है कि नैयायिकों के जो प्रथम पाँच सम्बन्ध हैं, उनमें दो ही सम्बन्ध प्रमुख हैं—संयोग और समवाय। यतीन्द्रमत-दीपिकाकार नैयायिकों के संयोग नामक संबंध को ज्यों का त्यों मान लेते हैं। वे समवाय को नहीं मानते, उसका एकमात्र कारण यह है कि महर्षि बादरायण ने स्वयम् शारीरक-मीमांसा के 'समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः।' (२।२।१२) सूत्र में समवाय का खण्डन किया है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि वैशेषिक दर्शन में समवाय को स्वीकारा जाता है। समवाय को सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं कि जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, अवयव-अवयवी आदि अयुतसिद्ध पदार्थों में विशिष्ट प्रतीति जिस सम्बन्ध के कारण होती है, उसका नाम समवाय है। इस तरह उनके अनुसार अयुतसिद्ध पदार्थों में जाति आदि का निर्वाहक समवायसम्बन्ध हुआ। किन्तु उन्हें यह सोचना चाहिए कि जिस तरह अयुतसिद्ध उपलब्धियों में जाति आदि का निर्वा-हक समवाय है, उसी तरह उस समवाय का भी निर्वाहक कोई न कोई हेतु होना चाहिए। उसका निर्वाहक जो हेतु होगा, उसके भी निर्वाहक हेतु की आकांक्षा होगी। इस तरह समवाय को स्वीकारने में उपर्युपरि अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था दोष है। अतएव वैशेषिकाभिमत समवाय को नहीं स्वीकारा जा सकता है। संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवेतसमवाय, इन तीन संबन्धों की जो वे पृथक् कल्पना करते हैं, उसका एकमात्र कारण है कि वे जाति को संस्थानादि से भिन्न मानते हैं तथा उसका प्रत्यक्ष भी मानते हैं, किन्तु उनकी संस्थानादि व्यतिरिक्त को जाति मानने की कल्पना अनुपलब्धि पराहत है। क्योंकि द्रव्यादिकों के साक्षात्कार में संस्था-नादि से व्यतिरिक्त जाति नामक पदार्थ का आज तक किसी ने साक्षात्कार नहीं किया है। अतएव उनकी जाति तथा उपर्युक्त तीनों सम्बन्ध भी अनादरणीय हैं। विशेष्य-विशेषणभाव रूप संबन्ध को मानना इसलिए प्रत्यक्ष में अनावश्यक है कि विशिष्टा-द्वैत दर्शन में अभाव को विशेषण रूप से स्वीकारा ही नहीं जाता; अपितु यहाँ अभाव को भावान्तर रूप माना जाता है।

अब प्रश्न है कि तो फिर द्रव्य में अपृथक्सिद्ध संबंध से रहने वाले रूप आदि के प्रत्यक्ष में कौन-सा संबंध विशिष्टाद्वैती मानते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि उनके ग्रहण के लिए हम संयोगाश्रय संबंध मानते हैं, क्योंकि उन रूपादिकों के आश्रय रूपी आदि पदार्थ हैं और उनके साथ चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ संयोग सम्बन्ध होता है।

प्रत्यक्षस्यावान्तरभेदाः

निर्विकल्पकसविकल्पकभिन्नं प्रत्यक्षं द्विविधम्—अर्वाचीनमनर्वाचीनं चेति। अर्वाचीनं पुनर्द्विविधम्—इन्द्रियसापेक्षं तदनपेक्षं चेति। तदनपेक्षं द्विविधम्—स्वयंसिद्धं दिव्यं चेति। स्वयंसिद्धं—योगजन्यम्, दिव्यं भगवत्प्रसादजन्यम्। अनर्वाचीनं तु, इन्द्रियानपेक्षं नित्यमुक्तेश्वरज्ञानम्। अनर्वाचीनं प्रसङ्गादुक्तम्। एवं साक्षात्कारिप्रमाकरणं प्रत्यक्षमिति सिद्धम्।

अनुवाद—प्रत्यक्ष के दो भेद बतलाए गये हैं—निर्विकल्पक एवं सविकल्पक। उन दोनों के भी दो-दो भेद होते हैं—अर्वाचीन और अनर्वाचीन। अर्वाचीन के भी दो भेद होते हैं—इन्द्रिय सापेक्ष एवं इन्द्रिय निरपेक्ष। इन्द्रियनिरपेक्षप्रत्यक्ष भी दो प्रकार के होते हैं—स्वयंसिद्ध एवं दिव्य। स्वयंसिद्ध योग से उत्पन्न होता है तथा दिव्य प्रत्यक्ष भगवान् की कृपा से होता है। अनर्वाचीन प्रत्यक्ष तो इन्द्रिय निरपेक्ष ही होता है। नित्य, मुक्त जीवों तथा ईश्वर का ज्ञान अनर्वाचीन प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष का प्रकरण होने से यहाँ अनर्वाचीन प्रत्यक्ष की चर्चा कर दी गयी है। इस तरह सिद्ध हुआ कि साक्षात्कारी प्रमा के करण को प्रत्यक्ष कहते हैं।

भा० प्र०—यतीन्द्रमतदीपिकाकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रख्यात तथा अन्य दर्शनों में अर्चचित प्रत्यक्ष के कुछ विभागों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि निर्विकल्पक एवं सविकल्पक, इन दोनों प्रत्यक्षों के दो-दो भेद होते हैं—अर्वाचीन और अनर्वाचीन। अर्वाचीन का अर्थ है जन्य; अनर्वाचीन का अर्थ है अजन्य। अनर्वाचीन प्रत्यक्ष नित्य-मुक्त जीवों को तथा सर्वज्ञ परमात्मा को होता है। नित्यमुक्त जीवों के अनर्वाचीन प्रत्यक्ष के विषय में सामश्रुति भी कहती है—'सदा पश्यन्ति सूरयः' ईश्वर तो सर्वदा सभी विषयों का साक्षात्कार करता ही है। उसके साक्षात्कार में देश एवं काल का व्यवधान बाधक नहीं बनता है।

स्मृतेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः

ननु यथावस्थितव्यवहारानुगुणं ज्ञानं प्रमेत्युक्तम्, एवञ्च स्मृतेरपि यथावस्थितव्यवहारानुगुणज्ञानत्वेन प्रामाण्यात् स्मृतेरपि प्रमाणत्वेन परिगणनाच्च त्रीण्येव प्रमाणानीति कथं प्रतिपाद्यत इति चेत्; उच्यते, स्मृतेः प्रामाण्याङ्गीकारेऽपि संस्कारसापेक्षत्वात्तस्याः प्रत्यक्षमूलत्वान्मूलभूते प्रत्यक्षेऽन्तर्भाव इति न पृथक्प्रमाणत्वकल्पनम्। अतः प्रमाणानि त्रीण्येवेति सम्भवति।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहते हैं, यह कहा गया है। स्मृति भी यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ही ज्ञान है, अतएव उसका भी प्रामाण्य स्वीकारा जाता है। फलतः स्मृति भी एक प्रमाण सिद्ध होती है। ऐसी स्थित में तीन ही प्रमाण हैं, यह प्रतिपादन ग्रन्थकार कैसे करते हैं? तो इसका उत्तर है कि, यद्यपि हम स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार करते हैं फिर भी, वह संस्कार सापेक्ष होती है। संस्कार पूर्वानुभूत वस्तु का ही होता है। स्मृति का मूल प्रत्यक्ष प्रमाण है; अतएव उसका अपने मूलभूत प्रमाण प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। इस तरह स्मृति को उपर्युक्त तीन से अतिरिक्त प्रमाण नहीं माना जा सकता है।

भा० प्र०—स्मृति के पृथक् प्रमाण की शंका और उसका खण्डन—इस अनुच्छेद में ग्रन्थकार स्मृति के पृथक् प्रमाणत्व की शङ्का की उद्भावना करके उसका निरास करते हैं। प्रश्न यह है कि 'यदि यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ज्ञान को प्रमा कहा

जाता है और उस प्रमा के साधकतम को प्रमाण कहा जाता है तो स्मृति को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए, क्योंकि वह यथावस्थितव्यवहार के अनुकूल ज्ञान का जनक है। किञ्च श्रुति स्पष्ट रूप से स्मृति को एक अलग प्रमाण बतलाती है। वह श्रुति है। 'स्मृतिः प्रत्यक्षमैतिह्यमनुमानम्' ऐतिह्य शब्द से यहाँ पर शब्दप्रमाण कहा गया है। इस तरह इस श्रुति में चार प्रमाणों को बतलाया गया है—स्मृति, प्रत्यक्ष, शब्द तथा अनुमान। जिस तरह इस श्रुति में प्रोक्त प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द, इन तीनों प्रमाणों को विशिष्टाद्वैती स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं, उसी तरह स्मृति को भी उन्हें स्वतन्त्र प्रमाण मानना चाहिए ? इस शंका का समाधान यह है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्मृति को भी प्रमा का जनक माना जाता है। इस दर्शन में अद्वैती विद्वानों के समान उसे न तो अप्रमा का जनक माना जाता है और न तो भ्रम ही। किन्तु उसको स्वतन्त्र प्रमाण इसलिए नहीं माना जाता है कि विशिष्टाद्वैती उसका प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव मानते हैं। स्मृति संस्कारजन्य ज्ञान का नाम है। संस्कार पूर्वानुभूत वस्तुओं का होता है। जिन वस्तुओं का पहले प्रत्यक्ष किया जाता है, उसी का संस्कार पड़ता है। इस तरह स्मृति के मूल में प्रत्यक्ष विद्यमान रहता है। अतएव इस स्मृति का उसके मूलभूत प्रमाण प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव कर दिया जाता है।

स्मृतिनिरूपणम्

स्मृतिर्नाम पूर्वानुभवजन्यसंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्। तत्र चोद्बुद्धस्संस्कारो हेतुः। संस्कारोद्बोधश्च सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः, इत्युक्तप्रकारेण क्वचित्सदृशदर्शनाद्भवति, क्वचिददृष्टात्, क्वचिच्चिन्तया। आदिशब्देन साहचर्यस्यापि ग्रहणात् तेनापि भवति। सादृश्यजा यथा—देवदत्तयज्ञदत्तयोस्सदृशयोर्देवदत्तदर्शनेन यज्ञदत्तस्मृतिः। द्वितीया यथा-यादृच्छिककालान्तरदेशान्तरानुभूतश्रीरङ्गादिदिव्यदेशस्मृतिः। तृतीया यथा—चिन्त्यमाने सति श्रीवेङ्कटेशस्य कमनीयदिव्यमङ्गलविग्रहस्मृतिः। चतुर्थी तु—सहचरितयोर्देवदत्तयज्ञदत्तयोर्मध्येऽन्यतरदर्शनेन तदन्यतरस्मृतिः। सम्यगनुभूतस्य सर्वस्य स्मृतिविषयत्वनियमः। क्वचित्कालदैर्घ्यात् व्याध्यादिना वा संस्कारस्य प्रमोषात् स्मृत्यभावः।

अनुवाद—पहले किये गये अनुभवों से उत्पन्न जो संस्कार, उस संस्कारमात्र से होने वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं। स्मृति का कारण संस्कारों का उद्बुद्ध (जागृत) होना है। संस्कार के उद्बोधकों को निर्दिष्ट करते हुए कहा गया है—सदृशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधकाः।' अर्थात् सदृश, अदृष्ट, चिन्ता आदि (साहचर्य) स्मृति के बीज संस्कार के उद्बोधक हैं। इस सूक्ति के अनुसार कहीं समान आकृति वाली वस्तु को देखकर संस्कार का उन्मेष हो जाता है, तो कहीं अदृष्टवशात्, तो कहीं चिन्तन करते-करते। मूल के आदि पद से साहचर्य का ग्रहण होता है, अतएव उसके द्वारा भी स्मृति उत्पन्न होती है। जैसे—देवदत्त एवं यज्ञदत्त सदृश हैं, उनमें से देवदत्त

को देखकर उसके सदृश आकार वाले यज्ञदत्त की स्मृति हो जाती है। यह सादृश्य-जन्य स्मृति का उदाहरण है। दूसरे देश एवं दूसरे काल में अनुभव किये गये श्रीरङ्गम् आदि दिव्य देशों की अचानक स्मृति(अदृष्ट)वशात् द्वितीय प्रकार की स्मृति का उदाहरण है। चिन्तन करते-करते श्रीवेङ्कटेश भगवान् के मनोज्ञ दिव्य मङ्गलमय विग्रह की स्मृति का होना तीसरे प्रकार की स्मृति का उदाहरण है। एक साथ रहने वाले यज्ञदत्त एवं देवदत्त में से किसी एक को देखते ही दूसरे की स्मृति का हो जाना चौथे प्रकार की स्मृति का उदाहरण है। अच्छी तरह से अनुभव किये गये सभी विषयों का स्मरण होता है। कहीं-कहीं पर बहुत समय बीत जाने अथवा व्याधि आदि के कारण संस्कार का प्रमोष हो जाने से भी पूर्वानुभूत वस्तु का स्मरण नहीं होता है।

स्मृति का स्वरूप

भा० प्र०—प्रश्न उठता है कि प्रत्यक्ष तथा श्रुति-समर्थित होने के कारण जिस स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, उस स्मृति का स्वरूप क्या है ? इस शंका का समाधान ग्रन्थकार 'स्मृतिर्नाम०' इत्यादि वाक्य से करते हैं। पूर्वानुभूत वस्तुओं का जो बुद्धि में संस्कार पड़ जाता है, उस संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। लक्षण-वाक्य में मात्र शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट किया गया है कि स्मृति का कारण केवल संस्कार है। उससे अतिरिक्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं होती। स्मृति के लिए संस्कार का उद्बोधमात्र अपेक्षित होता है। उस संस्कार के उद्बोधक चार हैं—सदृश, अदृष्ट, चिन्तन एवं साहचर्य।

सभी पूर्वानुभूत वस्तुओं का स्मरण क्यों नहीं होता है ?—इसका समाधान यह है कि सम्यक्तया अनुभूत सभी वस्तुओं के स्मरण होते हैं। जिन वस्तुओं के अनुभव का संस्कार प्रमुष्ट हो जाता है, उन्हीं का स्मरण नहीं होता। संस्कारों के प्रमोषक काल की दीर्घता, व्याधि आदि हैं। किसी अनुभव किये गये वस्तु का संस्कार बहुत समय बीत जाने पर समाप्त हो जाता है, पुनः उस वस्तु का स्मरण भी नहीं होता है। किञ्च किसी ऐसी व्याधि के हो जाने पर भी पूर्वानुभूत वस्तुओं के संस्कार विनष्ट हो जाते हैं, जिससे बुद्धि में विकार पैदा हो जाय।

विष्णुपुराण में भी स्मृति-विषयक प्रश्न का हृदयग्राह्य समाधान दिया गया है। प्रश्न है कि पूर्वजन्म में अनुभूत वस्तुओं का स्मरण क्यों नहीं होता है, इसका समाधान किया गया है कि—

'प्रायणान्नरकक्लेशाद् प्रसूतिव्यसनादपि।
पूर्वानुभूतप्राग्जन्म भोगामस्मृतिगोचराः॥'

अर्थात् मृत्यु के समय में अत्यधिक वेदना होती है, उससे उस जन्म में अनुभूत वस्तुओं के संस्कार विनष्ट हो जाते हैं। उससे भी बचे संस्कार नारकीय यातनाओं के सहने के काल में विनष्ट हो जाते हैं। उससे भी यदि पूर्वजन्मानुभूत वस्तुओं के

संस्कार बच गये हों तो वे जन्मकाल में होने वाली वेदना से विनष्ट हो जाते हैं। क्योंकि जन्म एवं मरण काल में अत्यधिक कष्ट होता है। इसलिए पूर्वजन्म में अनुभूत वस्तुओं का स्मरण नहीं होता है।

स्मृति के विषय में यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि स्मृति के विषय पूर्वानुभूत विषय होते हैं। किन्तु वह पूर्वानुभूत वस्तुमात्र को ही अपना विषय बनाए इसमें क्या नियामक है? तो इसका उत्तर यह है कि जो स्मृति जिस ज्ञान से उत्पन्न होती है, उस स्मृति का विषय भी उसके उत्पादक ज्ञान का ही विषय होता है। 'या स्मृतिर्येन ज्ञानेनोत्पद्यते तद्विषयमेव सा गृह्णातीति नियमः।' इस हेतुहेतुमद्भाव नियम के ही कारण वह पूर्वानुभूत विषयमान को अपना विषय बनाती है, क्योंकि उस स्मृति का हेतु भी उस पूर्वानुभूत वस्तु का ज्ञान ही होता है।

प्रत्यभिज्ञादीनां प्रत्यक्षेऽन्तर्भावप्रकारः

यथा स्मृतेः प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः, एवं सोऽयं देवदत्त इति प्रत्यभिज्ञाया अपि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः। अस्मन्मते अभावस्य भावान्तररूपत्वात् तज्ज्ञानस्यापि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः। भूतले घटात्यन्ताभावो भूतलमेव। घटप्रागभावो नाम मृदेव। घटध्वंसश्च कपालमेव। प्रायः पुरुषेणानेन भवितव्यमित्येतदूहः। पुरः किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष इत्यनध्यवसायो ज्ञानं संशय उक्तः। एतयोरपि प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः। पुण्यपुरुषनिष्ठा प्रतिभाऽपि प्रत्यक्षेऽन्तर्गता।

अनुवाद—जिस तरह स्मृति का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है, इसी तरह 'यह वही देवदत्त है' इस प्रकार से होने वाली प्रत्यभिज्ञा का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। हमारे मत में अभाव भी भावान्तर रूप है, अतएव अभाव-ज्ञान का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। पृथ्वी पर घट का अत्यन्ताभाव पृथ्वी है। घट का प्रागभाव मृत्तिका ही है। घट का ध्वंस कपाल है। प्रायः इसे पुरुष होना चाहिए, इस प्रकार के ज्ञान को ऊह कहते हैं। इस सामने वाले वृक्ष का क्या नाम है? इस प्रकार के अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। इन दोनों का भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। पुण्यवान् पुरुष में होने वाली प्रतिभा का भी प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है।

भा० प्र०—उपर्युक्त अनुच्छेद में प्रत्यभिज्ञा आदि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव बतलाया जा चुका है कि स्मृति का प्रामाण्य है। उसको एक स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना जा सकता। स्मृति का प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है। स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञा का भी अन्तर्भाव प्रत्यक्ष में हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा संस्कार तथा सन्निकर्ष उभयजन्य होते हैं। 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है, यह ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। इस ज्ञान में दो प्रकार के ज्ञान का संयोग है। 'सः देवदत्तः' यह ज्ञान संस्कारजन्य ज्ञान है तथा 'अयं देवदत्तः' इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है। इस तरह अतीत देशकाल में दृष्ट वस्तु को वर्तमान देशकाल में देखकर जहाँ पर उसे पहचाना जाता है, उस ज्ञान को

प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। बौद्ध दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा की प्रामाणिकता नहीं स्वीकारते, किन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन में उसकी प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। चूँकि यह ज्ञान पूर्वानुभवजन्य संस्कार तथा वर्तमानकालिकसाक्षात्कारिप्रमा रूप होता है, अत एव इसका भी अपने मूलभूत प्रत्यक्षप्रमाण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अभाव के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद है। वैशेषिक विद्वान् अभाव को उसके आश्रय का विशेषण रूप मानकर उसका ग्राहक प्रत्यक्षप्रमाण को मानते हैं। अद्वैती विद्वान् अभाव का ग्राहक अनुपलब्धि प्रमाण को मानते हैं। विशिष्टाद्वैती अभाव को भावान्तर रूप मानते हैं। उनका कहना है कि अभाव चार प्रकार का होता है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव तथा अत्यन्ताभाव। घट का प्रागभाव मृत्पिण्ड-स्वरूप है, घट का प्रध्वंसाभाव कपाल-स्वरूप होता है। पट में घट का अन्योन्याभाव घट-स्वरूप है तथा पृथिवी पर घट का अत्यन्ताभाव पृथिवी-स्वरूप है। इनका साक्षात्कार भावान्तर रूप से होने के कारण अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। ऊह तर्कापरपर्याय रूप है। उसमें भी ऊहित वस्तु का साक्षात्कार किये जाने के कारण उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। संशय के अन्तर्गत इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु के स्वरूप का निर्णय किसी कारणवश नहीं हो पाता। वह कारण अन्धकार, अथवा देश एवं काल की विप्रकृष्टता आदि कुछ भी हो सकता है। जैसे अन्धकारस्थ वस्तु को देखकर यह संशय होता है कि यह क्या कोई आदमी है या खम्भा है? इत्यादि। इस संशय का भी प्रत्यक्ष में ही अन्तर्भाव होता है। प्रतिभा किसी पुण्यात्मा के भीतर पायी जाती है। यह बुद्धि की तीव्रता रूप होती है अथवा मानसप्रत्यक्ष रूप होती है। विचारकों ने नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि को प्रतिभा कहा है। यह चूँकि मानसप्रत्यक्षात्मिका होती है, अतएव उसका भी प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है।

यथार्थख्यातेः समर्थनम्

यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम् इत्युक्तत्वात् भ्रमादिप्रत्यक्षादि-ज्ञानं यथार्थमेव। अख्यात्यात्मख्यात्यनिर्वचनीयख्यात्यन्यथाख्यात्यसत्ख्या-तिवादिनो निरस्य सत्ख्यातिपक्षस्वीकारात्। सत्ख्यातिर्नाम ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम्। तर्हि भ्रमत्वं कथमिति चेत्, विषयव्यवहारबाधाद् भ्रमत्वम्। तदुपपादयामः। पञ्चीकरणप्रक्रियया पृथिव्यादिषु सर्वत्र सर्वभूतानां विद्य-मानत्वात् अत एव शुक्तिकायां रजतांशस्य विद्यमानत्वाज्ज्ञानविषयस्य सत्यत्वम्। तत्र रजतांशस्य स्वल्पत्वात्तु न व्यवहार इति तद्बाधात्तज्ज्ञानं भ्रमः। शुक्त्यंशभूयस्त्वज्ञानात् भ्रमनिवृत्तिः। स्वप्नादिज्ञानं तु सत्यमेव। तत्तत्पुरुषानुभाव्यतया तत्तत्कालावसानान् रथादीन् परमपुरुषः सृजतीति हि श्रुत्याऽवगम्यते। पीतश्शङ्ख इत्यादौ नयनवर्तिपित्तद्रव्यसम्भिन्ना नायनरश्मयश्शङ्खादिभिस्संयुज्यन्ते। तत्र पित्तगतपीतिमाभिभूतः शङ्खगत-शुक्लिमा न गृह्यते। अतस्सुवर्णानुलिप्तशङ्खवत्पीतश्शङ्ख इति प्रतीयते।

सूक्ष्मत्वात्पीतिमा स्वनयननिष्क्रान्ततया स्वेनैव गृह्यते। न त्वन्यैः। जपा-कुसुमसमीपवर्तिस्फटिकमणिरपि रक्त इति गृह्यते। तज्ज्ञानं सत्यमेव। मरीचिकायां जलज्ञानमपि पञ्चीकरणप्रक्रियया पूर्वोक्तवदुपपद्यते। पञ्ची-करणप्रक्रिया तूत्तरत्र वक्ष्यते। दिग्भ्रमोऽपि तथैव। दिशि दिगन्तरस्य विद्य-मानत्वात्, अवच्छेदकमन्तरेण दिगिति द्रव्यान्तरानङ्गीकाराच्च। अलात-चक्रादौ तु अतिशैघ्र्यात् तदन्तरालाग्रहणात्तत्तद्देशसंयुक्ततत्तद्वस्तुन एव चक्राकारेण ग्रहणम्। तदपि सत्यमेव। दर्पणादिषु निजमुखादिप्रतीतिरपि यथार्था। दर्पणादिप्रतिहतगतयो नायनरश्मयो दर्पणादिग्रहणपूर्वकं निज-मुखादि गृह्णन्ति। तत्राप्यतिशैघ्र्यादन्तरालाग्रहणात्तथा प्रतीतिः। द्विचन्द्र-ज्ञानादावप्यङ्गुल्यवष्टम्भतिमिरादिभिर्नायनतेजोगतिभेदेन सामग्रीभेदात् सामग्रीद्वयमन्योन्यनिरपेक्षं द्विचन्द्रग्रहणहेतुर्भवति। सामग्रीद्वयं पारमार्थि-कम्। तेन द्विचन्द्रज्ञानं भवति। अतः सर्वं विज्ञानं सत्यं सविशेषविषयञ्च। निर्विशेषवस्तुनोऽग्रहणात्।

अनुवाद—वेदज्ञों का सिद्धान्त है कि सभी ज्ञान सत्य होते हैं। इस सूक्ति के अनुसार भ्रमादि का प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ ही है। क्योंकि अख्याति, आत्मख्याति, अनिर्वचनीयख्याति, अन्यथाख्याति तथा असत्ख्याति वादियों का खण्डन करके हम सत्ख्याति पक्ष को स्वीकार करते हैं। ज्ञान के विषय को सत्य मानना ही सत्ख्याति है। तो प्रश्न यह है कि भ्रमस्थलीय ज्ञान को आप भ्रम कैसे कहते हैं? तो इसका उत्तर है कि चूंकि भ्रम के विषय के व्यवहार का बाध होता है। हम उसका प्रतिपादन करते हैं। पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी वस्तुओं—पृथिवी आदि सभी द्रव्यों में सभी द्रव्यों के विद्यमान रहने के कारण ही शुक्ति में रजतांश चूंकि विद्यमान रहता है, अतएव शुक्ति में प्रतीयमान ज्ञान का विषय रजत सत्य ही है। किन्तु शुक्ति में रज-तांश स्वल्प रहता है, अतः उसका रजत रूप से व्यवहार नहीं होता है। शुक्ति के अंश का भूयस्त्वज्ञान हो जाने से भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। स्वप्न आदि का ज्ञान तो सत्य ही है। श्रुतियों से पता चलता है कि स्वप्नकाल में परमात्मा स्वप्न देखने वाले पुरुषमात्र से अनुभव किये जाने योग्य स्वप्नकाल-पर्यन्त ही रहने वाले रथ आदि की सृष्टि कर देता है। शंख पीला है इत्यादि प्रतीति-स्थल में नेत्र के पित्त द्रव्य से मिश्रित नेत्र की ज्योतियाँ शंख आदि से संयुक्त होती हैं। वहाँ पित्त की पीतिमा से अभिभूत हो जाने के कारण शंख की शुक्लिमा की प्रतीति नहीं हो पाती है। इसी-लिए उजला भी शंख सुवर्णजटित शंख के समान पीला प्रतीत होता है। अपने नेत्र से निकलने के कारण तथा सूक्ष्म होने के कारण पीतिमा की प्रतीति केवल अपने को ही हो पाती है, दूसरों को नहीं। जपाकुसुम (ओड़हूल पुष्प) के सन्निकटस्थ स्फटिक-मणि भी लाल प्रतीत होता है। वह ज्ञान भी सत्य ही है। मरु-मरीचिका में होने वाला जल का ज्ञान भी पञ्चीकरण-प्रक्रिया से पहले के समान (शुक्तिरजत के

समान) सिद्ध होता है। पञ्चीकरण-प्रक्रिया हम आगे बतलायेंगे। दिग्भ्रम में भी होने वाला ज्ञान सत्य ही है; क्योंकि एक दिशा में दूसरी दिशा विद्यमान रहती है। किञ्च दिशा को द्रव्यान्तर न मानकर हम उसे अवच्छेदकमात्र मानते हैं। आलात-चक्र आदि में तो अत्यन्त शीघ्रता के कारण उसके अन्तराल का ग्रहण न हो सकने के कारण तत्-तत् देशों से संयुक्त विभिन्न वस्तुओं की ही चक्र रूप से प्रतीति होती है। अत एव वह ज्ञान भी सत्य ही है। दर्पण आदि में होने वाली अपने मुख आदि की प्रतीति भी यथार्थ ही है; क्योंकि नेत्र की रश्मियों की गति दर्पण आदि से अवरुद्ध हो जाती है। अतएव वह दर्पण के ग्रहण-पुरस्सर अपने मुख आदि का ग्रहण कर लेती हैं। वहाँ भी ज्योति की गति अतितीव्र होने के कारण अन्तराल का ग्रहण नहीं हो पाता है। अतएव दर्पण में मुखादि की प्रतीति होती है। अङ्गुल्यवष्टम्भ अथवा तिमिर रोग के द्वारा नेत्र-ज्योतियों के विभक्त हो जाने से चन्द्रमा आदि दो प्रतीत होते हैं। क्योंकि वहाँ दोनों की सामग्री भिन्न-भिन्न हो जाती है तथा परस्पर में निरपेक्ष रूप से वे दोनों सामग्रियाँ दो चन्द्रमा की प्रतीति का कारण बन जाती हैं। दोनों साम-ग्रियाँ सत्य हैं। इसीलिए दो चन्द्रमा का ज्ञान होता है। इस तरह सिद्ध हुआ कि सभी विज्ञान सत्य तथा सविशेषवस्तु-विषयक होते हैं; क्योंकि किसी भी ज्ञान के द्वारा निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं होता है।

ख्याति पदार्थ और उसके भेद

शा० प्र०—'धातूनामनेके अर्थाः' इस सूक्ति के अनुसार धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। किन्तु ख्याति शब्द भ्रमज्ञान का वाचक है, यह सभी दार्शनिक मानते हैं। अन्धेरे में रस्सी को देखकर इसे सर्प समझ लेना भ्रम है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ लेना भ्रम है। इस भ्रमज्ञान की व्यवस्था करने के लिए तत्-तत् वादियों ने अपने-अपने वाद को तत्-तत् नाम से अभिहित किये। जैसे—अख्याति, आत्मख्याति आदि। इन सभी ख्यातियों का संग्रह करते हुए कहा है—

'आत्मख्यातिरसत्ख्यातिरख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथानिर्वचनख्यातिरित्येतत् ख्यातिपञ्चकम्॥'

अर्थात् प्रख्यात पाँच ख्यातियाँ हैं—आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथाख्याति तथा अनिर्वचनीयख्याति। विशिष्टाद्वैती विद्वान् इन पाँचों ख्यातियों का खण्डन करके यथार्थख्याति को स्वीकारते हैं।

प्रकृत में यथार्थख्याति के समर्थन तथा ख्यान्तर का निरास करने के पूर्व ख्याति-पञ्चक का स्वरूप संक्षेपतः स्पष्ट करना आवश्यक है—

(१) **आत्मख्याति**—सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक बौद्ध आत्मख्याति स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि जिस तरह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना ही बुद्धि का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार बुद्धि रूप रजत का भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के बिना ही साक्षात्कार होता है। संस्कार के सामर्थ्य के कारण विज्ञान ही रजत रूप होकर नेत्र-

सम्मुख रजत रूप से गृहीत होता है। अत एव 'यह रजत नहीं है' इस बाधक-ज्ञान के उत्पन्न होने पर उसके सामने होने मात्र का निषेध होता है, रजत का नहीं। धर्मी तथा धर्म दोनों के निषेध की कल्पना करने की अपेक्षा उसके पुरोवर्तित्व रूप धर्म का ही निषेध मानने में लाघव है। विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान को ही आत्मा मानते हैं, अतएव इनके द्वारा चर्चित ख्याति को आत्मख्याति कहते हैं। विज्ञानात्मा ही रजताकार होता है और उसका पुरोवर्तित्व ही भ्रम है।

(२) **असत्ख्याति**—सर्वशून्यवादी माध्यमिक बौद्ध असत्ख्यातिवाद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विज्ञान असत् का ही प्रकाशक है, अतएव विज्ञान का असत्पक्षपातित्व नियम बनता है। सभी सत्ख्यातिवादी प्रकाशमानता मात्र को ही वस्तुसत्ता स्वीकारते हैं। ऐसी स्थिति में जब सभी भासमान हैं तो सभी की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। इस दोष से बचने के लिए असत्ख्याति से भिन्न कोई भी मार्ग नहीं है, यह माध्यमिक बौद्धों का कहना है।

(३) **अख्याति**—प्रभाकर गुरु के मत से भ्रमज्ञान के लिए अख्याति पद का प्रयोग किया जाता है। उनका कहना है कि जब हम शुक्ति को देखकर 'इदं रजतम्' यह प्रयोग करते हैं तो इस ज्ञान में दो ज्ञान होते हैं—एक 'इदम्' तथा दूसरा 'रजतम्'। इनमें पहला ज्ञान प्रत्यक्ष है और दूसरा स्मरण। इन दोनों ज्ञानों तथा इन दोनों ज्ञानों के विषयों का ठीक-ठीक विवेकख्याति न हो सकने के कारण भ्रमत्व का व्यवहार और प्रवृत्ति आदि होते हैं। अख्याति (विवेक का ज्ञान न होना) ही भ्रम का कारण है, संसर्ग नहीं। यदि संसर्ग को भ्रम का हेतु मान लिया जाय तो कौन-सा विज्ञान ठीक है और कौन-सा ठीक नहीं है, इसका कोई भी निश्चय नहीं हो पायेगा।

(४) **अन्यथाख्याति**—वैशेषिक तथा नैयायिक भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि सीपी को सीपी न समझकर उसे चाँदी ही समझ लेना अन्यथाख्याति है। चाँदी किसी दूसरे स्थान पर रहती है। तादात्म्य सम्बन्ध से जब ज्ञान लक्षण की प्रत्यासत्ति होती है, तब सीपी में अलौकिक चाक्षुषप्रत्यक्ष से चाँदी की प्रतीति होती है। यही अन्यथाख्याति का स्वरूप है।

(५) **अनिर्वचनीयख्याति**—अद्वैती विद्वान् भ्रमस्थल में अनिर्वचनीयख्याति स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि शुक्ति में प्रतीयमान रजत न तो सत् है और न तो असत्। क्योंकि यदि वह सत् होता तो उसका बाध नहीं होता, किञ्च यदि वह रजत असत् होता तो उसकी प्रतीति उसी तरह नहीं होती, जैसे शशकशृङ्ग की प्रतीति नहीं होती है। इस तरह वह भ्रमस्थल में प्रतीयमान रजत सत् एवं असत् इन दोनों शब्दों से अनिर्वचनीय है। वह अनिर्वचनीय रजत ही शुक्तिकावच्छिन्न चैतन्य में विवर्तित होता है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में इन पाँचों में से कोई भी ख्याति नहीं स्वीकार करके यथार्थख्याति स्वीकार की गयी है। उसका स्वरूप निम्न प्रकार का है।

(६) **यथार्थख्याति**—भ्रमज्ञान के विषय को सत्यता का स्वीकार ही यथार्थ-ख्याति कहलाता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन पूर्णरूप से वैदिक दर्शन है। इस दर्शन के अनुयायी अपनी सारी मान्यताओं का आधार वैदिक वाक्यों को मानते हैं। छान्दो-ग्योपनिषद् की आत्मविद्या-प्रकरण में त्रिवृत्करण-प्रक्रिया की चर्चा आयी है। 'तेषां त्रिवृतं त्रिवृतं करणानि।' इस तरह सृष्टचुन्मुख परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ में पृथिवी, जल एवं तेज की सृष्टि करके उनके त्रिवृत्करण का सत्य संकल्प करता है। परमात्मा के इस त्रिवृत्करण का सत्य संकल्प ही पञ्चीकरण-प्रक्रिया का मूल है। पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी द्रव्यों में सभी द्रव्य मिले हैं। फिर भी स्वांशभूयस्त्व के कारण तत्-तत् द्रव्यों का तत्-तत् नामों से व्यपदेश होता है। तत्-तत् नाम्ना व्यपदेश में भूयस्त्व न्याय का महत्त्व महर्षि बादरायण भी ब्रह्मसूत्रों में देते हैं।

इस पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार शुक्ति में विद्यमान रजत ही प्रतीत होता है। इसलिए शुक्ति में रजत की प्रतीति यथार्थ ही है। इसको भ्रम इसलिए कहते हैं कि शुक्ति में विद्यमान रजत के व्यवहार का बाध होता है। उस रजत के द्वारा आभूषणादि नहीं बनाए जातें हैं। इसलिए जब शुक्ति के भूयस्त्व का ज्ञान हो जाता है तो उस भ्रम का बाध हो जाता है। अतएव भ्रमस्थल में यथार्थख्याति ही होती है।

यथार्थख्याति के आलोक में उपर्युक्त पञ्चख्यातियों का खण्डन—यथार्थ-ख्यातिवादी उपर्युक्त पाँचों ख्यातियों का खण्डन करके यथार्थख्याति का समर्थन करते हैं। श्रीभाष्यकार ने ख्यातियों के खण्डन का दिङ्निर्देश करते हुए कहा कि ख्यात्यन्तर को स्वीकार करने वाले अन्यथाख्याति के चपेट में आ ही जाते हैं। असत्ख्यातिवादी माध्यमिक को भी सारी प्रतीतियाँ सत् रूप से ही होती है, न कि असत् रूप से। असत् रूप से प्रतीतियों को मानने पर भ्रम तथा उसके बाध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। विज्ञानात्मवादी योगाचारों को तो विज्ञानात्मा की ही विज्ञानत्व रूप से प्रतीति न होकर वही प्रपञ्च रूप से प्रतीत होता है। अतएव वे भी अन्यथाप्रतीति की चपेट में आ ही गये। अख्याति का अर्थ है ख्याति का अभाव-विवेक गुण होना। अर्थात् विशिष्ट ज्ञान का अभाव। अन्यथाख्यातिवादियों के ही मत में सर्वप्रथम 'इदं रजतम्' इस भ्रमस्थल में 'इदम्' रूप से शुक्ति का ज्ञान होता है, इसके बाद वहाँ रजत का स्मरण होता है। 'इदं रजतम्' यह विशिष्ट ज्ञान प्रत्यक्ष एवं स्मरण ज्ञान उभयज्ञानमूलक है। अख्यातिवादी प्राभाकर मीमांसकों के मत में तो दूसरे का विशेषण दूसरे के विशेषण रूप से प्रतीत होता है तथा दो ज्ञान एक ज्ञान के रूप में प्रतीत होता है। असत्ख्यातिवादियों के मत में सभी ज्ञान भ्रमात्मक हैं। क्योंकि असत् वस्तुएँ सत् रूप से प्रतीत होती हैं। अनिर्वचनीयख्यातिवादी शुक्ति-रजतस्थल में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति स्वीकार कर लेते हैं। किन्तु वे यह नहीं बतलाते हैं कि उस अनिर्वचनीय रजत का कारण क्या है? रजत की प्रतीति को

उसका कारण इसलिए नहीं माना जा सकता कि रजत ही उस प्रतीति का विषय
है, अतएव रजत की उत्पत्ति के पूर्व वह नहीं हो सकती है। किन्तु कारण कार्य से
पहले होता है, यह नियम है। यह कहना तो अत्यन्त उपहासास्पद है कि निर्विषयिणी
प्रतीति ही उस रजत को उत्पन्न करके पुनः उस रजत को ही अपना विषय बनाती
है। इन्द्रियों के दोष को उसका उत्पादक इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह
पुरुषाश्रित है, वह विषयगत कार्य का उत्पादक नहीं हो सकता है। इन्द्रियाँ तो ज्ञान
के करण हैं, अतएव वे रजत के कारण नहीं बन सकतीं। दूषित इन्द्रियों को भी उस
अनिर्वचनीय रजत का जनक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे भी ज्ञान में विशेषता
ला सकते हैं, विषय में नहीं। इस तरह अनिर्वचनीयख्याति भी उपपन्न नहीं हो
सकती है। हाँ, अख्याति-पक्ष में स्वारस्य अवश्य है, किन्तु इस पक्ष में यह दोष है कि
नैयायिक भ्रमस्थल में प्रत्यक्षमात्र नहीं मानकर वहाँ प्रत्यक्ष एवं स्मरण दो ज्ञानों का
सद्भाव मानते हैं। इसलिए वस्तुतः यथार्थख्याति ही स्वीकार की जानी चाहिए।
प्रतीयमान विषय की सत्यता ही सत्ख्याति है। इस सत्ख्याति का समर्थन उपनिषदों
की त्रिवृत्करण-प्रक्रिया अथवा पञ्चीकरण-प्रक्रिया, जो सभी दार्शनिकों को मान्य है,
के अनुसार होता है।

स्वाप्न ज्ञान की प्रामाणिकता—स्वाप्न ज्ञान के विषय में विचारकों के विविध
विचार हैं। कोई स्वाप्न ज्ञान को मिथ्या मानता है, कोई निरालम्बन तो कोई अनि-
र्वचनीय। किन्तु विशिष्टाद्वैत दर्शन में स्वप्न को सत्य माना जाता है। बृहदारण्य-
कोपनिषद् की श्रुति कहती है—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति। अथ
रथान् रथयोगान् पथः सृजते। न तत्राऽऽनन्दामुदः प्रमुदो भवन्ति। अथानन्दान् मुदः
प्रमुदः सृजते। न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्ति, अथ वेशान्तान् पुष्करिण्यः
स्रवन्त्यः सृजते। स हि कर्ता' (बृ० उ० ६।३।१०)। अर्थात् स्वप्न में न रथ रहते
हैं, न घोड़े, न मार्ग, किन्तु परमात्मा रथ, घोड़े तथा मार्गों की सृष्टि कर देता है।
वहाँ आनन्द, मोद एवं प्रमोद नहीं रहते हैं, किन्तु परमात्मा उन सबों की सृष्टि कर
देता है। वहाँ न भवन होते हैं, न पुष्करिणियाँ और न तो निर्झर, किन्तु परमात्मा
इन सभी की सृष्टि कर देता है। वही जगत् का कर्ता है।' इस श्रुति से स्पष्ट है कि
परमात्मसृष्ट स्वापकालिक विषय भी उसी प्रकार सत्य हैं, जिस तरह जाग्रत्-कालिक
अनुभूयमान विषय।

परमात्मा ही स्वाप्नकालिक विषयों की सृष्टि का कारण है, क्योंकि जीवों द्वारा
किये गये कुछ ऐसे भी पुण्य-पाप कर्म होते हैं, जिनके फल का अनुभव जाग्रत्काल में
नहीं किया जा सकता है। अत एव परमात्मा स्वप्नकाल में ऐसी वस्तुओं की सृष्टि
कर देता है कि वह (स्वप्न देखने वाला) जीवमात्र ही इन वस्तुओं से उत्पन्न सुख-
दुःख का अनुभव कर पाता है, दूसरा कोई नहीं। चूँकि वे स्वप्नकाल में ही उत्पन्न
होते हैं, अत एव स्वप्नकाल-पर्यन्त ही रहते हैं। स्वाप्न पदार्थों की सत्यता का
समर्थन कठोपनिषद् की—'य एषु सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः'

(कठोपनिषद् २।५।८) श्रुति भी करती है। ब्रह्मसूत्रकार भी शारीरक-मीमांसा के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद के प्रथम एवं द्वितीय सूत्रों में स्वाप्न-पदार्थों के स्रष्टृत्व की आशङ्का करके 'मायामात्रं तु कात्स्न्येंनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।' इस सूत्र के द्वारा बतलाते हैं कि परमात्मा ही अपने सत्यसङ्कल्प मात्र से उन आश्चर्यकारी वस्तुओं की सृष्टि कर देते हैं। अतएव स्वप्नकाल में तत्-तत् जीवों द्वारा अनुभूयमान पदार्थ भी सत्य ही है।

'पीतः शङ्खः' इस प्रतीति की सत्यता—जिस व्यक्ति को पीलिया रोग हो जाता है, उसको उजला भी शंख पीला प्रतीत होता है। उसका कारण यह है कि उसकी आँखों की ज्योति निकलते समय पित्त द्रव्य की पीतिमा से संभिन्न हो जाती है। अतएव शंख की धवलिमा उस पित्तगत पीतिमा से अभिभूत होने के कारण उस व्यक्ति को उजला भी शंख पीला प्रतीत होता है। वह अपनी ही आंखों से निकलने तथा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण अपने मात्र से गृहीत होता है, दूसरों को उस पित्त की पीतिमा नहीं प्रतीत होती है। अतएव उसको पीले शंख की होने वाली प्रतीति भी सत्य ही है।

मरु-मरीचिका में जल-ज्ञान की सत्यता—मरु-मरीचिका में भी जल की जो प्रतीति होती है, वह भी प्रतीति सत्य ही है, क्योंकि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सूर्य की किरणों में भी जलांश विद्यमान रहता ही है।

दिग्भ्रम की सत्यता—कभी-कभी ऐसा होता है कि पूर्व दिशा में जाते हुए मनुष्य को भ्रम होता है कि मैं पश्चिम दिशा में जा रहा हूँ। यह ज्ञान भी सत्य ही है, क्योंकि एक दिशा में दूसरी दिशा विद्यमान रहती है। उदाहरणार्थ एक यज्ञशाला के बाहर चारों ओर एक-एक पुरुष खड़े हैं। वह यज्ञशाला पूर्व वाले पुरुष की पश्चिम दिशा में होगी। पश्चिम वाले पुरुष की पूर्व दिशा में और उत्तर वाले पुरुष की दक्षिण दिशा में तथा दक्षिण वाले पुरुष की उत्तर दिशा में वह यज्ञशाला होगी। इससे सिद्ध होता है कि एक दिशा में दूसरी दिशा विद्यमान रहती है। अतः विशिष्टाद्वैत दर्शन में दिशा नामक कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं माना जाता है, जैसा कि वैशेषिक मानते हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन में अवच्छेदक से अतिरिक्त दिशा नामक कोई द्रव्य नहीं है। उदयाचल पर्वत से संयुक्त मूर्तादि पदार्थ ही अवच्छेदक हैं। इसका विस्तृत विवेचन आकाश-निरूपण के प्रसङ्ग में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे।

आलात-चक्र में अन्तराल की अप्रतीति का कारण—अग्नि से जलते हुए काष्ठ इत्यादि को जो चारो तरफ तेजी से घुमाया जाता है, उसे आलात कहते हैं। आलात के चारों तरफ अत्यन्त शीघ्रता से घुमाए जाने पर लगता है कि एक बड़ा अग्नि-ज्वाला का वृत्त बन गया। यद्यपि अग्नि की लपट तो एकत्र ही होती है, किन्तु आलात इतनी शीघ्रता से घुमाया जाता है कि उसके अन्तराल का ग्रहण नहीं होता। अतएव वह चक्र की प्रतीति भी सत्य ही है।

दर्पण में मुखादि-प्रतीति का याथार्थ्य—दर्पण जब हम देखते हैं तो लगता है कि हमारे मुखादि दर्पण में ही हैं। उसका कारण है कि नेत्र से निकली हुई ज्योति दर्पण से टकराकर लौट जाती है तथा द्रष्टा के मुखादि को ग्रहण कर लेती है। इसीलिए द्रष्टा को लगता है कि उसके मुखादि दर्पण के भीतर है। चूँकि ज्योति की गति अत्यन्त तीव्र होती है, अतएव दर्पण एवं मुख के अन्तराल का ग्रहण नहीं होता है। अतएव वह भी प्रतीति यथार्थ ही है।

द्विचन्द्रादि ज्ञानों का याथार्थ्य—जब हम कभी अपनी आँख के कोने को अंगुली से दबाते हैं तो एक ही वस्तु दो दिखने लग जाती है। ऐसे ही जिसकी आँख में तिमिर नामक रोग हो जाता है, उसको भी एक ही वस्तु दो दिखती है। इसका कारण यह है कि अंगुल्यवष्टम्भ अथवा तिमिर रोग के कारण आँख से निकली हुई ज्योति का एक अंश तिरछे जाकर वस्तु को ग्रहण करती है तथा दूसरी सीधे। इसीलिए एक ही वस्तु दो दिखने लग जाती है। चूँकि ग्राहक सामग्री दो है, अतएव वस्तु दो दिखती है। अतएव द्विचन्द्रादि का ज्ञान भी यथार्थ ही है।

प्रथमप्रत्यक्षेणापि भेदविशिष्टस्यैव वस्तुनो ग्रहणम्

एवम्भूतं प्रत्यक्षं प्रथमतो (जात्यादिरूप) भेदविशिष्टमेव गृह्णाति। भेद इति व्यवहारे तु प्रतियोग्यपेक्षा, न तु स्वरूपे(ण)। तेनानवस्था-ऽन्योन्याश्रयदोषोऽपि नास्ति। उपर्युपर्यपेक्षाऽनवस्था। परस्परापेक्षा अन्योन्याश्रयः।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार का प्रत्यक्ष पहले प्रत्यक्ष में भी जाति आदि भेदों से विशिष्ट वस्तु का ही ग्रहण करता है। भेद के व्यवहार में प्रतियोगी की अपेक्षा होती है, स्वरूप में नहीं। इसलिए भेदविशिष्ट वस्तु के ग्रहण में न तो अनवस्था दोष है और न तो अन्योन्याश्रय। अनवस्था उत्तरोत्तर अनन्तापेक्षकत्व रूप होती है तथा अन्योन्याश्रय परस्परापेक्षा रूप।

भा० प्र०—ऊपर साङ्गोपाङ्ग प्रत्यक्ष का निरूपण किया जा चुका है। वह प्रत्यक्ष जाति आदि भेदों से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण करता है। अब यहाँ पर यह शंका होती है कि जाति आदि जो धर्म रूप भेद हैं, उनका स्वरूप से भेद अवश्य होगा, यदि भेद है तो फिर उसका भेद मानना होगा, पुनः उस भेद का भी धर्म मानना होगा। उस धर्म का भी भेद होगा और भेद का धर्म। इस तरह अनन्तापेक्षकत्व रूप अनवस्था होगी। किञ्च—जाति आदि से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होने पर भेद का ग्रहण होगा और भेद का ग्रहण होने पर जाति आदि से विशिष्ट वस्तु का ग्रहण होगा। इस तरह इस मान्यता में अन्योन्याश्रय दोष भी है। इन दो दोषों से दूषित होने के कारण भेद जात्यादिभेदविशिष्ट वस्तु का ग्रहण नहीं स्वीकारा जा सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि भेद के व्यवहार में

प्रतियोगी की अपेक्षा होती है, स्वरूपज्ञान में नहीं। गोत्वादिसंस्थान रूपा जाति ही गवादि के अश्वादि से अभेद ज्ञान के विरोधी ज्ञान के विषय हैं, अतएव अश्वादि से भेद रूप से उनके ग्रहण में प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। अत: जाति आदि स्वपरनिर्वाहक न्याय से व्यावृत्ति रूप धर्मान्तरनिरपेक्ष तथा प्रतियोगीनिरपेक्ष होते हैं। अतएव भेदविशिष्ट वस्तु के प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण में न तो अन्योन्याश्रय दोष है और न तो अनवस्था।

दशमस्त्वमसीति वाक्यजन्यज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः

ननु, दशमस्त्वमसीत्येतदपि प्रत्यक्षं किं न स्यादिति चेन्न। त्वमित्येतस्य प्रत्यक्षत्वेऽपि दशमोऽसीत्येतस्य वाक्यजन्यत्वात्। यदि दशमोऽसीत्यस्य (प्रत्यक्षत्वं) प्रत्यक्षविषयत्वं तर्हि धर्मवांस्त्वमसीत्येतस्यापि प्रत्यक्षत्वं स्यात्। अङ्गीकारेऽतिप्रसङ्गात्। अत एव तत्त्वमसीति वाक्यस्य नापरोक्षज्ञानजनकत्वम्।

अनुवाद—यदि कहा जाय कि 'दसवाँ तू है' इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को भी प्रत्यक्षान्तर्गत क्यों न माना जाय? तो यह नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि 'तू है' इसका प्रत्यक्ष होने पर भी 'तू दसवाँ है' यह ज्ञान वाक्यजन्य ही है। यदि 'तू दसवाँ है' इसको प्रत्यक्ष का विषय माना जाय तो फिर तुम धर्मवान् हो? इस वाक्यजन्य ज्ञान का भी प्रत्यक्षत्व स्वीकारना होगा? और उसको स्वीकार करने में अतिप्रसंग होगा? अतएव 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी अपरोक्ष ज्ञान का जनक नहीं है।

भा० प्र०—'दशमस्त्वमसि' तथा तत्त्वमसि' ये वाक्य अपरोक्ष ज्ञान के जनक नहीं हैं—अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि 'तत्त्वमसि' यह वाक्य अपरोक्ष तत्त्वज्ञान का जनक है। अपने इस कथन की पुष्टि वे एक आख्यायिका के माध्यम से करते हुए कहते हैं। दस व्यक्ति कहीं गये। लौटते समय लोगों ने सोचा हम लोग अपने को गिन तो लें। प्रत्येक व्यक्ति अपने से भिन्न नव व्यक्तियों को गिनता था, किन्तु उसे दसवें व्यक्ति का पता नहीं चलता था, अतएव वे सब उदास हो गये। उनकी उदासी के कारण को जानने वाले उपदेशक पुरुष ने गिनने वालों को समझाते हुए कहा—अरे, 'दसवाँ तू ही है।' इस बात को सुनकर उस व्यक्ति को अपरोक्ष ज्ञान हो गया कि दसवाँ मैं ही हूँ। किस तरह यह लौकिक वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक है, उसी तरह 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी अपरोक्ष ज्ञान का जनक है।

अद्वैती विद्वानों की इस मान्यता का प्रत्याख्यान करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि न तो 'दशमस्त्वमसि' यह वाक्य अपरोक्ष ज्ञान का जनक है और न तो 'तत्त्वमसि' यह वाक्य। क्योंकि 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य के 'त्वम्' के अर्थ का तो श्रोता स्वात्मरूप से साक्षात्कार करता है, किन्तु दशमत्व का वह साक्षात्कार नहीं करता। दशमत्व ज्ञान तो शब्दजन्य होता है। यदि दशमत्व ज्ञान को भी प्रत्यक्षजन्य माना जाय तो 'तुम धर्मवान् हो' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को अपनी धार्मिकता का भी

साक्षात्कार होना चाहिए। किन्तु धर्म का साक्षात्कार कोई भी नहीं स्वीकार करता है। इसी तरह 'तत्त्वमसि' इस वाक्य से भी अपरोक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता है, क्योंकि श्रोता श्वेतकेतु को अहमर्थं का तो साक्षात्कार होता है, किन्तु अपने ब्रह्मात्मकत्व का ज्ञान तो शास्त्रों के द्वारा ही होता है। अतएव वह ज्ञान शाब्द ही है, अपरोक्ष नहीं।

प्रत्यक्षविषयेऽद्वैतिनां नैयायिकानाञ्च मतखण्डनम्

एतेन—प्रत्यक्षप्रमाकरणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रमा (चात्म) चात्र चैतन्यमेव। चैतन्यञ्च त्रिविधम्—अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं, वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्यं, विषयावच्छिन्नचैतन्यं चेति। यदा त्रयाणामैक्यं तदा साक्षात्कारः। तदपि निर्विशेषविषयमेव, अभेदमेव गृह्णातीत्यादिकुदृष्टिकल्पना निरस्ता। निर्विकल्पकं तु नामजात्यादियोजनाहीनं वस्तुमात्रावगाहि किञ्चिदिदमिति ज्ञानमिति नैयायिकानां मतमपि निरस्तम्।

अनुवाद—इस प्रतिपादन से स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष प्रमा के साधकतम को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। यहाँ पर प्रमा शब्द से चैतन्य को ही कहा गया है। चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है—अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य, अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य तथा विषयावच्छिन्न चैतन्य। इन तीनों चैतन्यों की एकता होने पर ही साक्षात्कार होता है। उस प्रत्यक्ष का विषय भी निर्विशेष पदार्थ होता है। वह (प्रत्यक्ष) अभेदमात्र का ग्राहक होता है, इत्यादि कुदृष्टि कल्पनाओं का खण्डन किया गया। निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष नाम एवं जाति आदि के संबन्ध से रहित वस्तुमात्र का ग्राहक होता है। निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष में 'यह कुछ है' इस प्रकार का ज्ञान होता है, इस तरह के नैयायिकों के मत का खण्डन किया गया।

भा० प्र०—अद्वैती विद्वान् प्रत्यक्ष प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमा का करण रूप बतलाकर प्रमा को चैतन्यमात्र बतलाते हैं। वह चैतन्य निर्विशेष है। पुनः वे चैतन्य का तीन भेद मानते हैं—अतःकरणावच्छिन्न चैतन्य, विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य। किसी भी विषय का प्रत्यक्ष तब होता है जब कि ये तीनों चैतन्य एक होते हैं (मिल जाते हैं)। किञ्च अद्वैती विद्वान् प्रत्यक्ष को निर्विशेष वस्तु का ग्राहक बतलाते हैं। उसके द्वारा वस्तु की जाति आदि भेदों का ग्रहण नहीं होता है, किन्तु ये सभी बातें अद्वैती विद्वानों की कुदृष्टिजन्य कल्पनामात्र हैं। अतएव विशिष्टाद्वैत दर्शन में उनकी इनमें से कोई भी मान्यता नहीं स्वीकारी जाती।

इसी तरह नैयायिक भी मानते हैं कि निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष के द्वारा नाम, जाति आदि के संबन्ध से रहित वस्तुमात्र का ग्रहण होता है। इस प्रत्यक्ष में 'यह कुछ है' इतना ही मात्र ज्ञात हो पाता है। यह क्या है, इसका नाम क्या है ? इत्यादि का

ज्ञान नहीं होता। अतएव नैयायिकों के निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष-विषयक इस मान्यता का भी सिद्धान्त में खण्डन किया जाता है।

नैयायिकानां बहिष्कारपक्षः

ननु 'काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्' इत्युक्तत्वात् कथं गौतममतनिरास इति चेत्, उच्यते; न खलु (नास्माभिः) कार्त्स्न्येनास्य मतस्य निरासः क्रियते। यावदिह युक्तियुक्तं तावत्स्वीक्रियते, परकल्पिततटाकोपजीवनवत्। न खलु तटाकस्थपङ्कोऽपि स्वीक्रियते। अतः परमाणुकारणत्वम्, वेदपौरुषेयत्वम्, ईश्वरानुमानिकत्वम्, जीवविभुत्वम्, सामान्यविशेषसमवायानां पदार्थत्वेन स्वीकारः, उपमानादेः पृथक् प्रमाणत्वकल्पनम्, सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वादीनां पृथग्गुणत्वकल्पनम्, दिशोऽपि द्रव्यत्वकल्पनमित्यादिसूत्रकारादिविरुद्धप्रक्रिया नास्माभिः स्वीक्रियते। अविरुद्धानि तु स्वीक्रियन्त इति न विरोधः।

इति श्रीवाधूलकुलतिलकश्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां
प्रत्यक्षनिरूपणं नाम प्रथमोऽवतारः॥

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि वैशेषिक (न्याय) तथा व्याकरणशास्त्र सभी शास्त्रों के उपकारक है, इस सूक्ति के रहते आप गौतम के मत का खण्डन कैसे करते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि हम लोग पूर्णरूप से गौतम के मत का खण्डन नहीं करते; अपितु गौतम के मत का जितना अंश युक्तिसंगत है, उतना ही स्वीकार करते हैं, दूसरे के द्वारा बनाये गये सरोवर के जल के समान। प्यासा व्यक्ति उस सरोवर के जल मात्र को पीता है, उसके कीचड़ को भी वह नहीं पी लेता, वैसे ही हम गौतम के मत के असंगत विचारों को स्वीकार नहीं करते हैं। अतएव हम वैशेषिकों के परमाणुकारणवाद, वेदों की अपौरुषेयता, ईश्वर का अनुमानप्रमाण समधिगम्यत्व, जीवों को विभु मानना, सामान्य (जाति) विशेष तथा समवाय को पृथक्-पृथक् पदार्थ मानना, उपमान आदि को पृथक् प्रमाण मानना, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व तथा द्रवत्व आदि के पृथक्-पृथक् गुण की कल्पना करना, दिशा को भी एक स्वतंत्र द्रव्य स्वीकार करना, ये सभी सूत्रकार आदि के विरुद्ध प्रक्रियाएँ हैं। अतएव हम इन्हें स्वीकार नहीं करते हैं। सूत्रकार इत्यादि की अनुकूल मान्यताओं को तो हम स्वीकार करते ही हैं। अतएव परिहार में भी कोई विरोध नहीं है।

इस प्रकार हारीत-कुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रथम शिष्य श्रीनिवासाचार्य
द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का प्रत्यक्ष-
निरूपण नामक प्रथम अवतार पूर्ण हुआ॥१॥

अथ द्वितीयोऽवतारः

अनुमानलक्षणम् अनुमितिलक्षणञ्च

अथानुमानं निरूप्यते। व्याप्यस्य व्याप्यत्वानुसन्धानात् व्यापकविशेष-प्रमितिरनुमितिः। तत्करणमनुमानम्। व्याप्यस्य—धूमस्य, अग्निव्याप्य-त्वानुसन्धानात् व्यापकविशेषप्रमितिर्वह्निप्रमितिः।

अनुवाद—प्रत्यक्ष के निरूपण के पश्चात् अनुमान का निरूपण किया जाता है। व्याप्य के व्याप्यत्वानुसंधान हेतु के द्वारा व्यापकविशेष की प्रमा को अनुमिति (अनुमान ज्ञान) कहते हैं। उस अनुमिति का साधकतम अनुमानप्रमाण है। जैसे—व्याप्य धूम की अग्नि के व्याप्यत्वानुसंधान के द्वारा व्यापकविशेष की प्रमिति (प्रमा) रूप अग्निविशेष की प्रमिति को अनुमिति कहते हैं।

भा० प्र०—प्रमाणों में सर्वश्रेष्ठ प्रत्यक्षप्रमाण का निरूपण किया जा चुका है। इस द्वितीय अवतार में अनुमानप्रमाण का निरूपण किया जा रहा है। व्याप्य हेतु को कहते हैं। व्यापक साध्य को कहते हैं। हेतु में साध्यनिरूपित व्याप्यत्व रहता है। हेतु के इस साध्यनिरूपित व्याप्यत्व ज्ञान के द्वारा पक्ष में रहने वाले व्यापक-विशेष की जो प्रमिति (प्रमा ज्ञान) होती है, उसी प्रमिति को अनुमिति कहते हैं। उस अनुमिति के करण को अनुमानप्रमाण कहते हैं। जैसे—वह्नि के व्याप्यभूत धूम में व्याप्यत्व का अनुसंधान करके पर्वतादि पक्षों में अग्निविशेष रूपी व्यापकविशेष की प्रमिति ही अनुमिति है।

व्याप्तिनिरूपणम्

अनधिकदेशकालनियमं (तं) व्याप्यम्। अन्यूनदेशकालवृत्ति व्यापकम्। तदिदमविनाभूतं व्याप्यम्, तत्प्रतिसम्बन्धि व्यापकमिति। तेन निरुपा-धिकतया नियतसम्बन्धो व्याप्तिरित्युक्तं भवति। सेयं यत्र धूमस्तत्र वह्नि-रिति व्याप्तिर्भूयोदर्शनेन गृह्यते। व्याप्तिर्द्विधा—अन्वयव्यतिरेकभेदात्। साधनविधौ साध्यविधिरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिरन्वयव्याप्तिः। यथा—यो यो धूमवान् स सोऽग्निमानिति। साध्यनिषेधे साधननिषेधरूपेण प्रवृत्ता व्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिः। यथा—योऽनग्निः स निर्धूम इति। सेयमुभय-विधा व्याप्तिरुपाधिसम्भवे दुष्टा।

अनुवाद—व्याप्य साध्य की अपेक्षा अधिक देश तथा अधिक काल में नहीं रहता है। व्यापक व्याप्य की अपेक्षा न्यूनदेश अथवा न्यूनकाल में नहीं रहता है। व्याप्य व्यापक का अविनाभूत है। अर्थात् व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रहता है। व्यापक व्याप्य का प्रतिसंबंधी होता है। व्याप्य से व्यापक का उपाधिरहित संबंध व्याप्ति कहलाती है। उस व्याप्ति का ग्रहण; जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है; इस प्रकार

बार-बार देखने से होता है। व्याप्ति दो प्रकार की होती है—अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति। साधन का सद्भाव बतलाकर साध्य का सद्भावप्रतिपादनपुरस्सर गृहीत की जाने वाली व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। जैसे—जो-जो धूम वाला होता है, वह-वह अग्नि वाला होता है। साध्य का निषेध करके साधन का निषेधपूर्वक गृहीत की जाने वाली व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति कहलाती है। जैसे—जो-जो अग्निरहित होता है, वह निर्धूम होता है। यह दोनों प्रकार की व्याप्ति उपाधि के रहने पर दूषित हो जाती है।

भा० प्र०—अनुमान के लिए व्याप्य एवं व्यापक के स्वरूप का ज्ञान अपेक्षित है। व्याप्य को न्याय की भाषा में हेतु तथा लिङ्ग भी कहा जाता है। व्यापक को साध्य तथा लिङ्गी भी कहा जाता है। साध्य उसे कहते हैं, जिसको अनुमान द्वारा सिद्ध किया जाता है। जैसे—पर्वत में दृश्यमान धूम के द्वारा सिद्ध की जाने वाली अग्नि साध्य है। हेतु, साधन, व्याप्य अथवा लिङ्ग उसे कहते हैं, जो साध्य का साधक होता है। व्याप्य का स्वरूप है कि वह व्यापक के समान अथवा न्यून देश तथा काल में रहता है। व्यापक की अपेक्षा अधिक देश अथवा उससे अधिक काल में व्याप्य नहीं रहता है। व्यापक व्याप्य के समान देश अथवा समान काल में रहता है। अथवा उससे अधिक देश एवं अधिक काल में रहता है। व्यापक कभी भी व्याप्य की अपेक्षा न्यून देश अथवा न्यून काल में नहीं रहता है। व्याप्य का स्वभाव है कि वह व्यापक का अविनाभूत है। **'न विना अविना तथाभूतम् अविनाभूतम्'** यह अविनाभूत शब्द की व्युत्पत्ति है। अर्थात् व्याप्य बिना व्यापक के रहता ही नहीं। जहाँ अग्नि होगी वहीं धूम होगा, अग्नि के बिना धूम रह ही नहीं सकता है, क्योंकि धूम अग्नि का अविनाभूत है। और जिसके बिना व्याप्य नहीं होता, वह व्यापक कहलाता है; जैसे—अग्नि धूम का व्यापक है। अतएव व्यापक अविनाभूत (व्याप्य) का प्रतिसंबंधी होता है। अर्थात् वह हेतु में रहने वाले अविनाभाव का निरूपक होता है।

अनुमिति के लिए व्याप्तिज्ञान का होना अनिवार्य है। बिना व्याप्तिज्ञान के अनुमान नहीं किया जा सकता है। व्याप्य के साथ व्यापक का अव्यभिचरित संबंध ही व्याप्ति है। एकत्राव्यवस्था को व्यभिचार कहते हैं। अर्थात् नियमनिपात या नियम के भंग को व्यभिचार कहते हैं। व्यभिचार से रहित संबंध को अव्यभिचरित सम्बन्ध कहते हैं। धूम और अग्नि का अव्यभिचरित सम्बन्ध है। अव्यभिचरित सम्बन्ध को ही नियत सम्बन्ध कहते हैं। अव्यभिचरित सम्बन्ध को ही निरुपाधिक सम्बन्ध कहते हैं। उपाधि रहने पर ही व्याप्ति दूषित होती है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ वह्नि अवश्य होती है। इस प्रकार का ज्ञान ही व्याप्तिग्रह कहलाता है। व्याप्तिग्रह का अर्थ है व्याप्ति का ज्ञान।

व्याप्तिग्रह—व्याप्तिग्रह के विषय में विचारकों के दो प्रकार के मत हैं। कुछ लोग भूयो-भूयो साहचर्य दर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। जैसे किसी ने बार-

बार महानस (रसोईघर) गोष्ठ तथा चत्वर इत्यादि स्थलों में देखा है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ आग अवश्य होती है। इस भूयो-भूयो साहचर्य दर्शन के बल पर वह निश्चित करता है कि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। दूसरे प्रकार के लोग भूयो-भूयो साहचर्य दर्शन का महत्त्व न देकर नियत साहचर्य दर्शन को व्याप्ति का ग्राहक मानते हैं। वे देखते हैं कि धूम और अग्नि का साहचर्य नियत है, अतएव धूम अग्नि का व्याप्य है। दोनों में होने वाला सम्बन्ध व्याप्ति सम्बन्ध कहलाता है। व्याप्ति सम्बन्ध को ही अव्यभिचरित सम्बन्ध, ऐकान्तिक सम्बन्ध तथा अविनाभाव सम्बन्ध भी कहते हैं।

व्याप्ति के भेद—यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है—अन्वयव्याप्ति और व्यतिरेकव्याप्ति।

अन्वयव्याप्ति—'अन्वयमधिकृत्य प्रवृत्ता व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिः' यह अन्वयव्याप्ति की व्युत्पत्ति है। अन्वय को लेकर होने वाली व्याप्ति अन्वयव्याप्ति कहलाती है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्' यह अन्वय का स्वरूप है। अर्थात् व्याप्य के रहने पर व्यापक का रहना अन्वय कहलाता है। अतएव व्याप्य के सद्भाव को बतलाकर व्यापक के सद्भाव-प्रतिपादनपूर्वक गृहीत होने वाली व्याप्ति अन्वयव्याप्ति है। जैसे—धूम के सद्भाव को देखकर अग्नि के सद्भाव का प्रतिपादनपूर्वक गृहीत होने वाली व्याप्ति। उदाहरणार्थ—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' यह अन्वयव्याप्ति का उदाहरण है।

व्यतिरेकव्याप्ति—'व्यतिरेकं प्रकृत्य प्रवृत्ता व्याप्तिः' यह व्यतिरेकव्याप्ति की व्युत्पत्ति है। अर्थात् व्यतिरेक को आधार बनाकर होने वाली व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। 'तद्भावे तदभावो व्यभिचारः। साध्याभावे साधनाभावो व्यभिचारः।' अर्थात् जिस व्याप्ति में साध्य का अभाव बतलाकर साधन का अभाव बतलाया जाय, वह व्यतिरेक-व्याप्ति है। जैसे—अग्नि के अभाव को बतलाकर धूम का अभाव प्रतिपादित करना व्यतिरेकव्याप्ति है। जैसे—'योऽग्निः सो निर्धूमः'। जो अग्नि से रहित होता है, वह धूमरहित होता है, यह व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार की व्याप्तियाँ उपाधि के रहने पर दूषित मानी जाती हैं।

उपाधिनिरूपणम्

साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः। यथा—वह्निना धूमे साध्यमाने आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। मैत्रीतनयत्वेन श्यामत्वे साध्यमाने शाकपाकजत्वमुपाधिः। स चोपाधिर्द्विविधः—निश्चितः शङ्कितश्चेति। निश्चितो यथा—विप्रतिपन्ना सेवा दुःखहेतुः, सेवात्वात्, राजसेवावत् इत्यत्र पापारब्धत्वमुपाधिः। अयं चेश्वरसेवायां नास्तीति निश्चयादयं निश्चितो-पाधिः। शङ्कितो यथा—विप्रतिपन्नो जीव एतच्छरीरावसाने मुक्तिमान्, निष्पन्नसमाधित्वात्, शुकादिवदित्यत्र कर्मात्यन्तपरिक्षय उपाधिः। स च

निष्पन्नसमाधौ विप्रतिपन्ने जीवे अस्ति (वा) नास्तीति सन्दिग्धत्वाच्छङ्कितोपाधिः। अतो निरुपाधिकसम्बन्धवद्व्याप्यमिति सिद्धम्।

अनुवाद—जो साध्य में व्यापक रहते हुए साधन में व्यापक न हो, उसे उपाधि कहते हैं। जैसे—वह्नि रूपी साधन के द्वारा धूम रूपी साध्य की सिद्धि में आर्द्रेन्धन-संयोग उपाधि है। 'जो मैत्री का पुत्र होता है वह श्याम वर्ण का होता है' यहाँ पर शाकपाकजत्व उपाधि है। वह उपाधि दो प्रकार की होती है—निश्चित एवं शंकित। निश्चित उपाधि का उदाहरण है—विवादास्पद सेवा दुःखद होती है, क्योंकि वह सेवा राजा की सेवा के समान है। यहाँ पर पापारब्धत्व उपाधि है। किन्तु दुःखप्रदत्व ईश्वर की सेवा में नहीं है, यह निश्चय हो जाने से निश्चितोपाधि है। शंकितोपाधि का उदाहरण है—विवादास्पद जीव इस शरीर की समाप्ति पर मुक्ति प्राप्त कर लेगा, क्योंकि उसकी समाधि शुक आदि के समान निष्पन्न हो गयी है। यहाँ पर कर्मों का अत्यन्त विनाश ही उपाधि है। वह कर्मों का आत्यन्तिक विनाश इस निष्पन्न समाधि वाले जीव का हो चुका है कि नहीं? यह सन्दिग्ध है, अतएव यह शंकितोपाधि का उदाहरण है। अतएव सिद्ध हुआ कि उपाधिरहित सम्बन्ध वाला ही व्याप्य होता है।

भा० प्र०—उपाधि का स्वरूप—ऊपर कहा जा चुका है कि उपाधि के द्वारा व्याप्ति दूषित हो जाती है। अब प्रश्न उठता है कि उपाधि का स्वरूप क्या है? तो इसका उत्तर देते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—'साध्यव्यापकत्वे०' इत्यादि। अर्थात् जो साध्य में व्यापक रहते हुए साधन में अव्यापक हो, उसको उपाधि कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि जहाँ-जहाँ अग्नि रहती है वहाँ-वहाँ धूम रहता है। इस कथन में आर्द्रेन्धनसंयोग उपाधि है, क्योंकि ऐसा देखा जाता है कि जहाँ धूम नहीं होता हैं वहाँ भी अग्नि रहती है। जैसे जलते हुए निर्धूम अंगारे में अग्नि तो रहती है किन्तु वहाँ धूम नहीं रहता। धूम तो तब तक ही अग्नि से निकलता है, जब तक इन्धन आर्द्र रहता है। यह आर्द्रेन्धनसंयोग ही अग्नि से धूम निकलने का कारण है। यह आर्द्रेन्धनसंयोग उपर्युक्त वाक्य के साध्यभूत धूम में तो व्यापक है, किन्तु उस धूमरूपी साध्य के हेतु अग्नि में व्यापक नहीं है। क्योंकि निर्धूम अग्नि में आर्द्रेन्धन-संयोग नहीं है। इसी तरह मैत्री के श्यामवर्ण के एक पुत्र को देखकर यह सिद्ध करना कि 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्।' तो यह भी कथन ठीक नहीं है। क्योंकि श्यामवर्ण के मैत्री के पुत्र श्यामवर्ण के ही हों, यह कोई नियम नहीं है। जो माता गर्भकाल में अधिक शाकों को खाती है, उसके पुत्र श्यामवर्ण के हैं। अतएव इस व्याप्ति-वाक्य में शाकपाकजत्वोपाधि है। यह शाकपाकजत्व उक्त व्याप्ति-वाक्य के साध्यभूत श्यामवर्णत्व में तो व्यापक है, किन्तु उस श्यामवर्णत्व के साधक मैत्रीतनयत्व में अव्यापक है।

उपाधि के दो भेद—उपाधि दो प्रकार की होती है—निश्चितोपाधि और शंकितोपाधि।

निश्चितोपाधि—किसी ने सिद्ध करना चाहा—सभी सेवाएँ दुःखद होती हैं, क्योंकि वे सेवा राजा की सेवा के समान हैं। इस कथन में पापारब्धत्व उपाधि है। क्योंकि किसी पापविशेष के ही कारण जीव राजा का अनुचर बन कर उसकी सेवा करता है। राजा की सेवा में कष्ट भी बहुत अधिक होता है। इसी तरह सांसारिक सभी सेवाएँ जो अर्थ और काम की प्राप्ति के लिए की जाती हैं, तत्-तत्प्रकारक पापादृष्टजन्य ही है। अतएव वे सभी सेवाएँ दुःखद हैं, किन्तु यह दुःखप्रदत्व श्रीभगवान् की सेवा में नहीं पाया जाता। श्रीपरमात्मा की सेवा में दुख नहीं सुख मिलता है। परमात्मा की सेवा करने में प्रवृत्ति भी किसी महान् पुण्यादृष्ट का परिणाम है। अतएव सेवा के दुःखप्रदत्व में पापारब्धत्वोपाधि है। यह पापारब्धत्व दुःखप्रदत्व में व्यापक होते हुए भी सभी सेवाओं में अव्यापक है। किञ्च यह भी निश्चित रहता है कि परमात्मा की सेवा में पापारब्धत्व नहीं हैं। अतएव यह निश्चितोपाधि का उदाहरण है।

शंकितोपाधि—इस जीव को इस शरीर की समाप्ति के पश्चात् मुक्ति मिलेगी, क्योंकि इसको शुक आदि के समान समाधि लग गयी है। इस कथन में कर्मों का आत्यन्तिक विनाश उपाधि है। क्योंकि मुक्ति उसको मिलती है, जिसके सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। निष्पन्नसमाधित्व के कारण नहीं, किञ्च इस निष्पन्नसमाधि वाले जीव के सभी कर्मों का आत्यन्तिक विनाश हो गया है कि नहीं? यह संदिग्ध है। यह कर्मों का आत्यन्तिक विनाश मुक्तिमत्व रूप साध्य में तो व्यापक है, किन्तु उसके साधन निष्पन्नसमाधित्व में अव्यापक है। अतएव यह शंकितोपाधि का उदाहरण है।

इस तरह सिद्ध हुआ कि अनुमान का वही व्याप्य सद्व्याप्य होता है, जिसका व्यापक के साथ निरुपाधिक सम्बन्ध होता है।

व्याप्यनिरूपणम्

व्याप्यं साधनम्, लिङ्गमित्यनर्थान्तरम्। तस्य द्वे रूपे—अनुमित्यङ्गभूते व्याप्तिः पक्षधर्मता चेति। पञ्च रूपाण्यपि सन्ति, तानि च—पक्ष-(व्यापकत्वम्)धर्मत्वम्, (सत्त्वम्), सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति। सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः। यथा—अग्निमत्त्वादिसाधने पर्वतादिः। सिषाधयिषितधर्मसजातीयधर्मवान् सपक्षः। यथा—महानसादिः। साध्यतज्जातीयशून्यो विपक्षः। यथा—महाह्रदादिः। प्रबलप्रमाणेन पक्षे निश्चितसाध्याभाववत्त्वं बाधितविषयत्वम्। यथा—महाह्रदो अग्निमानित्यादिः। तदभाववत्त्वमबाधितविषयत्वम्। समबलतया प्रतीयमानप्रमाणोपरोधाभावोऽसत्प्रतिपक्षत्वम्।

अनुवाद—व्याप्य, साधन तथा लिङ्ग, ये तीनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। अनुमिति के अङ्गभूत व्याप्य के दो रूप होते हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्य के

पाँच रूप भी होते हैं—पक्ष में धर्मरूप से रहना, सपक्ष में पाया जाना, विपक्ष में रहना, अबाधितविषयत्व तथा असत्प्रतिपक्षत्व। अनुमान के द्वारा जिस धर्म को सिद्ध करना अभिप्रेत होता है उस धर्म से जो विशिष्ट होता है, उसे पक्ष कहते हैं। जैसे—अग्निमत्त्व आदि की सिद्धि में पर्वतादि पक्ष हैं। सिषाधयिषित धर्म के सजातीय धर्म से जो विशिष्ट धर्मी होता है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे—महानस आदि। विपक्ष उसे कहते हैं, जो साध्य तथा साध्य के सजातीय धर्म से रहित होता है। जैसे—महाह्रद (महासरोवर) आदि। प्रबल प्रमाण के द्वारा पक्ष में साध्य के अभाव का निश्चित हो जाने को बाधितविषयत्व कहलाता है। जैसे—प्रत्यक्ष रूपी प्रबल प्रमाण से सिद्ध है कि महाह्रद में अग्नि का अभाव है। अतएव महाह्रद में व्याप्य की बाधितविषयता है। व्याप्य की बाधितविषयता का न होना ही अबाधितविषयत्व है। समान रूप से बलवान् प्रतीत होने वाले प्रमाण के द्वारा व्याप्य में किसी प्रकार के उपरोध के न होने को असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं।

भा० प्र०—व्याप्य के दो रूप बतलाये जाते हैं, जो अनुमान ज्ञान के अङ्ग हैं—व्याप्ति और पक्षधर्मता। व्याप्ति व्याप्य और व्यापक की नियतसाहचर्य रूपा होती है, इस अर्थ का विवेचन हम पीछे कर चुके है।

पक्षधर्मता—व्याप्य का दूसरा रूप तथा अनुमिति का अङ्ग पक्षधर्मता है। पक्ष में व्याप्य का धर्म रूप से पाया जाना ही व्याप्य की पक्षधर्मता है। 'व्याप्यस्य पक्ष-वृत्तित्वं पक्षधर्मता'। अर्थात् अग्नि-व्याप्य धूम की पर्वत रूपी पक्ष में विद्यमानता ही व्याप्य की पक्षधर्मता है। इस पक्षधर्मता का ज्ञान हुए बिना व्याप्ति का ज्ञान होने पर भी व्याप्य के द्वारा व्यापक की सिद्धि नहीं हो सकती है। जैसे—जब तक हम यह नहीं जान लें कि पर्वत धूमवान् है, तब तक हम यह कैसे कह सकते हैं कि पर्वत अग्निमान् है। अतएव व्याप्ति के ज्ञान के साथ-साथ अनुमान के लिए पक्षधर्मता का ज्ञान होना अनिवार्य है।

व्याप्य के पाँच रूप—अनुमिति के अङ्गभूत व्याप्य के पाँच रूप भी स्वीकार किये जाते हैं—

पक्षधर्मवत्वम्—अर्थात् धूमादि व्याप्य का पर्वतादि पक्षों में धर्म रूप से रहना।

सपक्षसत्त्वम्—व्याप्य का पक्ष के सदृश धर्म वाले धर्मी में पाया जाना।

विपक्षव्यावृत्तत्वम्—विपक्ष में व्याप्य का नहीं पाया जाना।

अबाधितविषयत्वम्—व्याप्य के साध्यभूत विषय का बाधित नहीं होना।

असत्प्रतिपक्षत्वम्—प्रतिपक्ष का न होना।

(क) पक्षधर्मवत्व—यहाँ पर इन रूपों की सामान्य चर्चा आवश्यक है। 'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्वात्' इस अनुमान-वाक्य का साध्य है अग्निमत्व। साध्य को ही सिषाधयिषित धर्म कहते हैं। 'साधयितुम् इषितम्' यह 'सिषाधयिषितम्' का अर्थ है। इस सिषाधयिषित धर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं। यहाँ अग्निमत्व रूप सिषा-धयिषित धर्म से विशिष्ट धर्मी पर्वत है, अतएव वही पक्ष हुआ। उस पक्ष में व्याप्य

का धर्म रूप से प्रतीत होना ही व्याप्य का पक्षधर्मवत्व कहलाता है। पर्वत के अग्निमत्व की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि पर्वत के धूमवत्व का ज्ञान हो, बिना पर्वत में धूम को देखे उसके अग्निमान् होने का अनुमान नहीं किया जा सकता है। यही व्याप्य का पक्षधर्मवत्व कहलाता है।

(ख) **सपक्षसत्त्वम्**—सिषाधयिषित धर्म के सदृश धर्म से जो विशिष्ट धर्मी होता है, उसे सपक्ष कहते हैं। जैसे—यहाँ सिषाधयिषित धर्म अग्निमत्त्व है, उसके सदृश ही अग्निमत्त्व से विशिष्ट धर्मी महानस आदि हैं। उन महानस आदि में भी वह्नि से व्याप्य धूम पाया जाता है। अतएव इस व्याप्य में सपक्षसत्त्व अव्याहत है।

(ग) **विपक्षव्यावृत्तत्व**—साध्य तथा साध्य के सजातीय धर्मों से शून्य विपक्ष होता है। उस विपक्ष में व्याप्य का न पाया जाना ही विपक्षव्यावृत्तत्व कहलाता है। जैसे—प्रकृत साध्य अग्निमत्त्व तथा उसके सदृश धर्म से रहित जो महाह्लद है, उसमें वह्नि के व्याप्यभूत धूम की सत्ता नहीं पायी जाती है। यही उसका विपक्षव्यावृत्तत्व है।

(घ) **अबाधितविषयत्व**—प्रबल प्रमाण के द्वारा पक्ष में साध्य के अभाव का निश्चित हो जाना ही बाधितविषयत्व है। जैसे—'महाह्लदोऽग्निमान्' इस वाक्य के द्वारा महाह्लद में अग्नि की सत्ता सिद्ध करना ही साध्य है। किन्तु महाह्लद में अग्नि की सत्ता प्रत्यक्षतः बाधित है, जो अनुमान की अपेक्षा प्रबल प्रमाण है। अत एव उसका साधक धूमवत्त्व भी बाधित है। किन्तु पर्वत को अग्निमत्त्व का साधक धूम तो अबाधित विषय वाला है। 'पर्वतोऽवह्निमान्, धूमवत्त्वात्' इस अनुमान के हेतु में अबाधितविषयता है।

(ङ) **असत्प्रतिपक्षत्व**—अर्थात् प्रतिपक्ष का न रहना। साध्य के विपरीत अर्थ के साधक समान बल वाले दूसरे हेतु को प्रतिपक्ष कहते हैं। उस प्रकार के हेत्वन्तर के रहने को सत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं। जैसे किसी ने कहा—मही, महीधर आदि सकर्तृक हैं, क्यों कि वे कार्य हैं। इस सकर्तृकत्व साध्य के विपरीत अकर्तृकत्व का साधक दूसरा हेतु अकार्यत्व मही-महीधरादि में हैं। जैसे—मही, महीधर आदि अकर्तृक हैं, क्योंकि वे कार्य नहीं हैं। अतएव उपर्युक्त अनुमान का साधक कार्यत्व हेतु सत्प्रतिपक्षित है। किन्तु पर्वत में अग्निमत्त्व का साधक धूमवत्त्व हेतु असत्प्रतिपक्षत्व से युक्त है।

व्याप्यभेदौ

एवम्भूतं व्याप्यं द्विविधम्—अन्वयव्यतिरेकि-केवलान्वयिभेदात्। पूर्वोक्तपञ्चरूपोपपन्नं व्याप्यमन्वयव्यतिरेकि। यथा—पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा—महानसः। योऽनग्निस्स निर्धूमः, यथा—ह्रद इति। तादृशमेव विपक्षरहितं व्याप्यं केवलान्वयि। यथा—ब्रह्मशब्दवाच्यं वस्तुत्वात्, घटवत्। विपक्षाभावात् केवलान्वयि

चतूरूपोपपन्नम्। केवलव्यतिरेकिणि साध्याप्रसिद्धेः तद्व्यतिरेकव्याप्ति-दुर्ग्रहा। अतः केवलव्यतिरेकिनिरासः। केवलान्वयिनि अन्वयव्यतिरेकिणि चात्यन्तातीन्द्रियार्थगोचरता निरस्ता।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार का व्याप्य दो प्रकार का होता है—अन्वयव्यतिरेकी और केवलान्वयी। पूर्वोक्त पाँच रूपों से सम्पन्न व्याप्य अन्वयव्यतिरेकी व्याप्य होता है। जैसे—पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमवाला है। जो-जो धूमवाला होता है, वह-वह अग्नि वाला होता है; जैसे—महानस। जो अग्निरहित होता है वह निर्धूम होता है; जैसे—ह्रद। उपर्युक्त प्रकार का ही विपक्ष रहित व्याप्य जैसे ब्रह्म शब्दवाच्य है, क्योंकि वह वस्तु है, जैसे—घट। विपक्ष के न होने के कारण केवला-न्वयी व्याप्य के चार ही रूप होते हैं। केवलव्यतिरेकी हेतु का साध्य अप्रसिद्ध होता है, अतः उसका व्याप्तिग्रह हो सकना कठिन है। अतएव सिद्धान्त में केवलव्यतिरेकी अनुमान नहीं स्वीकारा जाता है। किञ्च सिद्धान्त में केवलान्वयि तथा अन्वयव्य-तिरेकी अनुमान के द्वारा अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ की भी अनुमिति नहीं स्वीकार की जाती है।

भा० प्र०—व्याप्य के आधार पर अनुमान के दो भेद सिद्धान्त में स्वीकार किये जाते है—अन्वयव्यतिरेकी तथा केवलान्वयी। अन्वयव्यतिरेकी अनुमान का व्याप्य उपर्युक्त पाँचों रूपों से सम्पन्न होता है, अतएव उसे सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं।

केवलान्वयी अनुमान—इसमें केवल अन्वयव्याप्ति का ही ग्रहण होता है। जैसे—ब्रह्म शब्दवाच्य है, क्योंकि वह घट के समान वस्तु है। जो-जो वस्तु वस्तु होती है, वह-वह शब्दवाच्य अवश्य होता है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जो शब्दवाच्य न हो, अतएव यहाँ विपक्ष कुछ है ही नहीं। विपक्ष के न होने से इसमें व्यतिरेकव्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इसीलिए केवलान्वयी हेतु भी विपक्षव्यावृत्तत्व नामक रूप से रहित होने के कारण अपने चार रूपों से ही युक्त होता है।

केवलव्यतिरेकी अनुमान—नैयायिक केवलान्वयी अनुमान के ही समान केवल-व्यतिरेकी अनुमान को भी स्वीकार करते हैं! वे कहते हैं कि जिस तरह केवलान्वयी अनुमान का केवलान्वयी हेतु चार रूपों से ही सम्पन्न होकर अपने साध्य को सिद्ध करता है, उसी तरह केवलव्यतिरेकी हेतु भी अपने चार रूपों से सम्पन्न होकर अपने साध्य का साधक होता है। केवलान्वयी हेतु में जिस तरह विपक्षव्यावृत्तत्व नहीं पाया जाता है, उसी तरह केवलव्यतिरेकी हेतु में सपक्षसत्त्व नहीं पाया जाता है। जिस तरह केवलान्वयी में केवल अन्वयव्याप्ति गृहीत होती है, उसी तरह केवल-व्यतिरेकी में केवल व्यतिरेकव्याप्ति ही गृहीत होती है। जिस तरह केवलान्वयी हेतु का विपक्ष नहीं होता, उसी तरह केवलव्यतिरेकी हेतु का सपक्ष नहीं होता है। अत एव केवलान्वयी अनुमान के ही समान केवलव्यतिरेकी अनुमान को भी स्वीकार

करना चाहिए। केवलव्यतिरेकी अनुमान का स्वरूप निम्न है—जीव आत्मा है, क्योंकि वह चैतन्यवान् है। जो चैतन्यवान् नहीं होता वह आत्मा नहीं होता; जैसे—घट। यहाँ सब कुछ पक्षान्तर्गत होने के कारण सपक्ष मिलता ही नहीं। अतएव केवलव्यतिरेकी का साध्य अप्रसिद्ध अर्थात् अनिश्चित होता है। प्रकृत अनुमान के पक्ष के अन्तर्गत सभी चैतन्यवान् पदार्थ पक्षान्तर्गत हैं, उसका विपक्ष सभी जड पदार्थ हैं। किन्तु उसका ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जहाँ साध्य का निश्चय हुआ हो। यही इस अनुमान का दोष है। इसी दोष के चलते विशिष्टाद्वैती केवलव्यतिरेकी अनुमान को स्वीकार नहीं करते हैं। क्योंकि इसका साध्य ही अप्रसिद्ध है। साध्य की अप्रसिद्धि बहुत बड़ा दोष है। नैयायिक विद्वान् केवलव्यतिरेकी हेतु को अवीत हेतु भी कहते हैं। अवीत हेतु की व्युत्पत्ति है—'वीतः—विशेषेण इतः भूयः साध्यवद् देशस्थितः अन्वयव्याप्तिभावहेतुः। तद्भिन्नो हेतुः अवीतहेतुः—केवलव्यतिरेकिव्याप्तिमान् हेतुः।'

नैयायिक विद्वान् केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओं के द्वारा ईश्वर को सिद्ध करके ईश्वर को अनुमानप्रमाणैकसमधिगम्य सिद्ध करते हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि ईश्वर अत्यन्त अतीन्द्रियपदार्थ है। उसका ग्रहण न तो केवलान्वयी अनुमान से संभव है और न तो केवलव्यतिरेकी अनुमान से। अत्यन्त अतीन्द्रिय पदार्थ का व्याप्तिग्रह ही असंभव है। अतएव ईश्वर को शास्त्रैकसमधिगम्य मानना चाहिए। इस बात का प्रतिपादन महर्षि बादरायण भी 'शास्त्रयोनित्वाधिकरणके शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र में करते हैं। 'शास्त्रं योनिः प्रमाणं यस्मिन्नसौ तत् शास्त्रयोनिः। तस्य भावस्तत्त्वम्, तस्मात्'। यह 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र की व्युत्पत्ति है। इसी अर्थ का अनुवाद करते हुए श्रीवेदान्तदेशिक तत्त्वमुक्ताकलाप के नायकसर के प्रथम श्लोक में कहते हैं—'व्याप्त्याद्यव्याकुलाभिः श्रुतिभिरधिगतो विश्वनेता।' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् के नियामक श्रीभगवान् में व्याप्ति आदि के दोषों से रहित श्रुति ही एकमात्र बोधक प्रमाण है। इसी से ईश्वर का बोध होता है।

अनुमानस्य भेदद्वयम्

तदेतदनुमानं स्वार्थं परार्थं चेति द्विधा विभज्य केचिदाहुः। सर्वेषामेवानुमानानां स्वप्रतिसन्धानादिबलेन प्रवृत्ततया स्वव्यवहारमात्रहेतुत्वमिति स्वार्थानुमानमेवेत्यपरे।

अनुवाद—इस अनुमान को स्वार्थ एवं परार्थ दो भागों में विभक्त करके कुछ लोगों ने उसके दो भेद किए—स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान। किन्तु सिद्धान्त में सभी अनुमानों को स्वार्थ ही माना जाता है। सिद्धान्तियों का कहना है कि सभी अनुमान अपने ही प्रतिसंधानार्थ प्रवृत्त होते हैं। अतएव सभी स्वार्थानुमान ही होते हैं, परार्थ नहीं।

भा० प्र०—नैयायिकों का कहना है कि अनुमान दो तरह के होते हैं—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान। अपने प्रत्यय के लिए जो अनुमान किया जाता है, उसे स्वार्थानुमान कहते हैं। स्वार्थानुमान में अनुमान के प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त, इन तीन अवयवों का ही प्रयोग होता है, किन्तु दूसरों में अनुमितिप्रमा को उत्पन्न करने के लिए जिस अनुमान का प्रयोग होता है, वह परार्थानुमान कहलाता है। परार्थानुमान में अनुमान के पांचों—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—अवयवों का प्रयोग होता है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में यह स्वीकार किया जाता है कि व्याप्ति एवं पक्षधर्मता से विशिष्ट हेतु के द्वारा ज्ञाता को जो ज्ञान होता है वह अपने लिए ही होता है, अतएव सभी अनुमानों को स्वार्थ ही मानना चाहिए, उसका परार्थानुमान नामक भेद मानना उचित नहीं है।

अनुमानस्यावयवपञ्चकम्

तदनुमानबोधकवाक्यं प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनरूपपञ्चावयवसंयुक्तम्। तत्र, साध्यवत्तया पक्षवचनं प्रतिज्ञा। यथा—पर्वतोऽग्निमानिति। लिङ्गस्य वचनं हेतुः, यथा—धूमवत्त्वादिति। व्याप्तिनिर्देशपूर्वकं दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्। तद् द्विविधम्, अन्वयव्यतिरेकभेदात्। यथा—यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानस इत्यन्वयोदाहरणम्। योऽनग्निस्स निर्धूमः, यथा ह्रद इति व्यतिरेकोदाहरणम्। दृष्टान्तावमर्शनेन व्याप्ततया पक्षे हेतूपसंहारवाक्यमुपनयः। सोऽपि द्विविधः, अन्वयव्यतिरेकभेदात्। तथा धूमवानित्यन्वयोपनयः। अयं च न तथा निर्धूम इति व्यतिरेकोपनयः। हेतुपूर्वकं पक्षे साध्योपसंहारवाक्यं निगमनम्। एतदपि द्विविधं तथैव। यथा—तस्मादसावग्निमानित्यन्वयेन निगमनम्। तस्मादयं निरग्निर्न भवतीति व्यतिरेकेण।

अनुवाद—अनुमान का बोधक वाक्य पांच अवयवों से सम्पन्न होता है—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। प्रतिज्ञा-वाक्य में पक्ष को साध्य से सम्पन्न बतलाया जाता है। जैसे—पर्वत अग्नि वाला है, यह वाक्य। हेतु-वाक्य में साध्य के साधक लिङ्ग का निर्देश किया जाता है, जैसे—क्योंकि पर्वत पर धूम है, यह वाक्य। उदाहरण-वाक्य में साधन एवं साध्य में अव्यभिचरितसंबन्ध रूपा व्याप्ति को बतलाकर दृष्टान्त उपस्थित किया जाता है। उदाहरण दो प्रकार का होता है—अन्वय उदाहरण और व्यतिरेक उदाहरण। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, यह अन्वय उदाहरण है। जो अग्निरहित होता है वह धूमरहित होता है, जैसे—सरोवर, यह व्यतिरेक उदाहरण है। दृष्टान्त का अवमर्श करने के कारण व्यापक रूप से हेतु का पक्ष में उपसंहार करने को उपनय-वाक्य कहते हैं। उपनय भी दो प्रकार का होता है—अन्वय उपनय और व्यतिरेक उपनय। 'इसी तरह से (यह पर्वत भी)

धूम वाला है' यह अन्वय उपनय है। यह वैसा निर्धूम नहीं है, यह व्यतिरेक उपनय है। जिस वाक्य में पहले पक्ष में हेतु को बतलाकर पक्ष में साध्य का उपसंहार किया जाय, उसे निगमन-वाक्य कहते हैं। निगमन-वाक्य भी अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे—अतएव यह (पर्वत) अग्निवाला है, यह अन्वयपूर्वक निगमन-वाक्य का उदाहरण है। अतएव यह अग्निरहित नहीं है, यह व्यतिरेक निगमन का उदाहरण है।

अनुमानस्यावयवानां विषये दार्शनिकानां मतभेदप्रदर्शनम्

एवं पञ्चावयववादिनो नैयायिकाः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणरूपत्र्यवयववादिनो मीमांसकाः। उदाहरणोपनयरूपावयवद्वयवादिनस्सौगताः। अस्माकं त्वनियमः। क्वचित्पञ्चावयवाः, क्वचित् त्रयोऽवयवाः, क्वचिद् द्वाववयवौ। उदाहरणोपनयाभ्यामेव व्याप्तिपक्षधर्मतयोस्सिद्धत्वात्तावतैवानुमित्युपपत्तेः। मृदुमध्यमकठोरधियां विस्तरसङ्ग्रहाभ्यां व्यवहार उपपद्यत इत्यनियम एव। एवं पञ्चावयवयुक्तः सद्धेतुरेव वह्न्यनुमापकः। सद्धेतुरित्युक्तत्वात् धूमसदृशधूलीपटलान्न वह्न्यनुमितिः।

अनुवाद—अनुमान के इन पाँच अवयवों को नैयायिक स्वीकार करते हैं। मीमांसक प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, इन तीन अवयवों को स्वीकारते हैं। बौद्ध अनुमान के उपनय और निगमन, इन दो अवयवों को ही स्वीकारते हैं। सिद्धान्त में यह कोई नियम नहीं है कि अनुमान के कितने अवयव स्वीकार किये जाये। कहीं पर पाँच अवयव, कहीं पर तीन अवयव और कहीं पर दो अवयव हम स्वीकारते हैं। क्योंकि उदाहरण और उपनय, इन दोनों से ही व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के सिद्ध हो जाने से उन दो अङ्गों से ही अनुमान की सिद्धि हो जाती है। कोमल बुद्धि वालों के लिए विस्तारपूर्वक, मध्यम बुद्धि वालों के लिए मध्यम प्रकार से तथा कठोर बुद्धि-वालों के लिए संक्षेप से ही अनुमान का ज्ञान हो जाता है। अतएव हम अवयवों की संख्या का कोई नियम नहीं मानते। फलतः सिद्ध हुआ कि पाँच अवयवों से युक्त सद्-हेतु ही वह्नि आदि के अनुमान का साधन है। सद्हेतु कहने से सिद्ध हो गया कि धूम के सदृश प्रतीत होने वाले कहीं धूलि-समूह को देखकर उसके द्वारा वहाँ पर वह्नि के होने का अनुमान नहीं किया जा सकता है।

हेत्वाभासाः

अन्ये हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः, ते चासिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टभेदात्पञ्चप्रकाराः। तत्रासिद्धस्त्रिविधः—स्वरूपासिद्धः, आश्रयासिद्धो व्याप्यत्वासिद्धश्चेति। स्वरूपासिद्धो यथा—अनित्यो जीवश्चाक्षुषत्वात्, घटवदिति। आश्रयासिद्धस्तु—व्योमारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् इति। व्योमारविन्दमाश्रयः, स

चासिद्धः। व्याप्यत्वासिद्धो द्विविधः—एको व्याप्तिग्राहकप्रमाणाभावात्, अपरस्तु उपाधिसद्भावात्। आद्यो यथा—यत्सत् तत्क्षणिकमिति। क्षणिकत्वसत्वयोर्व्याप्तिग्राहकप्रमाणासिद्धेः। द्वितीयो यथा—अग्नीषोमीयहिंसा अधर्मसाधिका, हिंसात्वात् क्रतुबाह्यहिंसावदिति। अत्र निषिद्धत्वमुपाधिः। अतो हिंसात्वहेतुस्सोपाधिकः। साध्यविपरीतव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। तद्यथा—प्रकृतिर्नित्या, कृतकत्वात् कालवदिति। कृतकत्वहेतुः साध्याभावव्याप्तः। सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। स च द्विविधः—साधारणोऽसाधारणश्चेति। पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिः साधारणानैकान्तिकः। यथा—शब्दो नित्यः, प्रमेयत्वात् कालवत्। असाधारणस्तु सपक्षविपक्षव्यावृत्तः। यथा—भूर्नित्या गन्धवत्वात्; व्योमवदिति। प्रकरणसमस्तु साध्यविपरीतसाधकहेत्वन्तरवान्। यथा—ईश्वरो नित्यः, अनित्यधर्मरहितत्वात्; ईश्वरो न नित्यः, नित्यधर्मरहितत्वादिति। अयमेव सत्प्रतिपक्षः। यस्य हेतोस्साध्याभाववान्पक्षः स कालात्ययापदिष्टः। स यथा—अग्निरनुष्णः, पदार्थत्वात् जलवत्। अयं च प्रत्यक्षेणैवोष्णत्वावधारणाद् बाधितः।

अनुवाद—जो उपर्युक्त सद्हेतु से भिन्न होकर भी हेतु के समान प्रतीत होते हैं, वे हेत्वाभास कहलाते हैं। हेत्वाभास पाँच हैं—असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, प्रकरणसम और कालात्ययापदिष्ट। उनमें भी असिद्ध तीन प्रकार का होता है—स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। जीव अनित्य है, क्योंकि वह घट के समान चाक्षुष् है (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय का विषय बनता है)। यह स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है (क्योंकि पक्षभूत जीव मे चाक्षुषत्व ही असिद्ध है।)। आश्रयासिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है कि—आकाशकमल सुगन्धित होता है, क्योंकि वह सरोवर में होने वाले कमल के समान है। हेतु का आश्रय व्योमारविन्द (आकाशकमल) है, किन्तु वह असिद्ध ही है। व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास दो प्रकार का होता है, एक तो व्याप्तिग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण और दूसरा उपाधि के कारण। पहले का उदाहरण है—जो सत् होता है वह क्षणिक होता है। क्षणिकत्व एवं सत्त्व का व्याप्तिग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं होता। द्वितीय व्याप्यत्वासिद्ध का उदाहरण है—अग्निषोमीय याग में होने वाली हिंसा से अधर्म होता है, क्योंकि वह यज्ञ के बाहर की जाने वाली हिंसा के समान है। यहाँ पर निषिद्धत्व उपाधि है। अतएव यहाँ पर हिंसात्व हेतु सोपाधिक है। साध्य के विपरीत अर्थ मे व्यापक हेतु विरुद्ध हेतु होता है। जैसे—प्रकृति नित्य है, क्योंकि वह काल के समान कार्य है। यहाँ पर कृतकत्व-(कार्यत्व)हेतु नित्यसाध्य के विपरीत अनित्यत्व में व्यापक है। व्यभिचार से युक्त हेतु अनैकान्तिक होता है। अनैकान्तिक हेत्वाभास दो प्रकार का होता है—साधारण तथा असाधारण। पक्ष, सपक्ष एवं विपक्ष तीनों में पाया जाने वाला अनैकान्तिक हेत्वाभास साधारण है। जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि काल के समान वह

प्रमेय है। असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास तो केवल पक्ष में ही पाया जाता है; सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं। जैसे—पृथिवी नित्य है, क्योंकि वह आकाश के समान गन्धवती है। प्रकरणसम हेतु ऐसा हेत्वाभास होता है कि उसके साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु बना रहता है। जैसे—ईश्वर नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्मों से रहित है। यहाँ पर यह भी कहा जा सकता है कि ईश्वर नित्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य धर्मों से रहित है। प्रकरणसम का ही दूसरा नाम सत्प्रतिपक्ष है। जिस हेतु के पक्ष में साध्य का अभाव रहता है, वह कालात्ययापदिष्ट हेतु कहलाता है। जैसे—अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह जल के समान पदार्थ है। इस हेतु का साध्य अनुष्णत्व प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा ही अग्नि के उष्णत्वावधारण से बाधित हो जाता है।

हेत्वाभास और उनके भेदोपभेद

भा० प्र०—ऊपर अनुमान के सद्हेतु का निरूपण किया जा चुका है। कुछ ऐसे भी हेतु हैं, जो हेतु की तरह तो प्रतीत होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे हेतु नहीं होते। ऐसे हेतुओं को हेत्वाभास कहा जाता है। 'हेतुवद् आभासन्ते इति' यह हेत्वाभास का अर्थ है।

हेत्वाभासों की संख्या पाँच है—१. असिद्ध, २ विरुद्ध, ३. अनैकान्तिक, ४. प्रकरणसम और ५. कालात्ययापदिष्ट।

(१) **असिद्ध हेतु** भी तीन प्रकार का होता है—स्वरूपासिद्ध, आश्रयासिद्ध, और व्याप्यत्वासिद्ध।

(क) **स्वरूपासिद्ध हेतु** वह होता है, जिसका स्वरूप ही असिद्ध होता है अर्थात् वह हेतु के पक्षवृत्तित्व नामक गुण से रहित होता है। पक्ष में वह हेतु पाया ही नहीं जाता है। जैसे—जीव अनित्य है, क्योंकि वह घट के समान चाक्षुष् है। इस अनुमान वाक्य का हेतु चाक्षुषत्व है, किन्तु जीव का चाक्षुषत्व ही असिद्ध है। यह चाक्षुषत्व हेतु अपने पक्ष जीव में नहीं पाया जाता, अतएव यह स्वरूपासिद्ध हेतु हुआ।

(ख) **आश्रयासिद्ध हेतु** वह होता है, जिसका आश्रय ही अप्रामाणिक होता है। पक्ष में पक्षतावच्छेदक का अभाव ही आश्रयासिद्ध है। जैसे—आकाशकमल सुगन्धित होता है, क्योंकि वह सरोवर में होने वाले कमल के समान है। इस अरविन्दत्व हेतु का आश्रय आकाशकमल ही असिद्ध है। किसी ने आकाशकमल को देखा ही नहीं है। उसके अप्रामाणिक होने से कमलत्व हेतु आश्रयासिद्ध है।

(ग) **व्याप्यत्वासिद्ध हेतु** दो प्रकार का होता है—पहला व्याप्यत्वासिद्ध हेतु वह है, जिसका व्याप्तिग्राहक प्रमाण कोई नहीं होता है। जैसे—जो सत् होता है वह क्षणिक होता है, यहाँ पर सत्त्व एवं क्षणिकत्व का व्याप्तिग्राहक कोई भी प्रमाण नहीं है। क्षणिक उसे कहते हैं, जो एक क्षणमात्र ही रहे। ज्ञेय और ज्ञाता के क्षणिक होने पर भूयोदर्शन द्वारा होने वाला व्याप्तिग्रह हो ही नहीं सकता, अतएव यहाँ व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण के अभाव के कारण व्याप्यत्वासिद्ध हेतु है। दूसरा व्याप्यत्वासिद्ध हेतु

वह होता है, जो उपाधि के सद्भाव के कारण होता है। जैसे—अग्निषोमीय याग में की जाने वाली हिंसा अधर्म की साधिका है, क्योंकि वह यज्ञ के बाहर (यज्ञातिरिक्त स्थल में) की जाने वाली हिंसा के समान है। यहाँ पर निषिद्धत्व उपाधि है। अर्थात् उसी हिंसा से अधर्म होता है, जिस हिंसा का शास्त्र निषेध करता है। अग्निषोमीय हिंसा तो विहित हिंसा है। उससे पाप नहीं होता। अतः यहाँ हिंसात्व सोपाधिक है। उपाधि के द्वारा हेतु में व्यभिचार प्रदर्शित किये जाने के कारण हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

(२) **विरुद्ध हेतु** वह होता है, जो साध्य के विपरीत अर्थ का साधक होता है। यह हेतु साध्याभाव व्याप्त होता है। उदाहरणार्थ—प्रकृति नित्य है, क्योंकि वह काल के समान कार्य है। यह कार्यत्व हेतु साध्यभूत नित्यत्व में व्याप्त न होकर साध्य से विपरीत अनित्यत्व में व्यापक है।

(३) **अनैकान्तिक हेतु** वह होता है, जो व्यभिचार युक्त होता है। अनैकान्तिक हेतु दो प्रकार का होता है—साधारण तथा असाधारण।

(क) **साधारण अनैकान्तिक हेतु** वह है, जो पक्ष, सपक्ष तथा विपक्ष तीनों में पाया जाय। जैसे—शब्द नित्य है, क्योंकि वह काल के समान प्रमेय है। इस अनुमान का प्रमेयत्व हेतु पक्ष शब्द, सपक्ष तथा उसके सजातीय धर्मवान काल तथा अनित्य घटादि में पाया जाता है। अतएव वह साधारण अनैकान्तिक हेतु है।

(ख) **असाधारण अनैकान्तिक हेतु** वह है, जो पक्षमात्र में पाया जाय, सपक्ष तथा विपक्ष में नहीं। जैसे—पृथिवी नित्य है, क्योंकि वह आकाश के समान गन्धवती है। इस अनुमान का गन्धवत्व हेतु पक्षभूत पृथिवी में तो है, किन्तु सपक्ष आकाश में तथा विपक्षभूत अनित्य पदार्थों में नही है।

(४) **प्रकरणसम हेतु** वह हेतु है, जिसके साध्य के विपरीत अर्थ का साधक दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। जैसे—ईश्वर नित्य है, क्योंकि वह अनित्य धर्मों से रहित है। इस अनुमान का साध्य नित्यत्व है। इस हेतु के विपरीत नित्यधर्मरहितत्व हेतु के द्वारा ईश्वर में अनित्यत्व भी सिद्ध किया जा सकता है। जैसे—ईश्वर अनित्य है, क्योंकि वह नित्य धर्मों से रहित है। प्रकरणसम को ही सत्प्रतिपक्ष भी कहते हैं। 'सत् विद्यमानः प्रतिपक्षः साध्यविपरीतोऽर्थसाधको हेतुर्यस्य असौ।' यह सत्प्रतिपक्ष की व्युत्पत्ति है।

(५) **कालात्ययापदिष्ट हेतु** वह होता है, जिस हेतु का साध्य अपने पक्ष में पाया ही नहीं जाता। जैसे—अग्नि अनुष्ण है, क्योंकि वह जल के समान पदार्थ है। इस अनुमान का साध्य अनुष्णत्व अपने पक्षभूत अग्नि में है ही नहीं। अग्नि का अनुष्णत्व प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा बाधित है। स्पार्शन प्रत्यक्ष के ही द्वारा अग्नि का उष्णत्व सिद्ध होता है।

उपमानस्यानुमानादावन्तर्भावनिरूपणम्

एवमनुमाने निरूपिते उपमानादेरनुमानादावन्तर्भावः। यथा—गवय-मजानानोऽपि यथा गौस्तथा गवय इति कुतश्चिदारण्यकाच्छ्रुत्वा वनं गतो अतिदेशवाक्यार्थं स्मरन् यदा गोसादृश्यविशिष्टपिण्डं पश्यति, तदा तद्वाक्यार्थस्मरणसहकृतगोसादृश्यविशिष्टपिण्डज्ञानं ज्ञायते, तदुपमानमित्युच्यते। तस्य स्मरणरूपत्वात्प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः, व्याप्तिग्रहापेक्षत्वादनुमानेऽन्तर्भावः, वाक्यजन्यत्वाच्छब्दे चान्तर्भाव ऊह्यः।

अनुवाद—इस प्रकार अनुमान का निरूपण कर लेने पर उपमान आदि का अनुमान आदि में अन्तर्भाव निरूपित किया जा रहा है। जैसे—अतिदेशवाक्य के अर्थ के स्मरण की सहायता से सादृश्यविशिष्ट पिण्ड का ज्ञान उपमान कहलाता है। गवय को नहीं जानने वाला भी व्यक्ति—जैसी गौ होती है वैसा ही गवय होता है, इस तरह की कहीं से वनवासी की वात सुनकर, वन में जाकर अतिदेशवाक्य के अर्थ का स्मरण करते हुए जब गौ के सादृश्यविशिष्ट पिण्ड को देखता है तो उस वाक्य के अर्थ के स्मरण की सहायता से उसे गोसादृश्यविशिष्टपिण्ड का ज्ञान होता है। उसी को उपमान कहते हैं। उस ज्ञान के स्मरण-स्वरूप होने के कारण उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। उसका व्याप्तिग्रह सापेक्ष होने से अनुमान में अन्तर्भाव होता है। किञ्च वह ज्ञान वाक्यजन्य होता है, अतएव उसका शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव होता है।

उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव-निरूपण

भ० प्र०—इस अनुच्छेद में ग्रन्थकार अनुमानप्रमाण में ही नैयायिकों द्वारा स्वीकृत उपमानप्रमाण का अन्तर्भाव प्रदर्शित करते हैं। 'उपमीयते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपमा या सादृश्य के आधार पर जो ज्ञान होता है, उसे उपमिति कहते हैं। उस ज्ञान के साधकतम को उपमान कहते हैं। महर्षि गौतम के शब्दों में—प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य के आधार पर साध्य की सिद्धि करने को उपमान कहते हैं—'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' (न्या० सू० १।१।६)। हरिभद्रसूरि ने भी यही कहा—

> 'प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम्।
> उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा ॥'

अर्थात् प्रसिद्धवस्तु की सदृशता बतलाकर किसी अप्रसिद्ध वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने को उपमान कहते हैं। जैसे—जिस तरह की गौ होती है, उसी प्रकार का गवय होता है।

उपमान करण है और इसका फल उपमिति है। इस उपमिति का कारण अतिदेशवाक्य है। एक जगह सुनी गई वस्तु का दूसरी जगह संबन्ध होना ही अतिदेश है। 'एकमश्रुतस्यासम्बन्धऽतिदेशः' जैसे किसी आरण्यक से यह सुनकर कि—गौ के समान ही गवय होता है; वन में जाकर जब पुरुष गोसदृशाकार वाली वस्तु को देखकर उस अतिदेशवाक्य के अर्थ को स्मरण करके वह यह ज्ञान प्राप्त करता है कि यह गवय है, क्योंकि इसका आकार गौ के सदृश है। यहाँ पर 'यथा गौस्तथा गवयः' यही अतिदेशवाक्य है। इस वाक्य के अर्थ का स्मरण करके ही अरण्य में गया मनुष्य गवय को पहचानता है। उस उपमान का साधकतम सादृश्यविशिष्टपिण्ड का दर्शन है। इस सादृश्यविशिष्टपिण्ड को देखकर द्रष्टा को अतिदेशवाक्य का स्मरण हो जाता है। स्मरणजन्य ज्ञान का स्मरण के मूलभूत प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है। सादृश्य ज्ञान चूंकि शाब्द होता है, अतएव उसका शब्दप्रमाण में अन्तर्भाव होता है। चूंकि यह पिण्ड गौ के सदृश है, अतएव यह गवय है। इस प्रकार का ज्ञान व्याप्तिजन्य है, अतएव उसका अनुमान में अन्तर्भाव हो जाता है। इन तीनों प्रकार के सम्मिलित ज्ञान का नाम नैयायिक आदि उपमान देते हैं; किन्तु उपमान ज्ञान का सर्वात्मना प्रमाणत्रय में अन्तर्भाव हो जाता है; उपमान को एक अतिरिक्त प्रमाण मानना उचित नहीं है।

अर्थापत्त्यादिकस्यानुमानेऽन्तर्भावप्रकारः

अर्थापत्तिर्नाम दिवा अभुञ्जानस्य पुरुषस्य पीनत्वदर्शनाद् रात्रिभोजनं कल्प्यते। एतस्यानुमानेऽन्तर्भावः। तर्को नाम व्याप्याङ्गीकारेण व्यापकानिष्टप्रसञ्जनम्। तद्यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वादित्यनुमाने, धूमोऽस्तु वह्निर्मास्तु इत्युक्ते, यदि वह्निर्न स्यात् तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति। एतस्य प्रमाणानुग्राहकत्वम्। तर्कानुगृहीतप्रमाणपूर्वकतत्त्वावधारणं निश्चयः। वीतरागकथा वादः। पक्षद्वयसाधनवती विजिगीषुकथा जल्पः। स्वपक्षस्थापनाहीना वितण्डा। अविवक्षितशब्दार्थारोपेण दूषणं छलम्। स्वव्याप्तदूषणं जातिः। असदुत्तरं जातिरिति वा। पराजयहेतुर्निग्रहस्थानम्। इत्येतेषामनुमानाङ्गत्वादनुमानेऽन्तर्भावः। क्वचित् क्वचिन्नैयायिकमतानुसा(रेणोक्तम्)-रिव्यवहारस्तु तन्मतानुसारेणोक्तः। अतो न विरोधः। इत्यनुमानं निरूपितम्।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषाया-
मनुमाननिरूपणं नाम द्वितीयोऽवतारः॥

अनुवाद—दिन में भोजन नहीं करने वाले तथा हृष्टपुष्ट शरीरवाले पुरुष को देखकर उसके रात्रि के भोजन की कल्पना करना ही अर्थापत्तिप्रमाण है। अर्थापत्ति का अनुमानप्रमाण में अन्तर्भाव होता है। व्यापक को स्वीकार करके व्यापक में अनिष्ट का प्रतिपादन करना ही तर्क कहलाता है। जैसे—पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि पर्वत पर धूम है, इस अनुमान के विषय में पर्वत पर धूम रहे किन्तु अग्नि न रहे, क्या आपत्ति है? इस तरह की आशङ्का करने पर यदि पर्वत पर अग्नि नहीं होता तो धूम भी नहीं रहेगा। यह प्रमाणानुग्राहक तर्क होता है। तर्क के द्वारा अनुगृहीत प्रमाण के द्वारा तत्त्व का निर्धारण करना ही निश्चय कहलाता है। तत्त्वज्ञान की इच्छा से जहाँ पर दो व्यक्ति अपने-अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं, उसे वाद कहते हैं। वादी एवं प्रतिवादी दो पक्षों को सिद्ध करने वाली विजिगीषु की कथा को जल्प कहते हैं। वह कथा, जिसमें विजिगीषु अपने पक्ष को उपस्थापित नहीं करता है, उसे वितण्डा कहते हैं। वक्ता को शब्दों के द्वारा जो अर्थ विवक्षित न होता हो, उस अर्थ का उन शब्दों में आरोप करके वादी के पक्ष में दोष दिखलाने को छल कहते हैं। अपने पक्ष में भी जिससे दोष उपस्थित हो, उस दोष को जाति कहते हैं अथवा असद् उत्तर को जाति कहते हैं। जिसके द्वारा पराजय हो जाय, उसे निग्रहस्थान कहते हैं। ये सभी अनुमान के अङ्ग हैं, अतएव इन सबों का अनुमान में अन्तर्भाव होता है। कहीं-कहीं पर नैयायिकों के मतानुकूल व्यवहार तो उनके मतानुसार ही किया जाता है। अतएव उससे सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं होता है। इस प्रकार अनुमान का निरूपण किया गया।

अर्थापत्ति आदि का अनुमान में अन्तर्भाव-निरूपण

भा० प्र०—मीमांसक आदि अर्थापत्ति नामक एक अतिरिक्त प्रमाण स्वीकार करते हैं। सिद्धान्त में अर्थापत्ति को अतिरिक्त प्रमाण नहीं स्वीकार किया जाता। अर्थापत्ति का अन्तर्भाव अनुमान में किया जाता है। 'देवदत्त हृष्ट पुष्ट है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है।' यह सुनकर श्रोता यह अनुमान करता है कि जो-जो हृष्ट-पुष्ट रहता है, वह कभी न कभी भोजन अवश्य करता है। देवदत्त हृष्ट-पुष्ट है, किन्तु दिन में भोजन नहीं करता है। इससे पता चलता है कि वह रात्रि में पर्याप्त भोजन अवश्य करता है। इस प्रकार देवदत्त आदि के रात्रि के भोजन आदि की कल्पना को ही अर्थापत्ति कहते हैं। इस कल्पना का आधार अनुमान है, अतएव सिद्धान्त में अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव किया जाता है।

तर्क—व्याप्य को स्वीकार करके व्यापक में अनिष्ट का प्रतिपादन करना ही तर्क कहलाता है। जैसे—पर्वत अग्निवाला है, क्योंकि वह धूमवाला है। इस अनुमान में व्याप्य धूम है और व्यापक अग्नि है। पक्ष में व्याप्य धूम को स्वीकार करके व्यापक अग्नि का अनिष्ट प्रतिपादन करने को तर्क कहा जाता है। जैसे—कोई यह कहे कि पर्वत में धूम तो रहे, किन्तु अग्नि न रहे तो क्या आपत्ति होगी? अर्थात् हम

इस अनुमान के व्याप्य को तो स्वीकारते हैं, किन्तु व्यापक को नहीं स्वीकारते हैं क्या आपत्ति है ? इस प्रकार की शंका होने पर कहा जा सकता है कि पक्ष में यदि व्यापक नहीं होगा तो व्याप्य भी नहीं हो सकता है। यदि पर्वत पर अग्नि नहीं होगा तो वहाँ धूम भी नहीं हो सकता, क्योंकि जहाँ व्याप्य नहीं रहता है, वहाँ व्यापक व्याप्य का अविनाभूत होता है। इस प्रकार यह अनुमानप्रमाण तर्कानुगृहीत है। तर्कानुगृहीत प्रमाण ही सत्प्रमाण होता है। तर्काननुगृहीत प्रमाण सत्प्रमाण की कोटि से बहिर्भूत होता है। इस तर्क का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है।

निश्चय—जहाँ पर वादी एवं प्रतिवादी विजय की इच्छा से रहित होकर तर्कानुगृहीत प्रमाणों के आलोक में तत्त्व का निर्धारण करते हैं, उसे निश्चय कहते हैं। विशिष्टाद्वैत दर्शन में निश्चय का अनुमान में इसलिए अन्तर्भाव माना जाता है कि वह अनुमान का एक लिङ्ग है।

वाद—वादी एवं प्रतिवादी के बीच जो अपनी-अपनी ओर से विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, उसको दार्शनिक निकाय में कथा शब्द से अभिहित किया जाता है। जहाँ पर वादी एवं प्रतिवादी अपनी विजयप्राप्ति को छोड़कर केवल तत्त्व को जानने की इच्छा से कथा करते हैं, उसे वाद कहते है। वाद का सिद्धान्तानुसार अनुमान-प्रमाण में ही अन्तर्भाव होता है।

जल्प—विजय की इच्छा से कथा करने वाले वादी एवं प्रतिवादियों की उस कथा को जल्प कहा जाता है, जिससे वादी एवं प्रतिवादी दोनों के पक्ष की सिद्धि होती है। इसका भी सिद्धान्त में अनुमानप्रमाण में ही अन्तर्भाव स्वीकार किया जाता है।

वितण्डा—वितण्डा में वादी अथवा प्रतिवादी विजय की इच्छा से अभिभूत होकर अपने पक्ष की स्थापना किये बिना प्रतिपक्षी के पक्षमात्र का खण्डन करते हैं। इसमें अपनी प्रतिभा आदि का अधिक प्रयोग करके प्रतिपक्षी को किसी प्रकार भ्रम में डालकर अपने पक्ष का स्थापन मात्र ही वादी का लक्ष्य होता है। सिद्धान्त में वितण्डा का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव माना जाता है।

छल—वक्ता के अभिप्राय पर ध्यान न देकर उसके अविवक्षित अर्थ को ही लेकर वक्ता की बात को काटने का नाम छल है। जैसे—'वह नववधू वाला है।' इस वाक्य को सुनकर इस वाक्य नव शब्द से विवक्षित नवीन अर्थ को त्याग करके उसको नवत्व संख्या का वाचक मानकर यह कहना कि उसके पास तो एक ही वधू है, उसके पास नववधुएँ कहाँ हैं ? यह कहना छल है। प्रतिवादी की इस तरह की बातें सुनकर चतुर वादी कहता है कि आप छल कर रहे हैं। मैंने नवीन के अर्थ में नव शब्द का प्रयोग किया है, न कि नव संख्या के अर्थ में।

जाति—साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर जो दोष का निरूपण किया जाता है, उसे जाति कहते हैं। यह ऐसा दोष होता है, जो दोष का प्रतिपादन करने वाले के भी पक्ष में विद्यमान रहता है अथवा ऐसा उत्तर, जो असत् हो जाति कहते हैं।

संबन्ध नियम के बिना केवल साहचर्य मात्र के आधार पर जो दोष दिया जाता है, उसे भी जाति कहते हैं। इस जाति का भी अनुमान में अन्तर्भाव होता है।

निग्रहस्थान—को परिभाषित करते हुए गौतम ने कहा है कि 'विप्रतिपत्ति-रप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्।' अर्थात् अपने पक्ष का अनुचित ढंग से प्रतिपादन करना अथवा प्रतिपादन न कर सकना ही निग्रहस्थान है। निग्रह पराजय को कहते हैं। उसके स्थान अर्थात् स्थल को निग्रहस्थान कहते हैं। अतएव पराजय के कारण को ही यतीन्द्रमतदीपिकाकार निग्रहस्थान कहते हैं। इसका भी सिद्धान्त में अनुमान में ही अन्तर्भाव माना जाता है।

इस तरह वाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य के द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका में शारीरक-परिभाषा का अनुमान-निरूपण नामक द्वितीय अवतार पूर्ण हुआ।

अथ तृतीयोऽवतारः

शब्दनिरूपणम्

अनुमाननिरूपणानन्तरं शब्दो निरूप्यते । अनाप्तानुक्तवाक्यजनिततदर्थं विज्ञानं शाब्दज्ञानम् । तत्करणं शब्दप्रमाणम् । अनाप्तानुक्तेत्युक्तत्वाद्वेदस्य पौरुषेयत्वमतनिरासः । कारणदोषबाधकप्रत्ययाभाववद्वाक्यं वा । सर्गादौ भगवान् चतुर्मुखाय पूर्वपूर्वक्रमविशिष्टान्वेदान् स्मृत्वा स्मृत्वा उपदिशतीत्युक्त्या वेदस्य नित्यत्वमपौरुषेयत्वं च सिद्धमिति कारणदोषाभावो बाधकप्रत्ययाभावश्च ।

अनुवाद—अनुमानप्रमाण के निरूपण के पश्चात् शब्दप्रमाण का निरूपण किया जा रहा है । जो अनाप्त व्यक्ति के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न वाक्य के अर्थ का ज्ञान ही शाब्दज्ञान है । उस शाब्दज्ञान के साधकतम को शब्दप्रमाण कहते हैं । लक्षण में अनाप्तानुक्त पद का सन्निवेश करके वेदों को पौरुषेय मानने वाले नैयायिकों के मत का निरास किया गया है । अथवा ऐसे वाक्य को शब्दप्रमाण कहते हैं, जो कारण-दोष तथा बाधक-ज्ञान से रहित हों । सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् पूर्व-पूर्वक्रमविशिष्ट वेदों को स्मरण करके ब्रह्मा को उनका उपदेश देते हैं, इस उक्ति के अनुसार वेदों की नित्यता तथा अपौरुषेयता सिद्ध होती है । अतएव वेदों में कारण-दोष तथा बाधकप्रत्यय का अभाव है ।

शब्दप्रमाण का निरूपण

भा० प्र०—पहले के दो अवतारों में क्रमशः प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाणों का निरूपण किया जा चुका है । अब इस तीसरे अवतार में क्रमप्राप्त शब्दप्रमाण का निरूपण किया जा रहा है । शाब्दप्रमा के साधकतम को शब्दप्रमाण कहते हैं । ऐसा वाक्य जो अनाप्त पुरुष के द्वारा नहीं कहा गया हो, उस वाक्य से उत्पन्न वाक्यार्थ ज्ञान को शाब्दीप्रमा कहा जाता है । अनाप्तानुक्तत्व वाक्य का विशेषण बतलाकर यह कहा गया है कि शाब्दज्ञान के जनक वाक्य का किसी पुरुष के द्वारा उक्त होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि वेद तो अपौरुषेय हैं । उनका प्रवक्ता कोई पुरुष नहीं है । ईश्वर भी उन वाक्यों के स्वतंत्र वक्ता नहीं है । ईश्वर तो सृष्टि के प्रारम्भ में पूर्वकल्प में विद्यमान यथायथ आनुपूर्वी सहित वेदों का स्मरण करके उनका उपदेश ब्रह्मा को दे देते हैं । एतावता स्पष्ट है कि ईश्वर भी वेदों के वक्ता नहीं हैं । अतएव वेद किसी पुरुष-विशेष द्वारा उक्त नहीं हैं; अपितु वे अपौरुषेय हैं तथा नित्य हैं । सर्वदा एकसमान आनुपूर्वी से युक्त रहना ही वेदों की नित्यता है । जिसकी रचना किसी पुरुष की बुद्धि के अधीन होती है, वह पौरुषेय है । वेदों की रचना किसी पुरुष की बुद्धि के अधीन नहीं हुई है । कहा भी गया है—

'अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।'
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रसूतयः ॥'

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में श्रीभगवान् से आदि और अन्त रहित वेदरूपी दिव्य वाणी निस्सृत हुई, जिससे कि सारी सृष्टि हुई। ऋक् आदि विविध भेदों वाली वेद-वाणी की नित्यता तथा अपौरुषेयता का प्रतिपादन मुक्तकण्ठ से करती हुई श्रुति भी कहती है—'वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व ।' श्रुति का अर्थ है—हे वृष्णि। ऋक् आदि अनेक रूपों वाली नित्य वेदवाणी के द्वारा श्रीभगवान् को प्रसन्न करो।

नैयायिक आदि वेदों को पौरुषेय मानते हैं। वे उन्हें ईश्वर-प्रोक्त मानते हैं। अर्थात् ईश्वर वेदों का स्वतंत्र वक्ता है। नैयायिकाभिमत वेदों की पौरुषेयता का खण्डन करने के लिए ही मूल में वाक्य को अनाप्तानुक्त कहा गया है। विशिष्टाद्वैतियों के अनुसार वाक्य का उक्त होना आवश्यक नहीं है, किन्तु यदि वाक्य किसी स्वतंत्र वक्ता द्वारा उक्त हो तो उसका वक्ता अनाप्त नहीं होना चाहिये; अपितु उसे आप्त होना चाहिए। आप्त उसे कहते हैं, जो किसी भी कारणवश अयथार्थ न कहे; अपितु जो सदा यथार्थ ही कहे, उसे आप्त कहते हैं। नैयायिकों के अनुसार ईश्वर आप्तपुरुष है। वही वेदों का उपदेष्टा है।

शब्दप्रमाण का दूसरा लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं, अथवा जो कारणदोष एवं बाधकप्रयास से रहित होता है, वही वाक्य शाब्दप्रमा का जनक होता है। चूंकि वेद नित्य है, अतएव पौरुषेय वाक्यों में होने वाले—भ्रम, प्रमाण, करणापाटव एवं विप्रलिप्सा रूपी कारणदोषों का अभाव है। वेदवाक्य यथार्थज्ञान का प्रतिपादन करते हैं, अतएव उन ज्ञानों का कोई भी बाधकज्ञान नहीं है। इस प्रकार वेदवाक्य शाब्दप्रमा के जनक हैं। लोक में भी आप्तपुरुषों द्वारा प्रोक्त वाक्य कारण-दोष तथा बाधकप्रत्यय से रहित होते हैं। अतएव वे भी शाब्दप्रमा के जनक होते हैं।

सम्पूर्णस्य वेदस्य प्रामाण्यप्रतिपादनम्

ननु वेदवाक्यानां मीमांसकैः कार्यपरतयैव प्रामाण्यस्वीकारात् सिद्ध-ब्रह्मपरवाक्यानां व्युत्पत्त्यसम्भवाच्च कथं प्रामाण्यमिति चेन्न। सिद्धब्रह्मपर-वाक्यानामपि उपासनारूपकार्यान्वयस्वीकारात्। पिता ते सुखमास्ते इति लौकिकसिद्धपरवाक्यस्यापि बोधकत्वदर्शनात्। बालानां लोके मातापितृ-प्रभृतिभिरम्बातातमातुलचन्द्रादीनङ्गुल्या निर्दिश्य तदभिधायिनः शब्दान् प्रयुञ्जानैः क्रमेण बहुशश्शिक्षितानां तत्तदर्थबुद्ध्युत्पत्तिदर्शनात्। वेदेऽपि परिनिष्पन्नेऽप्यर्थे शब्दस्य बोधकत्वं सम्भवतीति नाप्रामाण्यशङ्कावकाशः। तर्हि अभिचारादिप्रतिपादकवेदांशस्य कथं प्रामाण्यमिति नाशङ्कनीयम्। तस्य दृष्टफलप्रदर्शनेनादृष्टस्वर्गादिफलकसाधनादौ प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्। यूपादित्यवाक्यं तु आदित्यवद्यूपप्रकाशनपरम्। अतः कृत्स्नस्य वेदस्य प्रामाण्यम्।

अनुवाद—यहाँ पर प्रश्न उठता है कि प्राभाकर-मीमांसकों के अनुसार वेदवाक्यों का प्रामाण्य कार्यों के ही प्रतिपादन में है, क्योंकि सभी वाक्यों का तात्पर्य कार्यार्थ के ही प्रतिपादन में होता है। अतः सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों की व्युत्पत्ति असंभव होने के कारण उनका प्रामाण्य कैसे स्वीकारा जा सकता है? तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सिद्ध ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों का भी हम उपासन रूप कार्य में अन्वय (संबन्ध) स्वीकार करते हैं। किञ्च—'तुम्हारे पिता सुखी हैं।' यह सिद्ध पिता-विषयक लौकिक वाक्य की भी व्युत्पत्ति देखी जाती है। लोक में माता-पिता आदि, ये तुम्हारी माँ हैं, ये तुम्हारे पिता हैं, ये तुम्हारे मामा हैं, इत्यादि कहकर तथा ऊँगली से दिखा-दिखाकर, उन वाक्यों के वक्ता तत्-तत् सिद्ध वस्तु-विषयक शब्दों का प्रयोग करते हैं और उन शब्दों को सुनकर बालकों को उन सिद्ध वस्तुओं का ज्ञान होता है, यह देखा जाता है। इसी तरह वेद में भी सिद्ध वस्तु ब्रह्म-विषयक शब्दों के द्वारा सिद्ध ब्रह्म का ज्ञान होता है, अतएव उन वाक्यों के अप्रामाण्य की शङ्का नहीं की जा सकती है।

पुनः प्रश्न उठता है कि अभिचार इत्यादि कर्मों के प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य कैसे स्वीकार किया जाता है? तो यह भी शङ्का उचित नहीं है, अभिचारादि कर्मों के प्रतिपादक वेदांश का दृष्ट शत्रु-मारणादि फलों को दिखलाकर अदृष्ट स्वर्गादि फलों के साधन में उन पुरुषों को प्रवृत्त करते हैं, यही अंश का लक्ष्य है। 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य आदित्य के समान यूप प्रकाशित हो रहा है, इस अर्थ के प्रतिपादन में है। इस तरह सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता

भा० प्र०—विशिष्टाद्वैत दर्शन में सम्पूर्ण वेद की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। यह माना जाता है कि वेद का कोई भी अंश अप्रामाणिक नहीं है, क्योंकि उसके द्वारा यथार्थ का प्रतिपादन किया जाता है। यहाँ पर प्राभाकर-मीमांसकों का कहना है कि वेद के उन्हीं वाक्यों का प्रामाण्य स्वीकार किया जा सकता है, जो वाक्य किसी कार्य का प्रतिपादन करते हों। वेदों के उपनिषद् भाग के वाक्य ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्म सिद्ध पदार्थ है, अतएव सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जा सकता है। इस तरह सिद्ध ब्रह्म के प्रतिपादक वेदान्त वाक्यों का अप्रामाण्य सिद्ध होता है।

प्राभाकर-मीमांसकों का कहना है कि लोक में अर्थ दो प्रकार के पाए जाते हैं—सिद्ध और कार्य। जो घटादि पदार्थ पहले से बने रहते हैं, जिन्हें बनाना नहीं पड़ता है, वे सिद्ध पदार्थ हैं। जो कार्य प्रयत्न से साध्य हैं, वे कार्य हैं। गमनादि क्रिया प्रयत्न-साध्य हैं, अतएव कार्य कहलाती हैं। लौकिक एवं वैदिक सभी शब्दों का तात्पर्य कार्य अर्थ के ही प्रतिपादन में हैं। उनका तात्पर्य सिद्ध अर्थ के प्रतिपादन में नहीं है। 'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः' यह सर्वसम्मत न्याय है। इस न्याय का अर्थ यह है कि

शब्द जिस अर्थ को बतलाने में तात्पर्य रखता है, वही उस शब्द का अर्थ होता है। सभी शब्द कार्य रूपी अर्थ को बतलाने में तात्पर्य रखते हैं, उनका तात्पर्य सिद्ध वस्तु को बतलाने में नहीं होता है, अतएव कार्य को ही शब्दार्थ मानना चाहिए, सिद्ध पदार्थ शब्द का अर्थ नहीं बन सकता है। ब्रह्म तो नित्य सिद्ध पदार्थ है, अतएव उसके प्रतिपादन में उपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य नहीं हो सकता है। अतएव ब्रह्म को उपनिषद् का प्रतिपाद्य मानकर ब्रह्म का विचार करने वाले वेदान्तियों का प्रयास व्यर्थ हैं।

मीमांसकों की इस शंका का समाधान करते हुए सिद्धान्ती का कहना है कि दुर्जन-तुष्यतु न्याय में सभी शब्दों को कार्यार्थ के प्रतिपादन में भी मान लिया जाय, तब भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि हम मानते हैं कि ब्रह्म के प्रतिपादक औपनिषद्-वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म की उपासना रूप कार्य के प्रतिपादन में हैं। उपासना कार्य अर्थ है, अतएव उससे ब्रह्मप्रतिपादक-वाक्यों का संबंध स्वीकार करने में मीमांसकों को कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अतएव ब्रह्म-विचार का वैयर्थ्य प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। यह उत्तर तो अन्वारुह्यवाद अथवा अभ्युपगमवाद के अनुसार है। वास्तविकता यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि शब्द की शक्ति कार्यार्थ के ही प्रतिपादन में हो, सिद्धार्थ के प्रतिपादन में नहीं; क्योंकि 'अयं ते पिता', 'इयं ते माता', 'अयं चन्द्रः' इत्यादि वाक्यों का उच्चारण करके तर्जन्या निर्देश के द्वारा व्युत्पित्सु बालक को सिद्ध माता, पिता, चन्द्र इत्यादि का ज्ञान कराया जाता है और बालक को उन सिद्ध पदार्थों का ज्ञान होता है, यह लोक में देखा भी जाता है। अत-एव यह नहीं कहा जा सकता है कि सभी शब्द कार्यार्थ के ही बोधक होते हैं। जिस तरह लौकिक शब्द सिद्धार्थ के बोधक होते हैं, उसी तरह वैदिक शब्द भी सिद्धार्थ के बोधक होते हैं। अतएव सिद्ध ब्रह्म के बोधक औपनिषद्-वाक्यों के आलोक में किये जाने वाले ब्रह्म-विचार को व्यर्थ नहीं कहा जा सकता है।

वेदों के विषय में एक दूसरी शङ्का यह उठायी जाती है कि वेद की प्रामाणिकता इसलिए स्वीकार की जाती है कि वे भूतार्थ के बोधक हैं। वे मिथ्या अर्थ का प्रति-पादक नहीं हैं। किञ्च वेद को अखिलजगद्धितानुशासन माना जाता है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् का कल्याण करना ही उसका प्रयोजन है। किन्तु सकलजगद्धितानु-शासन वेद का भी एक अंश है, जो अभिचार कर्मों का उपदेश करता है। अभिचार कर्मों का अनुष्ठान नरकगामी बना देता है। इस प्रकार के अर्थों का प्रतिपादन करने वाले वेदों को कैसे प्रामाणिक माना जाय? इसका उत्तर यह है कि वेदों की दृष्टि में—सम्पूर्ण जगत् का कल्याण लक्ष्य है। अभिचार कर्म का प्रतिपादन करने वाले वाक्य अधम कोटि के अधिकारियों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अभिचार कर्मों का अनुष्ठान करके शत्रु-मारणादि फलों को प्राप्त कर वे अधिकारी वैदिकार्थों की प्रामाणिकता में विश्वास करने लगते हैं। पुनः वे स्वर्गादि प्राप्ति जैसे महनीय फलों के प्राप्त्योपयिक कर्मों का अनुष्ठान करके आस्तिकता के मार्ग पर प्रवृत्त हो जाते हैं।

अतएव वेद के उन अंशों की प्रामाणिकता स्वीकार करने में कोई भी आपत्ति नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्पूर्ण वेद प्रामाणिक अर्थों का प्रतिपादन करते हैं।

वेदस्य विभागः

स वेदः कर्मब्रह्मप्रतिपादकपूर्वोत्तरभागाभ्यां द्विधा भिन्नः। आराधनकर्मप्रतिपादकं पूर्वकाण्डम्। आराध्यब्रह्मप्रतिपादकमुत्तरकाण्डम्। अत उभयोर्मीमांसयोरेकशास्त्र्यम्। भागद्वयात्मको वेद ऋग्यजुस्सामाथर्वरूपेण चतुर्धाऽवस्थितः, पुनरनन्तप्रकारश्च। ऋगादिबहुप्रकारो वेदो मन्त्रार्थवादविधिरूपेण त्रिविधः। अनुष्ठेयार्थप्रकाशको मन्त्रः। विध्यधीनप्रवृत्त्युत्तम्भकवाक्यविशेषोऽर्थवादः। हितानुशासनरूपं वाक्यमिह विधिः। स च त्रिविधः। अपूर्वपरिसङ्ख्यानियमभेदात्। ते पुनर्नित्यनैमित्तिककाम्यादिभेदाद् बहुविधाः। व्रीहीन्प्रोक्षतीति विधिरपूर्वविधिः (मनोमयत्वाद्युपासनविधिर्विशिष्टविधिः)। इमामगृभ्णन्नित्यश्वरशनाविधिः परिसङ्ख्याविधिः। गुर्वभिगमनादिविधिर्नियमविधिः। सन्ध्योपासनादिविधिर्नित्यविधिः। जातेष्ट्यादिविधिर्नैमित्तिकविधिः। ज्योतिष्टोमादिविधिः काम्यविधिः।

अनुवाद—उस वेद के दो भाग हैं—पूर्वभाग एवं उत्तरभाग। पूर्वभाग में कर्मों का प्रतिपादन किया गया है और उत्तरभाग में ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। वेदों का पूर्वकाण्ड ब्रह्म की आराधना रूप कर्मों का प्रतिपादन करता है और उत्तरकाण्ड कर्मों के द्वारा आराध्य ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। अतएव पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा दोनों एक ही शास्त्र के दो भाग हैं। इन दो भागों से विशिष्ट वेद चार भागों में विभक्त होता है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। पुनः इस वेद के अनन्त भेद होते हैं। ऋक् आदि अनेक प्रकार वाले वेद को मन्त्र, अर्थवाद और विधि, इन तीन रूपों में विभक्त किया जाता है। मन्त्रभाग अनुष्ठान करने के योग विषयों का प्रतिपादन करता है। विधि के अधीन होने वाली प्रवृत्ति के उपष्टम्भक वाक्य-विशेष को अर्थवाद कहते हैं। जीवों के कल्याणकारी उपदेशों को करने वाले वाक्य को विधिवाक्य कहते हैं। विधि तीन प्रकार की होती हैं—अपूर्वविधि, परिसंख्याविधि एवं नियमविधि। ये तीनों प्रकार के विधिवाक्य नित्य; नैमित्तिक एवं काम्य आदि के भेद से कई प्रकार के होते हैं। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' यह अपूर्वविधि है। मनोमयत्व इत्यादि रूप से ब्रह्म की उपासना की विधि विशिष्ट विधि है। 'इमामगृभ्णन्' इत्यादि अश्व की जीभ काटने का विधान करने वाला वाक्य परिसंख्याविधि है। आचार्य के सन्निकट में अभिगमन करने का विधान करने वाला वाक्य नियमविधि है। सन्ध्योपासनादि का विधान करने वाला वाक्य नित्यविधि है। जातेष्टि आदि का विधान करने वाला विधिवाक्य नैमित्तिकविधि है। ज्योतिष्टोमादि का विधान करने वाला वाक्य काम्यविधि है।

वेद का विभाग

भा० प्र०—वेद के दो भाग हैं—पूर्वभाग एवं उत्तरभाग। वेद के पूर्वभाग को ही मन्त्रभाग अथवा संहिताभाग कहा जाता है। इसे ही कर्मकाण्ड भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें कर्मों का प्रतिपादन किया जाता है। वेदों के उत्तरभाग को ज्ञानकाण्ड अथवा ब्राह्मणभाग कहा जाता है। ज्ञानकाण्ड को ब्रह्मकाण्ड भी कहा जाता है, क्योंकि वेद के इस भाग में ब्रह्म के स्वरूप आदि का निरूपण किया गया है। ब्रह्म की आराधना के साधनभूत कर्मों का प्रतिपादन कर्मकाण्ड में किया गया है। उन कर्मों द्वारा आराध्य ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण ब्रह्मकाण्ड में किया गया है। वेदों के पूर्वभाग के अर्थों का निर्णय करने के लिए महर्षि जैमिनि ने पूर्वमीमांसा का प्रणयन किया। वेदों के उत्तरभाग के अर्थों के निर्णयार्थ उत्तरमीमांसा प्रवृत्त है। चूंकि ये दोनों मीमांसाएँ एक ही वेदार्थ के निर्णयार्थ प्रवृत्त हैं, अतएव सिद्ध होता है कि ये दोनों मीमांसाएँ एक ही शास्त्र के दो भाग हैं।

एक ही वेद के चार भेद किये गए हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इसके अतिरिक्त शाखाभेद के कारण वेदों के अनन्त भेद हैं। महर्षि पतञ्जलि ने इन वेदों की शाखाओं की चर्चा करते हुए कहा—'सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बह्वृचः। एकशतमध्वर्युशाखाः। नवधा अथर्वाणः।' अर्थात् सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं। ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं। अथर्ववेद की नव शाखाएँ हैं तथा यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ हैं।

वेदों के प्रकारान्तर से भी तीन भेद किये जाते हैं—मन्त्र, अर्थवाद और विधि। वेदों के मन्त्रभाग में अनुष्ठान करने योग्य अर्थों का प्रकाशन किया गया है। विधिवाक्य के द्वारा विहित याग आदि अर्थों का प्रतिपादक है तथा किसी विषय की स्तुति अथवा निन्दा करने वाला वेद का भाग अर्थवाद कहलाता है। इससे अधिकारी का अनुष्ठान में प्रवृत्त होने में उत्साह बढ़ता है। वेद के उस वाक्य को विधिवाक्य कहते हैं, जो इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के साधनभूत अलौकिक अर्थों का विधान करते हैं।

वेद के विधिवाक्यों के तीन भेद होते हैं—अपूर्वविधि, परिसंख्याविधि तथा नियमविधि।

(क) अपूर्वविधि—जो अर्थ प्रमाणान्तर से ज्ञात नहीं है, उस अर्थ का प्रतिपादन करने वाला विधिवाक्य अपूर्वविधि है। जैसे—'व्रीहीन् प्रोक्षति' यह वाक्य अपूर्वविधिवाक्य है। क्योंकि विधान के बिना याग में व्रीहि का प्रोक्षण नहीं प्राप्त है। अतएव यह अपूर्वविधि है।

(ख) परिसंख्याविधि—जहाँ पर दो की समान रूप से प्राप्ति हो वहाँ पर एक की निवृत्तिपूर्वक दूसरे के विधान करने को परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे—याग में रशना को काटने का विधान है। प्रश्न उठता है कि किसकी रशना याग में

काटी जाय ? अश्व की या गर्दभ की ? इस शंका का समाधान करने के लिए मीमांसा का एक वाक्य प्रवृत्त होता है। वह 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्ते।' अर्थात् यजमान याग में 'इमामगृभ्णन् रशनामृतस्य' इत्यादि मंत्र को पढ़कर अश्वाभिधानी अर्थात् अश्व की जीभ को काटता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि याग में अश्व की रशना को काटने का विधान किया गया, गर्दभ की रशना को काटने का नहीं। अतएव यह वाक्य परिसंख्याविधि वाक्य है।

(ग) **नियमविधि**—किसी कार्य को करने के लिए कोई नियम करनेवाला वाक्य नियमविधिवाक्य कहलाता है। जैसे—'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।' अर्थात् उस परा विद्या को जानने के लिए मुमुक्षु अधिकारी को चाहिए कि वह हाथ में समिधा आदि उपहारों को लेकर वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ आचार्य का प्रयत्न करे। यह वाक्य विद्याप्राप्ति हेतु आचार्याभिगमन का नियम करता है। क्योंकि नियम है कि आचार्य के ही द्वारा प्राप्त विद्या सफल होती है। 'आचार्यादेव प्राप्ता विद्या साधिष्ठं प्रापत।' अतएव पुस्तकादि के निरीक्षण से प्राप्त विद्या सफल नहीं होती है। यह नियमविधिवाक्य है।

पुनः विधिवाक्यों के अनेक भेद किये जाते हैं। जैसे—नित्यविधि, नैमित्तिकविधि, काम्यविधि एवं प्रायश्चित्तविधि।

नित्य—जिनका अनुष्ठान करना आवश्यक है, उन अर्थों का विधान करनेवाला वाक्य **नित्यविधि**वाक्य है। जैसे—'अहरहः सन्ध्यामुपासीत।' अर्थात् प्रतिदिन सन्ध्या करनी चाहिए, यह नित्यविधि है। किसी अवसर-विशेष पर अनुष्ठेय अर्थ का विधान करने वाला वाक्य **नैमित्तिकविधिवाक्य** है। जैसे—पुत्रोत्पत्ति होने पर जातकर्म करने का विधान करने वाला विधिवाक्य। नित्यविधि का अनुष्ठान आजीवन करना होता है। नित्यकर्मों के करने से कोई पुण्य-विशेष नहीं होता, किन्तु उन कर्मों को न करने से पाप होता है। नैमित्तिक कर्मों के करने से पुण्य-विशेष होता है और नहीं करने से पाप भी होता है। नित्य एवं नैमित्तिक विधि-प्रोक्त अर्थों के अनुष्ठान से पाप का विनाश होता है। **काम्यविधि** वह है, जिसके करने से पुण्य-विशेष की उत्पत्ति होती है और न करने से कोई पाप नहीं होता है। जैसे—'स्वर्गकामोऽश्वमेधेन यजेत।' यह वाक्य काम्यविधिवाक्य है। क्योंकि यह काम्य स्वर्ग पदार्थ की प्राप्ति के साधक रूप से अश्वमेध याग के अनुष्ठान को उपाय द्वारा विधान करता है।

किये गये पापों के विनाशार्थ तत्-तत् उपायों का विधान करने वाले वाक्य **प्रायश्चित्तविधिवाक्य** है। जैसे—चान्द्रायण व्रतादि का विधान करने वाले वाक्य।

वेदाङ्गानि

एवं विध्यर्थवादमन्त्रात्मकस्य वेदस्य—छन्दः, कल्पः, शिक्षा, निरुक्तम्, ज्यौतिषम्, व्याकरणमित्येतान्यङ्गानि। छन्दोऽनुष्टुप् त्रिष्टबादिप्रतिपादन-

रूपम् । श्रौतस्मार्तप्रयोगप्रतिपादनपरः कल्पः । शिक्षा वर्णनिर्णयात्मिका । निरुक्तं (ख) अपूर्वार्थप्रतिपादकम् । ज्यौतिषम् अध्ययनतदर्थानुष्ठानकाल-निर्णायकम् । व्याकरणं तु सुशब्दस्वरादिसमर्थनपरम् । एवं साङ्गस्य वेदस्य प्रामाण्यं सिद्धम् ।

अनुवाद—इस तरह विधि, अर्थवाद एवं मन्त्र-स्वरूप वेद के छः अङ्ग हैं—छन्द, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष एवं व्याकरण । अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् आदि छन्दों के स्वरूप का निरूपण करने वाला शास्त्र छन्दःशास्त्र कहलाता है । श्रौत एवं स्मार्त यागों के स्वरूप आदि का निरूपण करने वाला शास्त्र कल्प कहलाता है । वर्णों के स्वरूप, संख्या, उच्चारणस्थान, स्वर, मात्रा आदि का निरूपण करने वाला वेदाङ्ग शिक्षा शब्द से अभिहित किया जाता है । निरुक्त तथा निर्वचन के द्वारा वैदिक पदों के अलौकिक तथा अपूर्व अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र निरुक्त कहलाता है । अध्ययन तथा अधीत अर्थों के अनुष्ठान आदि के लिए उचित काल का निर्णय करने वाला शास्त्र ज्योतिष् कहलाता है । व्याकरणशास्त्र में तो साधु पदों के अर्थ, उनकी व्युत्पत्ति तथा साधुत्वान्वाख्यान एवं उनके स्वर इत्यादि का समर्थन किया जाता है । इस तरह साङ्ग वेद की प्रामाणिकता सिद्ध होती है ।

स्मृत्यादीनां प्रामाण्यविवेचनम्

अथ श्रुत्यविरुद्धाचारव्यवहारप्रायश्चित्तादिप्रतिपादिका आप्तप्रणीता स्मृतिः प्रमाणम् । हिरण्यगर्भादीनामाप्तत्वेऽपि तेषां गुणत्रयवशत्वसम्भवात् तत्कर्तृकयोगकपिलादिस्मृतीनां मन्वादिस्मृत्यविरुद्धांशा एव प्रमाणम् । तत्त्वविपर्यासादिविरुद्धांशा न प्रमाणम् । वेदोपबृंहणरूपेतिहासपुराणयोरपि प्रामाण्यं स्वतस्सिद्धम् । तत्र भारतरामायणयोः क्वचित्क्वचिद्विरोधभानेऽपि तत्त्वांशे वेदान्तवाक्यवदविरोधो नेयः ।

अनुवाद—किञ्च श्रुतियों के अनुकूल आचार-व्यवहार एवं प्रायश्चित्त आदि का प्रतिपादन करने वाली आप्त पुरुष द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं । यद्यपि हिरण्यगर्भ आदि आप्त हैं, फिर भी उनका गुणत्रय (प्रकृति) के अधीन होना सम्भव है, अतएव उनके द्वारा प्रणीत योग तथा कपिल आदि महर्षियों द्वारा प्रणीत स्मृतियों का उसी अंश में प्रामाण्य है, जिस अंश में उनका मन्वादि स्मृतियों से कोई भी विरोध नहीं है । जहाँ पर इन लोगों ने तत्त्व का विपर्यास किया है, उन अंशों का प्रामाण्य सिद्धान्त में नहीं स्वीकार किया जाता है । इतिहास एवं पुराण वेदों के उपबृंहण-स्वरूप हैं, अतएव इनका भी प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है । महाभारत एवं श्रीरामायण में कहीं-कहीं पर विरोध की प्रतीति होने पर भी तत्त्व के विषय में उनका उसी प्रकार से अविरोध स्वीकार करना चाहिए, जैसा कि वेदान्त-वाक्यों के विषय में अविरोध स्वीकार किया जाता है ।

स्मृतियों आदि का प्रामाण्य विवेचन

भा० प्र०—साङ्ग वेद के प्रामाण्य का प्रतिपादन किया जा चुका है। 'वेदार्थो निश्चेतव्यः स्मृतीतिहासपुराणैः' इस श्रीवचनभूषण के प्रथम सूत्र के अनुसार वेद के अर्थों के निर्णय के साधन में स्मृति का प्रथम स्थान दिया गया है। स्मृतियों की संख्या भूयसी है। उनमें आपस में विरोध भी दिखता है। अब प्रश्न उठता है कि इनमें किस स्मृति का प्रामाण्य स्वीकार किया जाय। सभी का तो इसलिए नहीं माना जा सकता कि स्मृतियों के विचार परस्पर में विरोधी हैं। यदि कुछ खास ही स्मृतियाँ प्रामाणिक हैं तो वे कौन हैं? इस शंका का समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि सिद्धान्त में उसी स्मृति को प्रामाणिक माना जाता है, जो श्रुति के अनुकूल ही आचार, व्यवहार एवं प्रायश्चित्त आदि का प्रतिपादन करती हैं। श्रुति के विरुद्ध आचार-व्यवहार आदि का प्रतिपादन करने वाली स्मृति का प्रामाण्य सिद्धान्त में नहीं स्वीकारा जाता है। वह स्मृति कौन है, जिसका प्रामाण्य सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है? इस शंका का समाधान यह है कि सिद्धान्त में मनु को परम आप्त माना जाता है। श्रुति भी कहती है—'यन्मनुरवदत् तद् भेषजम्' अर्थात् मनु ने अपनी स्मृति में जीवनोन्नयन के लिए जिन साधनों का निर्देश किया है, उसे किसी भी मुमुक्षु जीव को उसी तरह से अपने जीवन में उतारना चाहिए, जिस तरह से कोई रोगी स्वास्थ्य-लाभ के लिए भेषज का सेवन करता है। अतएव मनु परम आप्त हैं और उनके द्वारा प्रणीत मनुस्मृति भी पूर्णरूप से प्रामाणिक है। हिरण्यगर्भ आदि भी आप्त हैं, किन्तु उनको त्रैगुण्य के अधीन होकर अतत्त्वोपदेश करते हुए भी देखा गया है। छान्दोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक में हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम चार्वाक मत का सूत्रपात करते हुए प्रतीत होते हैं। अतएव इनके द्वारा प्रणीत स्मृति एवं योगशास्त्र भी श्रुति से अनुकूल अंश में ही प्रामाणिक माने जाते हैं। कपिलस्मृति के प्रणेता महर्षि कपिल स्वयं भगवान् के अवतार हैं; किन्तु कपिलस्मृति का प्रामाण्य हम उसी अंश में स्वीकार करते हैं, जिस अंश में उनका मनुस्मृति से कोई विरोध नहीं है। विरोधस्थल में तो मनुस्मृति का ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। मनुस्मृति की प्रामाणिकता के समर्थन में कहा भी गया है—'वेदेषु पौरुषं सूक्तं धर्मशास्त्रेषु मानवम्।' अर्थात् चारों वेदों में पठित पुरुषसूक्त का जिस तरह से सर्वाधिक प्रामाण्य माना जाता है, उसी तरह से मनुस्मृति का भी सभी स्मृतियों में प्रामाण्य स्वीकार करना चाहिए।

वेद के ही अर्थों की व्याख्या करने के लिए इतिहास एवं पुराणों की प्रवृत्ति मानी जाती है। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयते' इस वाक्य में इतिहास और पुराणों को वेदार्थ की व्याख्या का साधन बतलाया गया है। इतिहास में रामायण और महाभारत, इन दो ग्रन्थों का नाम आता है। उनमें रामायण को श्रीवचनभूषणकार ने इतिहास-श्रेष्ठ कहा है। महाभारत और रामायण में आपाततः कहीं-कहीं विरोध की प्रतीति होती है, किन्तु तत्त्व के विषय में दोनों ग्रन्थों का ऐकमत्य है। अतएव विद्वानों को चाहिए कि उन दोनों ग्रन्थों में वे उसी तरह सामञ्जस्य स्थापित करें,

जिस तरह आपाततः विरुद्ध प्रतीत होने वाले वेदान्त-वाक्यों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाता है।

अन्येषां पुराणागमादीनां प्रामाण्यव्यवस्था

सर्गादिपञ्चकप्रतिपादकपुराणेष्वपि सात्त्विकराजसतामसभेदभिन्नेषु तत्त्वांशे (विरोधाभावात्) विरुद्धांशो न प्रमाणम्, अन्यत्सर्वं प्रमाणम्। पाशुपताद्यागमा अपि तथैव। आगमदिव्यतन्त्रतन्त्रान्तरसिद्धान्तभेदभिन्नस्य श्रीपाञ्चरात्रागमस्य क्वचिदपि वेदविरोधाभावात् कात्स्र्न्येन प्रामाण्यम्। एवं वैखानसागमस्यापि। धर्मशास्त्राणामपि तथैव। शाण्डिल्यपराशर-भरद्वाजवसिष्ठहारीतादयो धर्मशास्त्रप्रणेतारः। शिल्पायुर्वेदगान्धर्वभरताग-मादिकमप्युपयुक्तांशे तथव। शिल्पो नाम कर्षणादिगोपुरप्राकारादिनिर्माण-प्रतिपादकः। आयुर्वेदो वैद्यकम्। गान्धर्वो गानादिनिरूपकः। भरतागमो नृत्तादिविधायकः। पुनः चतुष्षष्टिकलारूपेषु शास्त्रेषु तत्त्वोपायपुरुषार्थोप-युक्तानि प्रमाणानि।

अनुवाद—पुराणों के प्रतिपाद्य विषय सर्ग आदि पाँच है। पुराणों के सात्त्विक, राजस एवं तामस, ये तीन भेद हैं। इनमें तत्त्व के विषय में जहाँ कहीं भी विरोध है, उसे प्रामाणिक नहीं माना जाता है। उससे भिन्न पुराणों के सभी अंशों को प्रामाणिक माना जाता है। पाशुपत आदि आगमों के विषय में भी यही बात है। पाञ्चरात्रागम चार प्रकार के सिद्धान्तों में विभक्त है—आगमसिद्धान्त, दिव्यसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त एवं तन्त्रान्तरसिद्धान्त। श्रीपाञ्चरात्रागम का वेदों से कहीं भी विरोध नहीं है, अत एव सम्पूर्ण पाञ्चरात्रागम की प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। इसी तरह वैखान-सागम की भी पूर्णरूप से प्रामाणिकता स्वीकार की जाती है। इसी तरह से धर्मशास्त्रों की भी बात है। धर्मशास्त्रों के प्रणेता—शाण्डिल्य, पराशर, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा हारीत आदि महर्षि हैं। शिल्पशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, गान्धर्वशास्त्र, नाटचशास्त्र आदि का भी उपर्युक्त अंश में ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। कर्षण आदि तथा गोपुर एवं प्राकार आदि के निर्माण की प्रतिपादिका शिल्पविद्या है। वैद्यक को आयुर्वेद कहते हैं। गान इत्यादि का निरूपण करने वाली गान्धर्वविद्या है। भरतागम (नाटच-शास्त्र) नृत्त आदि का विधान करता है। इसके अतिरिक्त चौंसठ कलारूपी शास्त्रों में उन्हीं अंशों का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, जो तत्त्व, हित एवं पुरुषार्थ का प्रतिपादन करते हैं।

पुराणादि के प्रामाण्य की व्यवस्था

भा० प्र०—पुराणों के विषयों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि पुराणों के सर्ग आदि पाँच विषय हैं। तथाहि—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च, वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम्॥'

पुराणों में निम्न पाँच विषय वर्ण्य हैं—१. सर्ग=सृष्टि। २. प्रतिसर्ग=प्रलय। ३. वंश=विभिन्न वंशों का वर्णन। ४. मन्वन्तरों का वर्णन तथा ५. विभिन्न वंशों के चरितों का वर्णन।

पुराणों की संख्या अठारह हैं। इन अठारह पुराणों को तीन भागों में विभक्त किया जाता है—सात्त्विक, राजस एवं तामस। कहा भी गया है—

'वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शने॥
षडेतानि पुराणानि सात्त्विकानि मतानि मे।
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तम् मार्कण्डेयं तथैव च॥
भविष्यं वामनं ब्राह्मं राजसानि निबोध मे।
मात्स्यं कौर्मं तथा लैङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि निबोध मे'॥

अर्थात् 'हे मनोहारिणी पार्वती! विष्णुपुराण, नारदपुराण तथा कल्याणकारी भागवत(श्रीमद्भागवत)पुराण, गरुडपुराण, पद्मपुराण तथा वाराहपुराण, ये छह पुराण मुझे सात्त्विक रूप से अभिमत हैं। ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय, भविष्यत्, वामन तथा ब्राह्म, इन छह पुराणों को राजस जानो।' मत्स्य, कूर्म, लिङ्ग, शिव, स्कन्द तथा अग्नि, इन छह पुराणों को तामस पुराण जानो। इन सभी पुराणों का आपस में तत्त्व के विषय में कोई भी विरोध नहीं है। अतएव इन सभी पुराणों का वेदानुकूल तत्त्वांश के विषय में ही प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। विरोधस्थल में प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जाता है। इसी तरह पाशुपत आदि आगमों को भी जहाँ वेदानुकूल तत्त्वांश से विरोध है, वहीं उनका प्रामाण्य नहीं स्वीकार किया जाता है। अन्यत्र उनका सर्वत्र प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। पाञ्चरात्र शास्त्र के प्रवक्ता भगवान् श्रीमन्नारायण को माना जाता है। प्राचीनकाल में श्रीभगवान् ने अपने पञ्चायुध के अंश से समुद्भूत औपगायन, शाण्डिल्य, भरद्वाज, कौशिक तथा मौञ्जायन महर्षियों को पृथक्-पृथक् एक-एक रात्रियों में लोक की रक्षा, संसारी जीवों का उद्धार, सद्धर्म तथा स्वाराधन के प्रवर्तन हेतु, मोक्षप्रद, आद्यवेद एकायन शाखा नामक रहस्याम्नाय को पढाया, इसीलिए उसे श्रीपाञ्चरात्रागम के नाम से अभिहित किया जाता है। इसका दूसरा नाम भगवच्छास्त्र भी है। पाञ्चरात्र का कहीं भी वेदों से तत्त्व के विषय में विरोध नहीं है, अतएव सम्पूर्ण पाञ्चरात्र का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। पाञ्चरात्र में वेदार्थ, धर्म, वेदान्तार्थ तथा परतत्त्व का उपबृंहण किया गया है। सम्पूर्ण पाञ्चरात्र में चार सिद्धान्तों का वर्णन है—आगमसिद्धान्त, दिव्यसिद्धान्त, तन्त्रसिद्धान्त एवं तन्त्रान्तर-सिद्धान्त। दिव्यसिद्धान्त को ही मन्त्रसिद्धान्त भी कहा जाता है। श्रीपाञ्चरात्र की एक सौ आठ संहिताएँ कही गयी हैं।

मन्त्रसिद्धान्त अथवा दिव्यसिद्धान्त एक मूर्तिप्रधान है अर्थात् श्रीभगवान् के पर-रूप का प्रधान रूप से प्रतिपादन करता है। आगमसिद्धान्त चतुर्मूर्तिप्रधान है। अर्थात् श्रीभगवान् की वासुदेव, संकर्पण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध, इन चार मूर्तियों का वर्णन करता है। तन्त्रसिद्धान्त नवमूर्तिप्रधान है तथा तन्त्रान्तरसिद्धान्त भगवान् की तीन-चार मुखों वाली मूर्तियों की आराधना का प्रधान रूप् से प्रतिपादन करता है। इस तरह सम्पूर्ण पाञ्चरात्रागम का प्रामाण्य सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है।

श्रीभगवान् के अवतारभूत महर्षि वैखानसि ने वैखानसागम का प्रणयन किया। इसमें श्रीभगवान् की आराधना का प्रकार, उनकी प्रतिष्ठा तथा महोत्सव आदि का विस्तृत वर्णन है। अतएव इस विषय में वैखानसागम का भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों का भी वही प्रामाण्य नहीं स्वीकारा जाता, जहाँ उनका वेदों से तत्त्व के विषय में विरोध है। धर्मशास्त्रों के प्रणेताओं में प्रख्यात कुछ निम्न महर्षि हैं—शाण्डिल्य, पराशर, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा हारीत आदि। इसी तरह शिल्प, आयुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा चौसठ कलाओं का भी उपर्युक्त अंश में हम प्रामाण्य स्वीकार करते हैं।

सहस्रगीतिश्रीभाष्ययोः प्रामाण्यप्रतिपादनम्

बकुलाभरणादिदिव्यसूरिश्रीसूक्तयः कात्स्न्येंन प्रमाणतराः। श्रीमद्रा-मानुजाचार्यप्रभृतिभिः प्रणीता श्रीभाष्यादिप्रबन्धाः प्रमाणतमाः।

अनुवाद—श्रीशठकोपसूरि आदि दिव्य सूरियों द्वारा ग्रथित श्रीसूक्तियाँ पूर्णरूप से प्रामाणिक हैं। श्रीमद्रामानुजाचार्य आदि द्वारा प्रणीत श्रीभाष्य आदि ग्रन्थ तो प्रमाणतम हैं।

सहस्रगीति तथा श्रीभाष्य की प्रामाणिकता

भा० प्र०—विशिष्टाद्वैत दर्शन के प्रवर्तकों के मूल में दिव्य सूरियों का नाम आता है। दिव्य सूरियों की संख्या दस मानी जाती हैं। वे हैं—भूतयोगी, सरोयोगी, महायोगी, भट्टनाथसूरि, श्रीभक्तिसारसूरि, कुलशेखरसूरि, योगिवाहन(पाण)सूरि, भक्ताङ्घ्रिरेणुसूरि, परकालसूरि तथा श्रीशठकोपसूरि। इन दिव्य सूरियों ने जिन-जिन सहस्रगीति आदि द्राविडवेदान्त के ग्रन्थों का प्रणयन किया है, उन सभी का पूर्णरूप से प्रामाण्य सिद्धान्त में स्वीकार किया जाता है। द्राविडवेदान्त एवं संस्कृतवेदान्त दोनों के रहस्यों को पूर्णरूप से प्रकट करने के कारण भगवद्रामानुजाचार्य आदि आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रीभाष्य ग्रन्थों को सिद्धान्त में प्रामाणिकतम माना जाता है।

वाक्यादिविचारः

पुरुषस्वातन्त्र्याधीनरचनाविशेषविशिष्टं पौरुषेयम्। एतेन काव्यनाट-कालङ्कारादीनामपि लक्षणमुक्तं स्यात्। एवमाप्तेनोच्चारितान्याकाङ्क्षा-योग्यतासन्निधिमल्लौकिकवाक्यान्यपि प्रमाणानि। यथा—नद्यास्तीरे पञ्च

फलानि सन्तीत्यादीनि। एवं वैदिकलौकिकसाधारणं वाक्यं द्विविधम्—मुख्यवृत्तिगौणवृत्तिभेदात्। मुख्यवृत्तिरभिधावृत्तिः। यथा—सिंहशब्दस्य मृगेन्द्रे। साऽभिधावृत्तिर्योगरूढ्यादिभेदेन बहुविधा। मुख्यार्थबाधे सति तदासन्नेऽर्थे वृत्तिरौपचारिकी। सा द्विविधा—लक्षणागौणीभेदात्। प्रथमा यथा—गङ्गायां घोष इत्यत्राधिकरण(त्व)स्य बाधात्तीरे लक्षणा। द्वितीया यथा—सिंहो देवदत्त इत्यत्र देवदत्ते शौर्यादिगुणयोगात्। एवं वैदिकलौकिकरूपं सर्वं वाक्यजातं सविशेषविषयकं भेदविषयकं च। शरीरवाचकशब्दानां यथा शरीरिणि पर्यवसानम्, एवं भगवच्छरीरभूतब्रह्मरुद्राग्नीन्द्रादिचिद्वाचकशब्दानां, तथा तच्छरीरभूतप्रकृतिकालाकाशप्राणाद्यचिद्वाचकशब्दानां च शरीरिणि परमात्मनि नारायणे पर्यवसानमुपपादयन्त्याचार्याः। वेदान्तज्ञानाद् व्युत्पत्तिः पूर्यत इत्युक्तम्। नारायणस्य सर्वशब्दवाच्यत्वं सर्वशरीरकत्वमित्यादिकं तूपरि ईश्वरपरिच्छेदे प्रतिपादयामः। इति शब्दो निरूपितः।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां
शब्दनिरूपणं नाम तृतीयोऽवतारः।

अनुवाद—ग्रन्थकार अपनी इच्छा से जिस ग्रन्थ का प्रणयन करता है, उसे पौरुषेय कहते हैं। इस तरह काव्य, नाटक एवं अलङ्कार ग्रन्थ भी पौरुषेय ग्रन्थ के अन्तर्गत आते हैं। आप्त पुरुष के द्वारा उच्चरित आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधियुक्त लौकिक वाक्य भी प्रामाणिक हैं। जैसे—'नदी के तट पर पाँच फल हैं।' इत्यादि वाक्य। इस तरह वैदिक एवं लौकिक दोनों तरह के वाक्य दो-दो तरह के होते हैं—मुख्यावृत्ति वाले तथा गौणीवृत्ति वाले। अभिधावृत्ति को ही मुख्यावृत्ति कहते हैं। जैसे—सिंह शब्द की मृगेन्द्र में मुख्यावृत्ति है। उस अभिधावृत्ति के—योग, रूढ आदि बहुत से भेद हैं। मुख्यार्थ का बाध हो जाने पार मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ में जो शब्द की वृत्ति होती है, उसे औपचारिकी वृत्ति कहते हैं। औपचारिकी वृत्ति दो प्रकार की होती है—लक्षणा तथा गौणी। जैसे 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में जल-प्रवाह के अधिकरणत्व का बाध होने से गङ्गा पद की तीर में लक्षणा होती है। 'देवदत्त सिंह है' इस वाक्य में देवदत्त में सिंह पद का इसलिए प्रयोग हुआ है कि देवदत्त में सिंह के शौर्य, क्रौर्य आदि गुणों का योग है।

इस तरह सभी वैदिक तथा लौकिक वाक्यों के विषय विशेषणविशिष्ट तथा भेद्रयुक्त पदार्थ होते हैं। जैसे—तत्-तत् शरीरों के वाचक शब्दों का पर्यवसान शरीरी में होता है, उसी तरह श्रीभगवान् के शरीरभूत ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि, इन्द्र आदि चेतनों

के वाचक तथा प्रकृति, काल, आकाश तथा प्राण आदि अचेतनों के वाचक शब्दों का पर्यवसान उनके आत्माभूत परमात्मा श्रीमन्नारायण में ही होता है, इस अर्थ का प्रतिपादन आचार्यगण करते हैं। कहा भी गया है कि वेदान्त का श्रवण कर लेने पर ही ज्ञान की पूर्ति होती है। हम आगे ईश्वर-परिच्छेदों में इस अर्थ का प्रतिपादन करेंगे कि भगवान् नारायण ही सभी शब्दों के वाच्य तथा सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं। इस तरह शब्दप्रमाण का निरूपण किया गया।

भा० प्र०—उपर अपौरुषेय वेदों की चर्चा की गयी है, प्रसङ्गतः वेदाङ्गों तथा वेदोपबृंहण ग्रन्थों की भी चर्चा की गयी है। किन्तु अपौरुषेयता की चर्चा उपर नहीं की गयी है। अतएव ग्रन्थकार अपौरुषेय रचना की चर्चा से इस अनुच्छेद को उपक्रान्त करते हैं।

ग्रन्थकार अपनी इच्छा के अनुसार जिस ग्रन्थ की रचना करता है, वह पौरुषेय ग्रन्थ है। इतिहास, पुराण, वेदाङ्ग आदि पौरुषेय हैं, क्योंकि इन ग्रन्थों के प्रणेता तत्-तत् महर्षि आदि हैं। काव्य, नाटक आदि भी पौरुषेय ग्रन्थ की ही कोटि में आते हैं।

वाक्य-विचार—आप्त पुरुषों द्वारा प्रोक्त लौकिक वाक्य भी वैदिक वाक्य के ही समान शाब्दीप्रमा के जनक होने के कारण प्रामाणिक होते हैं। अब प्रश्न उठता है कि वाक्य किसे कहते हैं ? वाक्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्तियुक्त पदसमूह को ही वाक्य कहा जाता है—'वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयः।' ग्रन्थकार को भी वाक्य का यही लक्षण अभिप्रेत है। इस वाक्य में आये हुए आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति पदार्थ व्याख्या-सापेक्ष हैं, अतएव उनकी चर्चा नीचे की जा रही है।

आकांक्षा—किसी ज्ञान की समाप्ति या पूर्ति का न होना ही आकांक्षा है। 'आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः।' वाक्यार्थ की पूर्ति के लिए किसी पदार्थ की जिज्ञासा का बना रहना आकांक्षा कहलाता है। जैसे—'देवदत्तो ग्रामम्' इतना कहने के पश्चात् भी 'गच्छति' इत्यादि की आकांक्षा बनी रहती है। उसके बिना वाक्यार्थ-ज्ञान की पूर्ति नहीं होती है। वाक्य के पदों में आकांक्षा का सद्भाव रहता है।

योग्यता—'योग्यता पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः।' एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से सम्बन्ध करने में बाध का न होना ही योग्यता कहलाती है। जो पदार्थ जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करने में बाधित न हो, उसे योग्य कहते हैं। योग्यता के बिना भी पदसमुदाय को वाक्य माना जाय तो 'वह्निना सिञ्चति' इस पदसमुदाय को भी वाक्य मानना होगा। किन्तु वह्नि की सिञ्चने की कारणता नहीं है, अपितु इसमें जलाने की योग्यता है। अतएव यह पदसमुदाय योग्य नहीं है।

आसत्ति—प्रकृतोपयोगी पदार्थों की उपस्थिति के अव्यवधान को आसत्ति कहते हैं। जिन पदार्थों का प्रकरण में सम्बन्ध होता है, उनके बीच में व्यवधान न होना आसत्ति कहलाता है। यह व्यवधान दो प्रकार का होता है—कालकृत एवं देशकृत।

यदि कालकृत व्यवधान के होने पर भी पदसमूहों में वाक्यत्व हो तो आज के उच्चरित 'रामः' पद का दूसरे दिन के उच्चरित—'गच्छति' पद से संबन्ध होने लगेगा। यदि देशकृत व्यवधान के रहने पर भी पदसमुदाय को वाक्य माना जाय तो प्रथम पृष्ठ पर लिखे गये 'देवदत्तः' पद का तृतीय पृष्ठ पर लिखे गये 'याति' पद से संबन्ध होकर वाक्य होने लगेगा। अतएव आकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति युक्त पदसमुदाय को वाक्य कहते हैं।

वृत्तिभेद के कारण वाक्यभेद—यतीन्द्रमतदीपिकाकार वृत्तियों के भेद के कारण भी वाक्य के भेद का प्रतिपादन करते हुए उसका वे दो भेद मानते हैं—मुख्यावृत्ति वाला वाक्य तथा गौणीवृत्ति वाला वाक्य। शब्द में होने वाले व्यापार को वृत्ति कहते हैं। शब्द की वृत्ति दो प्रकार की होती है—मुख्यावृत्ति एवं गौणीवृत्ति। मुख्यावृत्ति को ही अभिधावृत्ति कहते हैं। अभिधावृत्ति को ही शक्ति भी कहते हैं। शब्द के इस व्यापार के द्वारा संकेतितार्थ का ज्ञान होता है। अभिधावृत्ति वाले वाक्य के ही यौगिक एवं रूढ आदि कई भेद होते हैं।

मुख्यार्थ का बाध होने पर मुख्यार्थ से संबद्ध अर्थ में जो शब्द की वृत्ति होती है, उसे औपचारिकी वृत्ति कहते हैं।

उपचार पदार्थ—उपचार को लक्षित करते हुए आचार्य विश्वनाथ कहते हैं—'अत्यन्तविशकलितयोः शब्दयोः (पदार्थयोः) सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचारः।' अर्थात् अत्यन्त पृथक्-पृथक्-रूप से प्रतीत होने वाले दो पदार्थों का सादृश्यातिशय्य के कारण भेद की प्रतीति का न होना ही उपचार है।

मुख्यार्थबाध का हेतु और उदाहरण—शब्द की उपचारवृत्ति के लिए मुख्यार्थ का बाध होना अनिवार्य है। यह मुख्यार्थ का बाध तात्पर्य अनुपपत्ति होने पर ही होता है। जैसे—'गङ्गायां घोषः' यह वाक्य है। इसके गङ्गा शब्द का जलप्रवाह रूप अर्थ है। 'गङ्गायाम्' की सप्तमी का अधिकरण रूप अर्थ है। घोष शब्द का अर्थ मडई है। 'घोषः' के प्रथमा का अर्थ आधेयता है। यह आधेयता 'गङ्गायाम्' की अधिकरणता से निरूपित है। इस तरह इस वाक्य का अर्थ यह हुआ—'जलप्रवाहनिष्ठ अधिकरणतानिरूपित आधेयतावान् घोषः'। किन्तु जलप्रवाह घोष का आधार नहीं हो सकता है। अतएव जलप्रवाह तथा घोष में आधाराधेयभाव अनुपपन्न होता है। गङ्गा पद का जलप्रवाह से भिन्न उससे सन्निकटस्थ कूल (तट) में लक्षणा होती है और उक्त वाक्य का अर्थ हुआ—'जलप्रवाहतटनिष्ठ अधिकरणतानिरूपित आधेयतावान् घोषः।'

दो प्रकार की औपचारिकी वृत्ति—शब्द की यह औपचारिकी वृत्ति दो प्रकार की होती है—लक्षणा और गौणी। 'गङ्गायां घोषः' लक्षणा का उदाहरण है। मुख्यार्थ का बाध होने पर गौणीवृत्ति गुण को लेकर प्रवृत्त होती है। जैसे—'सिंहो देवदत्तः' देवदत्त सिंह है। किन्तु सिंह एक चतुष्पाद जानवर का नाम है। अतएव देवदत्त एवं सिंह में अभेद असंभव है। किन्तु जिस तरह का शौर्य, क्रौर्य, वीर्य एवं पराक्रम सिंह

में पाया जाता है, उसी तरह के शौर्यादि से युक्त देवदत्त है। इस गुण के साम्य के कारण 'सिंहो देवदत्तः' यह वाक्य कहा जाता है। कठोपनिषद् में यमराज से नचिकेता नामक अतिथि के विषय में उनके अमात्यों ने कहा था—'वैश्वानर अतिथिः।' यह वैदिक वाक्य भी गौणी प्रयोग का उदाहरण है।

वैदिक एवं लौकिक सभी प्रकार के वाक्यों के विषय सविशेष ही होते हैं—यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है। उनका कहना है कि कोई भी शब्द सर्वथा विशेषण रहित वस्तु का प्रतिपादन नहीं कर सकता, क्योंकि वाक्यों तथा पदों का यह स्वभाव होता है कि वे विशेषणविशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन करते हैं। पदों के दो भाग होते हैं—प्रकृतिभाग और प्रत्ययभाग। इन दोनों भागों के अर्थ भिन्न-भिन्न होते हैं और वे दोनों अर्थ परस्पर में अन्वित होते हैं। इस तरह प्रकृति प्रत्ययार्थविशिष्ट स्वार्थ को बतलाती है तथा प्रत्यय अपने अर्थ से विशिष्ट प्रकृत्यर्थ को बतलाता है। अतः स्पष्ट है कि पद प्रकृत्यर्थ से युक्त प्रत्ययार्थ का प्रतिपादन करता है। अतः पद विशेषणविशिष्ट अर्थ का ही प्रतिपादन कर सकता है, यह सिद्ध होता है। यदि पद ही निर्विशेष अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता है तो फिर पदों के समुदाय रूप वाक्य कैसे निर्विशेष अर्थ का प्रतिपादन कर पायेगा ? अतः सभी वाक्य सविशेष अर्थ का ही प्रतिपादन करते हैं; यह सिद्ध होता है।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है। 'जगत् सर्वं शरीरं ते' हे भगवन् ! सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है। 'तत् सर्वं वै हरेस्तनुः' श्रीहरि का सम्पूर्ण जगत् तनु है। इत्यादि श्रौतस्मार्तवाक्य बतलाते हैं कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है और ब्रह्म जगत् की आत्मा है। जिस तरह देवदत्त आदि शरीरवाचक शब्द उस शरीर के भीतर रहने वाली आत्मा-पर्यन्त का बोध कराते हैं, उसी तरह सभी देव, मनुष्य आदि जीवों तथा प्रकृति, काल आदि उचित पदार्थों के वाचक शब्द उन शरीरों के भीतर रहनेवाली आत्मा और आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन करने वाले परमात्मा-पर्यन्त का अभिधान करते हैं। किन्तु इस अर्थ का ज्ञान तब होता है जबकि वेदान्त का श्रवण कर लिया जाय। इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—'वेदान्तज्ञानेन व्युत्पत्तिः पूर्यते।' ज्ञान की पूर्णता वेदान्त-श्रवण करने के पश्चात् ही होती है। वेदान्तश्रवण किये बिना जगत् के ब्रह्मात्मकत्व का ज्ञान सम्भव नहीं है। जगत् के ब्रह्मात्मकत्व का ज्ञान ही ज्ञान की पूर्णता है, अतएव जीवनोन्नयन हेतु वेदान्त का श्रवण अनिवार्य है।

इस तरह श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का शब्दनिरूपण नामक तीसरा अवतार पूर्ण हुआ।

अथ चतुर्थोऽवतारः

प्रमेयस्य द्रव्याद्रव्येतिभेदद्वयसमर्थनम्

प्रमाणनिरूपणानन्तरं प्रमेयं निरूप्यते। प्रकर्षेण मेयं प्रमेयम्। तच्च द्विविधम्—द्रव्याद्रव्यभेदात्। उपादानं द्रव्यम्। अवस्थाश्रय उपादानम्। ननु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्त पदार्था इति मतान्तरस्थैः सप्तधा परिगणनात् कथं द्रव्याद्रव्यभेदेन द्विधा समर्थनमिति चेत्; उच्यते। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात् कर्म पञ्चधाऽवस्थितमिति कल्पने गौरवात्, चलनात्मकं कर्मेत्येकधैवोपपत्तेः, तस्यापि संयोगमादायैवोपपत्तेः। संस्थानमेव जातिरिति संस्थानातिरेकेण सामान्यानङ्गीकारात्। समवाये समवायान्तराङ्गीकारेऽनवस्थानात्, तस्यापि संयुक्तविशेषण(तयैवो)तामादायोपपत्तेः। जीवेश्वरयोरणुत्वविभुत्वादिविभाजकधर्ममन्तरेण 'विशेष' इति किञ्चित्पदार्थाङ्गीकारे गौरवात्। अतः कर्मसामान्यविशेषसमवायानां पृथक्पदार्थत्वेनानङ्गीकाराच्च द्रव्यमद्रव्यमिति द्विधा विभाग उपपद्यते। एतेनाभावस्सप्तमपदार्थ इत्यपि निरस्तम्। अभावस्य भावान्तररूपत्वात्। प्रागभावो नाम पूर्वावस्थापरम्परा, ध्वंस उत्तरावस्थापरम्परा, अत्यन्तान्योन्याभावौ च धर्म्यन्तर(गतविशेष)स्वरूपावेव। एतस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भावः पूर्वमुक्तः। उपादानं द्रव्यमित्युक्तम्। गुणाश्रयो द्रव्यमित्यपि सामान्यलक्षणं सम्भवति।

अनुवाद—प्रमाणों के निरूपण के पश्चात् अब प्रमेय का निरूपण किया जा रहा है। जो प्रकृष्ट रूप से जानने योग्य होग्य हो, उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमेय के दो भेद हैं—द्रव्य एवं अद्रव्य। उपादान को द्रव्य कहते हैं। जो अवस्थाओं का आश्रय होता है, उसे उपादान कहते हैं।

प्रश्न उठता है कि—वैशेषिक आदि ने पदार्थों को सात भागों में विभक्त किया है—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव; अतएव पदार्थों के द्रव्य एवं अद्रव्य यह दो ही विभाग सिद्धान्त में कैसे किया जाता है? तो इसका उत्तर यह है कि—वैशेषिकों ने कर्म के पाँच भेद किये हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन प्रसारण एवं गमन, किन्तु उनकी इस कल्पना में गौरव है, क्योंकि कर्म गति-स्वरूप है, इस लक्षण से कर्म एक ही प्रकार का उपपन्न होता है। उस कर्म की भी उपपत्ति बिना संयोग के नहीं हो सकती है। सामान्य जाति का वाचक है। वह जातिसंस्थानविशेष ही है, अतएव हम जाति को संस्थान रूप ही मानते हैं। समवाय

के उपपादक रूप से दूसरे समवाय को मानने पर अनवस्था दोष होगा। उस समवाय की भी सिद्धि संयुक्त वस्तु के विशेषण रूप से ही होती है। जीव तथा ईश्वर के अणुत्व एवं विभुत्व का विभाजक धर्म ही विशेष है। उससे भिन्न पदार्थ को विशेष मानने पर गौरवदोष होगा। इस तरह कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय को अतिरिक्त पदार्थ न स्वीकार कर सकने के कारण पदार्थों का द्रव्य एवं अद्रव्य यह दो ही भेद उपपन्न होता है। किञ्च वैशेषिकों को अभिमत अभाव नामक सातवें पदार्थ का भी हम खण्डन करते हैं, क्योंकि अभाव भावान्तररूप होता है। किसी वस्तु का प्रागभाव उसकी पूर्वावस्था की परम्परा होती है। उसकी उत्तरावस्थाओं की परम्पराओं को किसी भी वस्तु का प्रध्वंस कहा जाता है। अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव तो भावान्तररूप होते ही हैं। अभाव का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव होता है, यह हम प्रथम अवतार में कह चुके हैं। जो उपादान होता है, उसे द्रव्य कहते हैं, यह हम ऊपर कह चुके हैं। जो गुणों का आश्रय होता है, उसे द्रव्य कहते हैं। यह भी द्रव्य सामान्य का लक्षण हो सकता है।

प्रमेय-निरूपण

भा० प्र०—प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अवतारों में प्रमाणों का निरूपण किया जा चुका है। इस चतुर्थ अवतार में अवसर-प्राप्त प्रमेय का निरूपण किया जा रहा है।

प्रमेय-निरूपण—प्रमेय शब्द के अर्थ के विषय में वैयाकरणों के दो तरह के विचार हैं—(१) 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण युज्यते पश्चात् साधनेन।' अर्थात् धातु का पहले उपसर्ग से संबन्ध होता है और उसके बाद वह कारक से युक्त होता है। इस पक्ष के अनुसार प्रमेय शब्द का अर्थ है—प्रकृष्ट ज्ञान। अर्थात् यथार्थज्ञान प्रमा है। उसका जो विषय होता है, उसे प्रमेय कहते हैं। इस तरह प्रमेय शब्द का अर्थ होता है—यथार्थज्ञान का विषय। यह प्रमेयत्व सर्वपदार्थसाधारण सामान्यधर्म है। (२) दूसरा पक्ष है' पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण।' अर्थात् धातु का पहले कारक से संबन्ध होता है और उसके बाद उसका उपसर्ग से संबन्ध होता है। इस पक्ष के अनुसार प्रमेय शब्द का अर्थ होता है मिति अर्थात् ज्ञान का विषय मेय कहलाता है। जो प्रकृष्ट तथा मेय हो, उसे प्रमेय कहते हैं अर्थात् जो अच्छी तरह जानने योग्य हो, उसे प्रमेय कहते हैं। यह प्रमेयत्व विशेषधर्म है, क्योंकि सभी पदार्थ अच्छी तरह जानने योग्य नहीं है। कोई-कोई लाभप्रद पदार्थ ही अच्छी तरह से जानने योग्य होते हैं।

प्रमेय के दो भेद—विशिष्टाद्वैत दर्शन में प्रमेय को दो भागों में विभक्त किया जाता है—द्रव्य एवं अद्रव्य। द्रव्य उसे कहते हैं, जो उपादान होता है। उपादान उसे कहते हैं, जो अवस्थाश्रय होता है। अवस्था उस धर्म को कहते हैं, जो अपने धर्मी का अपृथक्सिद्ध तथा आगन्तुक धर्म हो। जैसे—शरीर की बालत्वावस्था, युवत्वावस्था। अथवा घट की कपालत्वावस्था, चूर्णत्वावस्था इत्यादि।

वैशेषिकों की शंका—यहाँ पर सप्तपदार्थों को स्वीकार करने वाले वैशेषिकों की शंका यह है कि महर्षि कणाद ने सात पदार्थों का निर्देश किया है– द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव। इस विभाजन की ओर ध्यान न देकर विशिष्टाद्वैती पदार्थों का द्रव्य एवं अद्रव्य यह दो ही भेद कैसे करते हैं ?

वैशेषिकाभिमत सप्तपदार्थों का द्रव्य एवं अद्रव्य में अन्तर्भाव-निरूपण—वैशेषिकों की उपर्युक्त शंका का समाधान करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है है कि वैशेषिक पाँच प्रकार के कर्मों को स्वीकार करते है, किन्तु वे सभी उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन गतिरूप हैं, अतएव उनका पाँच भेद न करके एक ही प्रकार का कर्म मानकर कर्म का लक्षण 'चलनात्मकं कर्म' करना चाहिए। और जहाँ कहीं भी कोई क्रिया होती है, वहाँ पूर्वदेशविश्लेष एवं उत्तरदेशसंयोग का नैरन्तर्य मात्र उपलब्ध होता है। अतएव संयोगातिरिक्त कर्म को अतिरिक्त पदार्थ मानना उचित नहीं है।

इसी तरह वैशेषिक जाति को ही सामान्य शब्द से अभिहित करते हैं। किन्तु जाति प्रत्यक्ष के विषयभूत वस्तु का संस्थानरूप है। उसी का द्वितीय, तृतीय आदि प्रत्यक्षों में परामर्श होता है। 'इयमपि गौः, गोत्वावच्छिन्नत्वात्' इत्यादि रूप से। संस्थानविशेष से भिन्न गोत्वादि जाति नाम का कोई भी पदार्थ नहीं होता, जिसका प्रत्यक्षकाल में साक्षात्कार होता हो तथा द्वितीय, तृतीय आदि प्रत्यक्षों में उसका प्रत्यवमर्श होता हो। अतएव मानना चाहिए, वस्तु का जो असाधारण आकार है, उसे जाति कहते हैं।

वैशेषिक विद्वान् अयुतसिद्ध वस्तुओं के गुण-गुणी, जाति-व्यक्ति आदि में जो विशिष्ट प्रतीति होती है, उस प्रतीति का कारण समवाय नामक संबन्ध है, यह मानते हैं। इस तरह अयुतसिद्ध उपलब्धियों में जाति आदि का निर्वाहक संबन्ध समवाय है। किन्तु वैशेषिकों का यह कथन इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार जाति, व्यक्ति आदि की विशिष्ट प्रतीति का निर्वाहक समवाय है, उसी प्रकार उस समवाय का भी कोई न कोई निर्वाहक मानना होगा। उस निर्वाहक का भी कोई निर्वाहक अवश्य होगा। इस प्रकार समवाय की मान्यता में अनन्तापेक्षकत्व रूप दोष है। किञ्च समवाय इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु के विशेषण रूप से ही सिद्ध होता है। किञ्च विशेष नामक पदार्थ, जिसे वैशेषिक कहते हैं, वह जीव एवं ईश्वर के अणुत्व एवं विभुत्व आदि का विभाजक धर्म मात्र है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत दर्शन में कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय को अलग पदार्थ स्वीकार न करके पदार्थों का द्रव्य एवं अद्रव्य यह दो विभाग करते हैं।

किञ्च—वैशेषिक जिसे अभाव नामक पदार्थ मानते हैं, वह भी भावान्तर रूप होता है। जैसे घट का प्रागभाव घट की पिण्डत्वावस्था है। उसका प्रध्वंस कपालत्वावस्था एवं चूर्णत्वावस्था है। घट का अत्यन्ताभाव तथा उसका अन्योन्याभाव तो स्पष्ट

रूप से भावान्तररूप हैं। अभाव को भावान्तररूप मानने तथा उसका प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव मानने के कारण अभाव को एक अलग पदार्थ मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। इस तरह पदार्थों का द्रव्य एवं अद्रव्य यह दो भेद युक्तियुक्त सिद्ध होते हैं।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने द्रव्य का एक और लक्षण किया है, वह है—जो गुणों का आश्रय होता है, उसे हम द्रव्य कहते हैं।

द्रव्यविभागः

तानि च द्रव्याणि षट्—प्रकृतिकालशुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरभेदात्। तत्र, जडाजडरूपयोर्विभक्तयोर्मध्ये जडलक्षणमुच्यते। अमिश्रसत्त्वरहितं जडमिति। तद् द्विविधम्—प्रकृतिकालभेदात्।

अनुवाद—वे द्रव्य छः हैं—प्रकृति, काल, शुद्धसत्त्व, धर्मभूतज्ञान, जीव एवं ईश्वर। द्रव्य का एक दूसरे प्रकार से भी विभाग किया जा सकता है—जड एवं अजड। उसमें भी जड़ उसे कहते हैं, जो अमिश्रसत्त्व से रहित हो। जड़ पदार्थ भी दो प्रकार का होता है—प्रकृति एवं काल।

प्रकृतिनिरूपणम्

तत्र, सत्त्वरजस्तमोरूपगुणत्रयाश्रयरूपा प्रकृतिः। सा नित्या अक्षराविद्यामायादिशब्दवाच्या च। तस्या भगवत्सङ्कल्पाधीनगुणवैषम्यात् कार्योन्मुखावस्था अव्यक्तशब्देनोच्यते। तस्मान्महानुत्पद्यते। स महान् सात्त्विकराजसतामसभेदात् त्रिधाऽवस्थितः। महतोऽहङ्कार उत्पद्यते। सोऽपि सात्त्विकाहङ्कारो राजसाहङ्कारस्तामसाहङ्कारश्चेति त्रिविधो भवति। एतेषां त्रयाणां वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति नामान्तराण्यपि सम्भवन्ति। तेषु वैकारिक इति प्रसिद्धात् तैजससंज्ञकराजसाहङ्कारसहकृतात्सात्त्विकाहङ्कारादेकादशेन्द्रियाणि जायन्ते।

अनुवाद—प्रकृति सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, इन तीनों गुणों का आश्रयरूप है। वही नित्या, अक्षरा, अविद्या एवं माया आदि शब्दों से अभिहित की जाती है। श्रीभगवान् के सत्यसंकल्प से गुणों के वैषम्य के कारण होने वाली जो प्रकृति की कार्योन्मुखावस्था है, वही अव्यक्त शब्द से कही जाती है। उस कार्योन्मुखावस्था में प्रकृति से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होता है। उस महान् के तीन भेद होते हैं—सात्त्विक, राजस एवं तामस। महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहङ्कार भी तीन प्रकार का होता है—सात्त्विकाहङ्कार, राजसाहङ्कार एवं तामसाहङ्कार। सात्त्विकाहङ्कार को वैकारिक, राजसाहङ्कार को तैजसाहङ्कार एवं तामसाहङ्कार को भूताद्यहङ्कार भी कहते हैं। इनमें भी वैकारिक नाम से प्रसिद्ध राजसाहङ्कारसहकृत सात्त्विकाहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है।

प्रकृतिनिरूपण

भा० प्र०—जड़ द्रव्यों में प्रधान प्रकृति है। रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुण के आश्रय को प्रकृति कहते हैं। प्रलयावस्था में प्रकृति में तीनों गुणों का साम्य रहता है। इसी अवस्था में रहने वाली प्रकृति को मूल प्रकृति कहते हैं। प्रलय के समाप्त होने पर श्रीभगवान् के 'एकोऽहं बहु स्याम' इत्यादि रूप से होने वाले सत्यसंकल्प के द्वारा प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे उसके तीनों गुणों में वैषम्य उत्पन्न होता है। तीनों गुणों की प्रकृति में विषमता का होना ही प्रकृति की कार्योन्मुखावस्था कहते हैं। प्रकृति की कार्योन्मुखावस्था को ही अव्यक्त शब्द से अभिहित किया जाता है। प्रकृति के जगत्कारणत्व का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—'त्रिगुणं तज्जगद्-योनिः अनादिप्रभवाप्ययम्'। अर्थात् तीनों गुणों के आश्रयरूप प्रकृति जगत् का कारण है। वह आदि एवं अंतरहित है। दूसरी श्रुति उसे नित्य बतलाते हुए कहती है—'नित्या सततविक्रिया।' अर्थात् प्रकृति नित्य तथा सदा विकृत होते रहने वाली है। अतएव प्रकृति को नित्य तथा अक्षर कहा जाता है। प्रकृति को अविद्या इसलिए कहा जाता है कि वह अध्यात्मज्ञान-विरोधिनी है। विचित्र विषयों की सृष्टि करने के कारण वह माया कहलाती है।

कार्योन्मुखावस्थावस्थित प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है। महत्तत्त्व भी तीन प्रकार का होता है—सात्त्विक, राजस एवं तामस। उस महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है। वह अहङ्कार भी तीन प्रकार का होता है— १. सात्त्विक अहङ्कार, इसे वैकारिक भी कहते हैं। २. राजसाहङ्कार, इसे तैजसाहङ्कार भी कहा जाता है। ३. तामसाहङ्कार, इसे भूतादि भी कहा जाता है। इन तीनों प्रकार के अहङ्कारों में से राजसाहङ्कार से सहकृत सात्त्विकाहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है।

इन्द्रियनिरूपणम्

सात्त्विकाहङ्कारोपादानकं द्रव्यमिन्द्रियमितीन्द्रियलक्षणम्। इन्द्रियं द्विविधम्—ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं चेति। ज्ञानप्रसरणशक्तमिन्द्रियं ज्ञानेन्द्रियम्। तत् षोढा—मनःश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनात्वग्भेदात्। स्मृत्यादिकरणमिन्द्रियं मनः। तच्च हृदयप्रदेशवर्ति बुद्ध्यहङ्कारचित्तादिशब्दवाच्यम्, बन्धमोक्षहेतु-भूतं च। शब्दादिपञ्चके शब्दमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं श्रोत्रेन्द्रियम्। तन्मनुष्या-दीनां श्रवणकुहरवर्ति। द्विजिह्वादीनां नयनवर्ति। एवं रूपमात्रग्रहणशक्त-मिन्द्रियं चक्षुः सर्वेषां नयनवर्ति। गन्धमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं घ्राणेन्द्रियम्, नासाग्रवर्ति। (गजादेः कराग्रवर्ति)। रसमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं रसने-न्द्रियम्, जिह्वाग्रवर्ति। स्पर्शमात्रग्रहणशक्तमिन्द्रियं त्वगिन्द्रियम्, सर्वशरीर-वर्ति। नखदन्तकेशादिषु प्राणमान्द्यतारतम्यात्। स्पर्शानुपलम्भः श्रोत्रादी-न्द्रियाणां भौतिकत्वप्रतिपादनं भूताप्यायितत्वेनौपचारिकम्। एतेषां विषय-

सम्बन्धः क्वचित्संयोगः, क्वचित्संयुक्ताश्रयणमिति वृद्धसम्प्रदायः । उच्चारणादिष्वन्यतमक्रियाशक्तत्वं कर्मेन्द्रियसामान्यलक्षणम् । तच्च वाक्पाणिपादपायूपस्थभेदात् पञ्चधाऽवस्थितम् । वर्णोच्चारणकरणमिन्द्रियं वाक् । सा च हृत्कण्ठजिह्वामूलतालुदन्तोष्ठनासामूर्धरूपस्थानाष्टकवर्तिनी । (मूका) मृगादिष्वदृष्टविरहात्तदभावः । शिल्पकरणमिन्द्रियं पाणिः । स च मनुष्यादीनामङ्गुल्यग्रवर्ती । वारणादीनां नासाग्रवर्ती । सञ्चरणकरणमिन्द्रियं पादः । स च मनुष्यादीनां चरणवर्ती । भुजगपतगादीनामुरःपक्षादिवर्ती । मलादित्यागकरणमिन्द्रियं पायुः । स च तत्तदवयववर्ती । आनन्दविशेषकरणमिन्द्रियमुपस्थः । स च मेहनादिवर्ती । एतानीन्द्रियाण्यणूनि । परकायप्रवेशे लोकान्तरगमनादिषु च जीवेन सह गच्छन्ति । इन्द्रियाणां मुक्तिदशायामप्राकृतदेशगमनासम्भवादिहैव यावत्प्रलयं स्थितिः । करणविधुरैरन्यैः परिग्रहो वा । कर्मेन्द्रियाणां शरीरनाशान्नाश इति पक्षस्तु भाष्यादिविरोधेन हेयः । एतेन पुरुषेन्द्रियं स्त्रीन्द्रियम् एकेन्द्रियवादः त्वगिन्द्रियैकत्वस्वीकार इत्यादिविमतपक्षा निरस्ताः ।

अनुवाद—जिसका सात्त्विकाहङ्कार उपादानकारण हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं । यह इन्द्रियसामान्य का लक्षण है । इन्द्रियों के दो भेद हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ । ज्ञानेन्द्रिय उसे कहते हैं, जो ज्ञान का प्रसरण करने में समर्थ हो । ज्ञानेन्द्रियाँ छह प्रकार की होती हैं—मन, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं त्वक् । स्मरण आदि क्रियाओं के साधकतम इन्द्रिय को मन कहते हैं । मन हृदय-प्रदेश में रहता है । उसे ही बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है । मन ही जीवों के बन्ध एवं मोक्ष का कारण है । शब्द आदि पाँच विषयों में से शब्दमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं । श्रोत्रेन्द्रिय मनुष्य आदि के कर्णकुहर में स्थित रहती है । सर्प आदि के वह नेत्र-प्रदेश में रहती है । इसी तरह रूपमात्र का ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को चक्षुरिन्द्रिय कहते हैं । यह सभी के नेत्र-प्रदेश में रहती है । गन्धमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को घ्राणेन्द्रिय कहते हैं । यह इन्द्रिय नासिका के अग्रभाग में विद्यमान रहती है । हाथी आदि के सूँड के अग्रभाग में रहती है । रसमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को रसनेन्द्रिय कहते हैं । यह इन्द्रिय जिह्वा के अग्रभाग में रहती है । स्पर्शमात्र के ग्रहण करने में समर्थ इन्द्रिय को त्वगिन्द्रिय कहते हैं । यह सम्पूर्ण शरीर में रहती है । दाँत, नख तथा केश आदि में प्राण अत्यल्प मात्रा में विद्यमान रहता है, अतएव उनमें स्पर्श की प्रतीति बहुत कम होती है । श्रोत्र आदि इन्द्रियों को भौतिक इसलिए कहा जाता है कि इन्द्रियाँ भूतों से आप्यायित होती हैं, अतएव उनका भौतिकत्व व्यपदेश औपचारिक हैं । इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने में कहीं पर संयोग नामक सम्बन्ध होता है तथा कहीं पर संयुक्ताश्रय संबन्ध होता है । यह अर्थज्ञान वृद्धों के सम्प्रदाय से प्राप्त है ।

उच्चारण आदि क्रियाओं में से किसी भी क्रिया को करने में समर्थ जो इन्द्रिय होती है, उसे कर्मेन्द्रिय कहते हैं। कर्मेन्द्रिय पाँच हैं–वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। वर्णों के उच्चारण की क्रिया में जो साधकतम होती है, उस इन्द्रिय को वाक् कहते है। वह वागिन्द्रिय हृदय, कण्ठ, जिह्वामूल, तालु, दाँत, ओष्ठ, नासिका और मूर्धा, इन आठ स्थानों में रहती है। मूक (गूँगे आदमी) तथा मृग आदि में अदृष्ट आदि के अभाव के कारण वागिन्द्रिय का अभाव होता है। शिल्पक्रिया में साधकतम इन्द्रिय को पाणि कहते हैं। पाणीन्द्रिय मनुष्य आदि के अंगुलियों के अग्रभाग में रहती है। हाथी आदि की नासिका के अग्रभाग में पाणि इन्द्रिय रहती है। चलने की क्रिया में जो इन्द्रिय साधकतम होती है, उसे पादेन्द्रिय कहते हैं। पादेन्द्रिय मनुष्यों आदि के चरणों में रहती है। यह इन्द्रिय सर्पों के उर:प्रदेश में तथा पक्षि आदि के पँख आदि में रहती है। मलादि के त्याग में साधकतम इन्द्रिय को पायु कहते हैं। पायु इन्द्रिय तत्-तत् जीवों के तत्-तत् अवयवों में रहती है। आनन्दविशेष के करने में साधकतम इन्द्रिय को उपस्थ कहते हैं। उपस्थ इन्द्रिय मनुष्यों के शिश्न आदि में रहती है।

ये सभी (ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ) सूक्ष्म परिमाण वाली होती हैं। ये परकाय-प्रवेश की क्रिया में तथा मृत्यु के पश्चात् लोकान्तरों में जाने (तथा लोकान्तरों से आने आदि की क्रिया) में जीव के साथ जाती (तथा आती) हैं। इन्द्रियाँ अप्राकृत वैकुण्ठ आदि लोकों में नहीं जा सकती हैं, अतएव इनका सम्बन्ध मुक्तावस्था में जीव से नहीं रह जाता। ये प्राकृत-मण्डल में प्रलय-पर्यन्त रहती हैं। अथवा मुक्त जीवों की इन्द्रियाँ उन जीवों को मिल जाती हैं, जो इन्द्रियहीन होते हैं। शरीर के विनष्ट हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ विनष्ट हो जाती हैं, यह कहने वालों का मत भाष्य आदि के विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है। इस प्रतिपादन के द्वारा—पुरुषेन्द्रियवाद, मनुष्येन्द्रियवाद, एकेन्द्रियवाद तथा केवल त्वक् ही एकमात्र इन्द्रिय है इत्यादि प्रतिपादन करने वालों का विरोधी विचार खण्डित हो गया।

इन्द्रियनिरूपण

भा० प्र०—प्रश्न यह है कि जो नेत्र, नासिका, जिह्वा इत्यादि के रूप में दिखलायी पड़ते हैं, वे ही इन्द्रियाँ हैं, अथवा इन सबों से भिन्न कोई इन्द्रिय नामक वस्तु है ? इस शंका का समाधान करते हुए कहा गया है कि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। वे अतीन्द्रिय हैं तथा अणुपरिमाणक हैं। इन्द्रिय द्रव्य का उपादानकारण सात्त्विकाहङ्कार है।

इन्द्रियों के दो भेद हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ छः है—मन, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना एवं त्वक्। मन को भी ज्ञानेन्द्रिय के अन्तर्गत इसलिए माना जाता है कि गीता के 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' इस वाक्य में मन को भी इन्द्रियों के अन्तर्गत गिना गया है। मन को सिद्ध करते हुए गौतम ने कहा है—'युगपज्ज्ञानानुत्प-

त्तिर्मनसो लिङ्गम्' अर्थात् सभी इन्द्रियों के यथायथ अपने विषयों के सन्निकृष्ट होने पर भी समकाल में सभी विषयों का ज्ञान न होकर क्रमशः होता है। जिस इन्द्रिय की सहायता के बिना इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों का प्रकाश नहीं कर पाती हैं, वह इन्द्रिय मन है। मन के द्वारा जो इन्द्रिय सहकृत होती है, वही इन्द्रिय अपने विषय का प्रकाश कर पाती है। अतएव मन का ज्ञान साधकतमत्व सिद्ध होता है। किञ्च जिस प्रकार–बाह्य—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का ज्ञान प्राप्त करने में चक्षुः, रसना, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र नाम की इन्द्रियाँ साधकतम हैं, उसी प्रकार सुख-दुःखादि आभ्यन्तर विषयों के ग्रहण करने में साधकतम किसी इन्द्रिय को अवश्य होना चाहिए। सुख-दुःखादि के ग्रहण में जो इन्द्रिय साधकतम होती है, उसे मन कहा जाता है। इस तरह मन का इन्द्रियत्व सिद्ध होता है। मन के इस इन्द्रियत्व प्रतिपादन से मन को इन्द्रिय नहीं मानने वाले वेदान्तपरिभाषाकार इत्यादि के मत का खण्डन हो जाता है।

जिस तरह ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का साधकतम हैं, उसी तरह कर्मेन्द्रियाँ तत्-तत् कर्मों की साधकतम हैं। कर्मेन्द्रियों की संख्या पाँच है। पाक्, पाणि, पाद, पायु तथा उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

इन्द्रियों के अतीन्द्रियत्व आदि का निरूपण—इन्द्रियाँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं। ये इन्द्रियाँ सबों की अलग-अलग होती हैं। यह जीवों के साथ लोकान्तर में भी जाती हैं। इसलिए जब योगी अपनी योगक्रिया के द्वारा परकायप्रवेश करता है—अथवा मृत्यु के पश्चात् जीव जब लोकान्तरों में जाता है तो जीव के साथ उसकी इन्द्रियाँ भी तत्-तत् लोकों में जाती हैं। इन इन्द्रियों का जीव के साथ तब तक संबन्ध बना रहता है, जब तक जीव प्रकृति-मण्डल के अन्तर्गत रहता है। जीव जब मुक्त हो जाता है तो उसकी इन्द्रियाँ प्रकृति-मण्डल में ही रह जाती हैं। क्योंकि प्राकृत इन्द्रियाँ दिव्य वैकुण्ठलोक में नहीं जा सकती हैं। मुक्त जीव जिन इन्द्रियों का त्याग कर देता है, वे इन्द्रियाँ या तो प्राकृत-मण्डल में ही विनष्ट हो जाती हैं अथवा उन इन्द्रियों को करण विद्युत् जीव अपना लेते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि शरीर के विनष्ट हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ विनष्ट हो जाती हैं, किन्तु यह मत इसलिए त्याज्य है कि श्रीभाष्य आदि में इन्द्रियसहकृत जीवों का लोकान्त्तर में गमन तथा लोकान्तरों से आगमन प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार पुरुषों तथा स्त्रियों की भी इन्द्रियाँ एकसमान होती हैं, केवल पुरुषों एवं स्त्रियों की इन्द्रियों के संस्थान-विशेष ही भिन्न-भिन्न होते हैं। अतएव पुरुषों की इन्द्रियों तथा स्त्रियों की भिन्नता का प्रतिपादन अनुचित है।

पञ्चतन्मात्राणां पञ्चभूतानाञ्च निरूपणम्

राजसाहङ्कारसहकृताद् भूतादिसंज्ञकतामसाहङ्काराच्छब्दादिपञ्च-तन्मात्राणि आकाशादि पञ्च महाभूतानि चोत्पद्यन्ते। भूतानामव्यवहित-सूक्ष्मावस्थाविशिष्टं द्रव्यं तन्मात्रम्। तदेव भूतोपादानम्। विशिष्टशब्दादि-

विषयाधिकरणं भूतम् । तन्मात्राणि—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रमिति पञ्च । भूतानि च तथा—आकाशं वायुस्तेज आपः पृथिवीति भेदात् ।

अनुवाद—राजसाहङ्कार से सहकृत भूतादि नामक तामसाहङ्कार से शब्दादि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाञ्च तन्मात्राएँ, तथा आकाशादि (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी) पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं । भूतों की उत्पत्ति होने के अव्यवहितपूर्वक्षण में इन भूतों के रूप में परिणत होने वाले द्रव्यों में एक सूक्ष्मावस्था होती है । उस अवस्था से युक्त वह द्रव्य ही तन्मात्रा कहलाता है । यह तन्मात्रा ही भूतों का उपादानकारण है । तन्मात्रावस्था में शब्दादि गुण शान्त, घोर और मूढ, इन विशेषताओं से रहित होते हैं । भूतत्वावस्था के प्राप्त होने पर ही शब्दादि गुण उन विशेषताओं को प्राप्त करते हैं । उन विशेषताओं से विशिष्ट शब्दादि विषयों का जो आश्रय होता है, उसे भूत कहते हैं । तन्मात्राएँ पाँच हैं—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा । भूत भी पाँच हैं—आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ।

पञ्चतन्मात्राओं तथा पञ्चमहाभूतों का निरूपण

भा० प्र०—अहङ्कार के तीन भेद बतलाए गये हैं, उनमे राजसाहङ्कार से सहकृत तामसाहङ्कार से तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है । पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच महाभूत हैं । इनकी उत्पत्ति से अव्यवहितपूर्वक्षण में इन भूतों के रूप में परिणत होने वाले द्रव्यों में एक सूक्ष्म अवस्था होती है; उस अवस्था से विशिष्ट द्रव्य ही तन्मात्रा कहलाता है । अतएव शब्दादि को ही तन्मात्रा मानने वालों का मत उचित नहीं है । किञ्च—सूक्ष्मशब्दादि से विशिष्ट सूक्ष्मभूतों को ही तन्मात्रा कहा जाता है । तन्मात्राओं में गुणों के शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढत्व अनुद्भूत रहते हैं, किन्तु पञ्चभूतों में उनके गुण शान्त, घोर एवं मूढ हो जाते हैं । सांख्यदर्शन में बतलाया गया है कि जिस प्रकार दुग्ध का दधि के रूप में परिणाम होने के बीच में जो कलिलावस्था रूप परिणाम होता है, उसी प्रकार तामसाहंकार का भूतों के रूप में होने वाले परिणाम के बीच में होने वाला परिणाम तन्मात्रावस्था है । तन्मात्राओं में निर्विशेष शब्दादि गुण रहते हैं । वे सूक्ष्म गुण देवभोग्य हैं ।

आकाशनिरूपणम्

तत्र तामसाहङ्काराकाशयोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं शब्दतन्मात्रम् । क्षीरदध्नोरन्तराल(ले कलिल)परिणामवत् । तस्मादाकाशो जायते । अस्पर्शवत्त्वे सति विशिष्टशब्दाधारत्वम्, श्रोत्राप्यायकत्वं चाकाशलक्षणम् । स च शब्दमात्रगुणक अवकाशहेतुः । नीलं नभ इति प्रतीतेः प्रत्यक्षः । पञ्चीकरणप्रक्रियया च सावयवो रूपवान् (रूपवाँश्च) । एतेन आकाशस्याजन्यत्वनिरासः । सूर्यपरिस्पन्दयुक्ताकाशस्यैव (सूर्यपरिस्पन्दादिभि-

राकाशस्यैव) प्राच्यादिव्यवहारोपपत्तौ दिगिति न पृथग्द्रव्यकल्पनम्। दिक्सृष्टिस्त्वन्तरिक्षादिसृष्टिवदुपपद्यते।

अनुवाद—उसमें भी तामसाहङ्कार तथा आकाश के बीच में होने वाली अवस्था से विशिष्ट द्रव्य शब्दतन्मात्रा कहलाता है। जिस प्रकार क्षीर का दधि के रूप में होने वाले परिणाम के बीच में दुग्ध द्रव्य एक कलिलावस्था से विशिष्ट होता है, उसी प्रकार तामसाहङ्कार और आकाश के बीच की अवस्था शब्दतन्मात्रा है। उस शब्द-तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। जिसका स्पर्श न हो फिर भी जो शब्द का आश्रय हो, उसे आकाश कहते हैं, अथवा जो भूत श्रोत्र नामक इन्द्रिय का आप्यायन करता है, उसे आकाश कहते हैं। आकाश में एकमात्र गुण शब्द है तथा वह आकाश का कारण है। आकाश नीला है, इस प्रतीति के कारण आकाश का चाक्षुष् प्रत्यक्ष होता है, यह स्वीकार करना चाहिए। पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार आकाश में तेज का गुण रूप विद्यमान होने के कारण आकाश सावयव एवं रूपवान् है, यह सिद्ध होता है। इस प्रतिपादन से जो लोग (वैशेषिक) आकाश को नित्य मानते हैं, उनके मत का खण्डन हो गया। सूर्य के परिस्पन्द (संचरण) से युक्त आकाश को ही पूर्वदिशा, पश्चिमदिशा आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। अतएव दिशा को एक अति-रिक्त द्रव्य मानना उचित नहीं है। जिस प्रकार अन्तरिक्ष आदि की सृष्टि सिद्ध होती है, उसी प्रकार दिशाओं की भी सृष्टि सिद्ध होती है।

सांख्याभिमत सृष्टिक्रम का अनौचित्य

भा० प्र०—सिद्धान्ती ने बतलाया है कि तामसाहंकार और आकाश के मध्य में होने वाली अवस्था से युक्त द्रव्य शब्दतन्मात्रा है। सांख्यों ने तामसाहङ्कार और आकाश के मध्य में पाँचो तन्मात्राओं की उत्पत्ति माना है। उनका कहना है कि शब्दतन्मात्रा आकाश का उत्पादक है। उससे भिन्न तन्मात्रा पूर्व-पूर्व तन्मात्राओं से सहकृत होकर उत्तरोत्तर भूतों के उत्पादक होते हैं। जैसे—शब्दतन्मात्रा से सहकृत स्पर्शतन्मात्रा वायु का आरम्भक है। शब्द एवं स्पर्श, इन दोनों तन्मात्राओं से सहकृत रूपतन्मात्रा तेज का आरम्भक है। इत्यादि। किन्तु सांख्यों का यह मत समीचीन नहीं है, क्योंकि यह तम 'आकाशाद् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी।' इस श्रुति द्वारा प्रतिपादित सृष्टि के विरुद्ध है। श्रुति बतलाती है कि आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी की उत्पत्ति होती है। इस श्रुति के अनुसार पूर्व-पूर्व भूत उत्तरोत्तर भूत का उपादानकारण है। यह अनन्यथासिद्ध श्रुति है। सांख्यों के मतानुसार यह अनवकाशग्रस्त हो जाती है और ज्ञापन करती है कि सांख्याभिमत भूतों का सृष्टिक्रम ठीक नहीं है। सिद्धान्त में यह श्रुति संगत हो जाती है, अत एव सिद्धान्तानुसार किया गया भूतों की उत्पत्ति का निरूपण श्रुतिसम्मत है। अत एव शब्दतन्मात्रा का यह लक्षण श्रुतिसम्मत है। उस शब्दतन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है।

आकाश का लक्षण—यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने आकाश के दो लक्षण किये हैं। पहला लक्षण है—जो स्पर्शरहित होते हुए भी शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढत्व, इन विशेषताओं से विशिष्ट शब्द का आश्रय हो, उसे आकाश कहते हैं। दूसरा लक्षण है—जो श्रोत्रेन्द्रिय को पोषक हो, उसे आकाश कहते हैं। आकाश का गुण केवल शब्द है। आकाश अवकाश प्रदान कर हम लोगों का उपकार करता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि केवल आकाश ही अवकाश प्रदान करता है, क्योंकि आकाश से भिन्न प्रकृति आदि के प्रदेश भी अवकाश प्रदान करके उपकार करते हैं। क्योंकि वहाँ भी अवकाश है। यदि वहाँ अवकाश न हो तो वहाँ पहुँचने पर स्पर्शयुक्त पदार्थों का गमनागमन रुक जायेगा। भूतसूक्ष्मयुक्त मोक्षाधिकारी जीवों को उनको लाँघकर आगे जाना असंभव हो जायेगा।

आकाश का प्रत्यक्षत्व प्रतिपादन—आकाश में जो नीलिमा की प्रतीति होती है, उस प्रतीति को कुछ लोग भ्रम मानते हैं। उनका कहना है कि आकाश नीरूप पदार्थ है, उसका एकमात्र गुण शब्द है। नीरूप वस्तु का प्रत्यक्ष होता ही नहीं है। रूपवान् पदार्थ का ही प्रत्यक्ष होता है। सिद्धान्त में माना जाता है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूतों के अंश विद्यमान हैं। आकाश में भी तेज का अंश विद्यमान है; अतएव नीले आकाश की प्रतीति वास्तविक है। फलतः आकाश का प्रत्यक्ष भी स्वीकार करना चाहिए। किञ्च नेत्र खुलते ही सबों को यह प्रतीति होती है कि यह आकाश है। इस सहसा होने वाली प्रतीति को प्रत्यक्ष ही मानना होगा अनुमिति नहीं, क्योंकि अनुमिति ज्ञान में व्याप्त्यादि का होना अनिवार्य होने के कारण उसमें विलम्ब का होवा अनिवार्य है। यह प्रतीति सहसा होती है, अतएव यह प्रत्यक्ष ही है।

चूँकि आकाश तामसाहंकार से उत्पन्न होता है, अतएव आकाश को नित्य मानने वाले वैशेषिकों के मत का खण्डन हो जाता है।

दिशा में द्रव्यान्तरत्व का खण्डन—वैशेषिक विद्वान् दिक् नामक एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है। आकाश के जिस प्रदेश में सूर्य उदित होता है, उस प्रदेश को पूर्वदिशा कहा जाता है तथा वहाँ के मूर्त पदार्थों को पूर्व माना जाता है। जहाँ सूर्य अस्तमित होता है, आकाश का वही प्रदेश पश्चिम दिशा कहलाता है। सूर्योदयकाल में सूर्य की ओर मुँह करके खड़ा होने पर जो दाहिनी ओर आकाश होता है, उसे दक्षिण दिशा और बाईं ओर के आकाश को उत्तर दिशा कहते हैं। अतएव आकाश से अतिरिक्त दिशा नामक कोई द्रव्य नहीं है। नैयायिक भी दिशा नामक द्रव्य की कल्पना करके उसके प्राची-प्रतीची आदि भेदों को औपाधिक ही मानते हैं। अतएव वैशेषिकों के मत में दिक् नामक द्रव्य की कल्पना गौरवावह है।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है 'दिशः श्रोत्रात्' यह पुरुषसूक्त की श्रुति दिशा की उत्पत्ति का प्रतिपादन करती है। दिक् द्रव्य को अलग माने बिना इस श्रुति का

निर्वाह कैसे संभव है ? तो उत्तर है कि जिस प्रकार आकाश से भिन्न अन्तरिक्ष के न रहने पर भी अन्तरिक्ष की उत्पत्ति का निर्वाह होता है, उसी प्रकार दिशा की उत्पत्ति का प्रतिपादन करने वाली श्रुति का निर्वाह करना चाहिए।

वायुनिरूपणम्

आकाशात् स्पर्शतन्मात्रम्। आकाशवाय्वोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं स्पर्शतन्मात्रम्। तस्माद्वायुः। विशिष्टस्पर्शवत्त्वे सति रूपशून्यत्वम्, अस्मदादिस्पर्शनैकेन्द्रियग्राह्यद्रव्यत्वम्, अनुष्णाशीतविशिष्टस्पर्शवत्त्वे सति रूपशून्यत्वमित्यादिकं वायोर्लक्षणम्। तस्मिन् नानासलिलातपकुसुमादि(द्रव-यव)योगात् शीतोष्णसौरभादिव्यपदेशः। स च त्वगिन्द्रियाप्यायकत्वेनोपकरोति। तस्य शब्दस्पर्शौ गुणौ। तत्र, शरीरधारणादिहेतुर्वायुविशेषः प्राणः। स च पञ्चप्रकारः। प्राणापानव्यानोदानसमानभेदात्। हृदि प्राणः, गुदेऽपानः, सर्वशरीरगो व्यानः, कण्ठे उदानः, नाभिदेशे समान इति नियमो जङ्गमेष्वेव। स्थावरेषु तु प्राण सम्बन्धस्वरूप एव। वायोः स्पार्शनप्रत्यक्षत्वेनानुमेयवादनिरासः।

अनुवाद—आकाश से स्पर्शतन्मात्रा उत्पन्न होता है। आकाश और वायु के बीच में होने वाली सूक्ष्मावस्था से विशिष्ट द्रव्य को स्पर्शतन्मात्रा कहते हैं। स्पर्शतन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती है। शान्तत्व, मूढत्व एवं घोरत्व विशिष्ट गुणों से युक्त रहकर जो रूप शून्य हो, उसे वायु कहते हैं। हम लोगों की केवल त्वगिन्द्रिय से ही जिसकी उपलब्धि होती हो, उसे वायु कहते हैं, अथवा जिसका स्पर्श न तो उष्ण हो और न तो शीतल तथा जो रूपरहित हो, उसे वायु कहते हैं। वायु का जब जल, आतप (धूप) तथा कुसुम आदि से संयोग होता है, तब उसके शीतत्व, उष्णत्व सुगन्धियुक्तत्व आदि का व्यपदेश होता है। वायु हमारी त्वगिन्द्रिय को आप्यायित करके हम लोगों का उपकार करती है। वायु में दो गुण रहते हैं—शब्द एवं स्पर्श। उसमें जो वायु हमारे शरीर धारण का कारण है, उसे प्राण शब्द से अभिहित किया जाता है। प्राण पाँच प्रकार के होते हैं—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। हृदयप्रदेश में प्राण रहता है। गुदप्रदेश में अपान वायु रहती है। सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त वायु का नाम व्यान है। कण्ठप्रदेश में रहने वाली वायु का नाम उदान वायु है। नाभिप्रदेश में रहने वाली वायु का नाम समान है। प्राणों के तत्-तत् स्थानों में रहने का नियम जङ्गम-जीवों में ही पाया जाता है, स्थावरों में तो प्राण का अत्यल्प संबन्ध रहता है। वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, अतएव प्राणानुमेयत्ववादियों का मत खण्डित हो गया।

वायु का निरूपण

भा० प्र०—वायु का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने वायु के तीन लक्षणों को उपस्थापित किया है। उस द्रव्य को वायु कहते हैं, जो शान्तत्व, घोरत्व एवं मूढत्व

विशिष्ट स्पर्श गुण का आश्रय हो। यह परम लक्षण है। आकाश आदि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए स्पर्शवत्त्व विशेषण दिया गया है। स्पर्शतन्मात्रा में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए स्पर्श का विशिष्टत्व विशेषण दिया गया है। स्पर्शतन्मात्रा में सूक्ष्म स्पर्श रहता है। तेज आदि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए रूपशून्यत्व विशेषण दिया गया है। हमलोगों का केवल त्वगिन्द्रियमात्र से ग्राह्य होना वायु का दूसरा लक्षण बतलाया गया है। जो द्रव्य अनुष्ण एवं अशीत स्पर्शवाला होते हुए रूप रहित हो, उसे वायु कहते हैं, यह वायु का तीसरा लक्षण है।

अब प्रश्न उठता है कि यदि वायु उष्ण एवं ठंढी नहीं होती तो ठंढी हवा चल रही है, गर्म हवा चल रही है, सुगन्धित वायु चल रही है, इत्यादि व्यवहार कैसे होते हैं? तो इसका उत्तर यह है वायु स्वभावतः शीतत्व, उष्णत्व आदि विशेषताओं से रहित होता है। जब किसी सुगन्धित वस्तु का सम्पर्क वायु से होता है तो वायु सुगन्धित प्रतीत होता है। ठंढी वस्तु के सम्पर्क से वायु ठंढा प्रतीत होता है। धूम के आधिक्य के कारण वायु गर्म प्रतीत होता है। अतएव वायु में शैत्य, औष्ण्य तथा सौगन्ध्य आदि की प्रतीति औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। वायु के द्वारा हमारी त्वगिन्द्रिय आप्यायित होती है। वायु में दो गुण पाए जाते हैं—शब्द एवं स्पर्श।

प्राण का निरूपण

वायु-विशेष ही प्राण के रूप में प्राणधारियों का उपकार करता है। किन्तु वही वायु-विशेष प्राण कहलाता है, जो शरीरधारण इत्यादि का कारण है। सभी वायु प्राण नहीं होते। वायु की जो श्वास-प्रश्वास आदि क्रियाएँ होती हैं, वे भी प्राण नहीं हैं; अपितु वायु-विशेष ही प्राण है। 'न वायुक्रिये पृथगुपदेशात्' (२।४।८) इस ब्रह्मसूत्र में कहा गया है कि—'यः प्राणः स वायुः, स एष वायुः पञ्चविधः' अर्थात् जो प्राण है वही वायु है, वह वायु पाँच प्रकार का है।' इस श्रुति के अनुसार वायु-सामान्य को प्राण मानना उचित नहीं है, क्योंकि वायु-सामान्य प्राण नहीं है, वायु की क्रिया भी प्राण नहीं है, यह 'न वायुक्रिये' सूत्र के इस अंश से कहकर सूत्र में कहा गया है कि 'पृथगुपदेशात्' अर्थात्—

> 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
> एवं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥'

इस परमात्मा से प्राण, मन, सभी इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल तथा विश्व को धारण करने वाली पृथिवी ये सब उत्पन्न होते हैं। इस वाक्य में प्राण से वायु का पृथक् उल्लेख किया है। यदि प्राण वायु-सामान्य होता अथवा वायु की क्रिया होती तो प्राण का पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता। वायु की क्रिया यदि प्राण होती तो इतर भूतों के साथ जैसे उनकी क्रिया का निर्देश नहीं है, उसी प्रकार वायु की क्रियाभूत प्राण का उल्लेख नहीं होता। चूंकि श्रुति प्राण का पृथक् उल्लेख करती

है, अतएव प्राण न तो वायु-सामान्य है और न तो वायु की क्रिया ही। वह वायु अवस्थाविशेषापन्न होता है।

पञ्चप्राण—प्राण ही वृत्तिभेद के कारण प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, इन पाँच नामों से अभिहित किया जाता है। इस बात को महर्षि बादरायण ने पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते' (ब्र० सू० २।४।११) इस सूत्र में कहा है। सूत्र का अर्थ यह है कि जिस प्रकार—'कामः सकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' इस श्रुति में मन को कामादि वृत्तिवाला बतलाया गया है, उसी प्रकार 'प्राणोऽपानव्यानोदानसमान इत्येतत् सर्वं प्राण एव' श्रुति में प्राण को प्राणादि पाँच वृत्तियों वाला बतलाया गया है।

प्राणियों के हृदय में प्राणवायु, गुदप्रदेश में अपानवायु, सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त व्यान वायु, कण्ठ में उदानवायु तथा नाभिप्रदेश में समानवायु रहता है। तत्-तत् प्राणों के तत्-तत् स्थान का निर्देश जंगम-जीवों को दृष्टि में रखकर किया गया है, स्थावरों में स्थान का नियम नहीं है, क्योंकि स्थावरों में प्राण अत्यन्त अल्पमात्रा में रहता है।

वायु के अनुमेयत्व का खण्डन—करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है, अतएव वायु को अनुमेय मानने वाले प्राचीन नैयायिकों का मत ठीक नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि प्राचीन नैयायिक आदि कतिपय दार्शनिक वायु को अनुमेय मानते हैं। वे कहते हैं कि वायु त्वगिन्द्रिय के लिए योग्य विषय नहीं है। त्वगिन्द्रिय के द्वारा तो केवल स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है। उस स्पर्श के आश्रय द्रव्य के रूप में वायु का अनुमान होता है, क्योंकि स्पर्श गुण है। सभी गुण अपने आश्रय द्रव्य में रहते हैं। स्पर्श का भी जो आश्रय द्रव्य है, उसे वायु कहते हैं। प्राचीन नैयायिकों का कहना है कि वायु त्वगिन्द्रिय का योग्य विषय नहीं है, क्योंकि वह रूपरहित द्रव्य है। रूपवान् घटादि द्रव्य ही त्वगिन्द्रिय के योग्य विषय देखे जाते हैं। जो इन्द्रियों का योग्य विषय नहीं होता है, उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है। वायु भी इन्द्रिय के योग्य विषय नहीं है, अतएव उसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। किन्तु प्राचीन नैयायिकों का यह कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि वायु का त्वगिन्द्रिय सन्निकर्ष होता है। त्वगिन्द्रिय के साथ वायु का सन्निकर्ष होने पर ही पता चलता है कि वायु चल रही है। अनुमान क्रिया में असमर्थ व्यक्ति भी वायु को अच्छी तरह से समझता है। उनका होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। वह अनुमान नहीं हो सकता है। किञ्च उसी वस्तु के साक्षात्कार में रूप की आवश्यकता होती है, जिस वस्तु का साक्षात्कार चक्षुरिन्द्रिय से हो। वायु का त्वगिन्द्रिय से साक्षात्कार होता है, अतएव वायु के साक्षात्कार में रूप अनपेक्षित है। अतएव वायु का प्रत्यक्ष ज्ञान ही होता है, वायु अनुमेय नहीं है।

तेजोनिरूपणम्

वायुतेजसोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रूपतन्मात्रम्। तस्मात्तेजः। उष्णस्पर्शवत्त्वं भास्वररूपवत्त्वादिकं तु तेजसो लक्षणम्। तस्य बहिः पचनादिहेतुत्वमग्निसूर्यात्मना, अन्तर्वैश्वानरसंज्ञकजाठराग्निरूपेण। दिवाभीतादिव्यतिरिक्तानां चाक्षुषज्ञाने आलोकद्वारा सहकारि च भवति। तच्चतुर्धा—भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजं चेति। तत्र पार्थिवमात्रेन्धनं तेजो भौमं दीपादि। जलमात्रेन्धनं दिव्यं सूर्यादि। जलपार्थिवेन्धनमुदर्यं जाठ(रं)रादि। निरिन्धनं तेज आकरजं सुवर्णादि। सुवर्णस्य द्रव्यान्तरसंसर्गादुष्णस्पर्शाभावः। पुनस्सामान्येन प्रभा प्रभावांश्चेति विभक्तम्। आवरणसदसद्भावाधीनसङ्कोचिविकासप्रसारितेजोविशेषः प्रभा। सा च प्रभावद्भिस्सहोत्पद्यते, सह नश्यति। द्रव्यरूपा गुणभूता सावयवा च। अनेन प्रभायाः केवलगुणत्वमतनिरासः। प्रभाविशिष्टं तेजः प्रभावत्। तच्चतुर्विधमिति प्रतिपादितम्। तत्तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणवच्च।

अनुवाद—वायु एवं तेज के बीच में होने वाली जो सूक्ष्मावस्था, उस अवस्था से विशिष्ट जो द्रव्य होता है, उसे रूपतन्मात्रा कहते हैं। रूपतन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है। उष्णस्पर्श से युक्त होना अथवा भास्वर रूपवान् होना तेज का लक्षण है। तेज बाह्य अग्नि और सूर्य के रूप में बाहर रहकर पकाने का कार्य करता है। शरीर के भीतर जाठराग्निरूप से पकाने का कार्य करता है। जठराग्नि को वैश्वानराग्नि भी कहते हैं। उलूक आदि जीवों को छोड़कर, उनसे भिन्न जीवों का तेज चाक्षुष् ज्ञान प्राप्त करने में आलोक के माध्यम से सहकारी बनता है। तेज चार प्रकार का होता है—भौम, दिव्य, उदर्य तथा आकरज। भौम तेज दीप आदि हैं। इनका इन्धन पार्थिव वस्तुएँ होती है। सूर्य आदि दिव्य तेज हैं, इनका इन्धन केवला जल होता है। उदर्य तेज जाठराग्नि आदि हैं और इनका इन्धन पार्थिव पदार्थ तथा जल दोनों होते हैं। आकरज तेज सुवर्ण आदि हैं और इनका कोई भी इन्धन नहीं होता। सुवर्ण यद्यपि तेज है, किन्तु द्रव्यान्तर का संसर्ग होने के कारण उसके उष्णस्पर्श की उपलब्धि नहीं होती है। तेज को पुनः सामान्यतः दो भागों में विभक्त किया जाता है—प्रभा तेजो द्रव्य है और प्रभावान् तेजोद्रव्य है। प्रभा नामक तेजोद्रव्य वह है, जो आवरण के होने पर संकुचित हो जाता है तथा आवरण के नहीं रहने पर वह विकास को प्राप्त करता है। प्रभा नामक तेजोद्रव्य का स्वभाव है कि वह प्रसरणशील होता है। प्रभा प्रभावान् वस्तुओं के साथ उत्पन्न होती है तथा उन्हीं वस्तुओं के साथ विनष्ट भी हो जाती है। प्रभा द्रव्यरूप है, वह गुण-स्वरूप है तथा अवयवों वाली है। जो तेजोद्रव्य प्रभा से विशिष्ट होता है, उसे प्रभावद् द्रव्य कहते हैं। मैं कह चुका हूँ कि प्रभावद् द्रव्य चार प्रकार का होता है। तेज में तीन गुण पाए जाते हैं—शब्द, स्पर्श तथा रूप।

तेज का उपादानकारण वायु ही है

भा० प्र०—तेज का निरूपण करते हुए कहा गया है कि वायु ही तेज का उपादानकारण है। 'वायोरग्निः' श्रुति भी वायु को अग्नि का उपादानकारण बतलाती है। किन्तु वैशेषिक विद्वान् वायु को अग्नि का उपादानकारण न मानकर वायु को अग्नि का निमित्तकारण मानते हैं तथा पार्थिव पदार्थों को अग्नि का उपादानकारण बतलाते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्यक्षतः अग्नि पत्र, तृण और काष्ठ इत्यादि पार्थिव पदार्थों से उत्पन्न होता हुआ दिखता है। 'वायोरग्निः' श्रुति का तात्पर्य वायु को अग्नि का निमित्तकारण बतलाने में है। देखा भी जाता है कि पँखे आदि का वायु अग्नि को मात्र बढाता है।

किन्तु विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि 'वायोरग्निः' श्रुति वायु का उपादानकारण ही बतलाती है, निमित्तकारण नहीं; क्योंकि इस सम्पूर्ण श्रुति में उपादानकारण का ही निरूपण किया गया है। वायु का अग्नि के प्रति उपादानत्व अनन्यथासिद्ध है। किञ्च यह नियम है कि कार्य अपने उपादानकारण में ही लीन होता है। लय का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'पृथिव्यप्सु प्रलीयते, आपस्तेजसि लीयन्ते, तेजो वायौ लीयते, वायुराकाशे लीयते।' अर्थात् पृथिवी का जल में लय होता है, जल का तेज में लय होता है, तेज का वायु में लय होता है और वायु का आकाश में लय होता है। इससे भी सिद्ध है कि तेज अपने उपादानकारण वायु में लीन होता है। वायु को अग्नि का उपादानकारण न मानने पर लयक्रम से उपादानकारण का निर्देश करने वाली श्रुति से भी विरोध होगा। किञ्च विद्युत् एवं वाडवाग्नि का इन्धन पार्थिव पदार्थ न होकर जल ही देखा जाता है। यदि जल को विद्युत् और वाडवाग्नि का उपादानकारण जल को तथा काष्ठ से उत्पन्न होने वाले तेज का उपादानकारण पार्थिव पदार्थों को माना जाये तो तेज के उपादानकारण का कोई नैयत्य रह ही नहीं जायेगा, अतएव तेजस्तत्त्व का कोई एक ही उपादानकारण मानना होगा। इस प्रकार उस उपादानकारण के विषय में यह व्यवस्था होती है कि पञ्चीकरण के द्वारा काष्ठादि में मिला हुआ तेज का अंश ही स्थूल तेज का उपादानकारण है, पार्थिव पदार्थ नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि काष्ठ इत्यादि में अग्नि पहले से ही सूक्ष्मरूप से विद्यमान रहती है। वह अपने सहकारियों को पाकर उसी प्रकार व्यक्त होती है, जिस प्रकार तप्त तैल में रहनेवाला अव्यक्त अग्नि जलादि संसर्ग आदि सहकारियों को पाकर व्यक्त हो जाता है। महर्षियों ने भी कहा है—'काष्ठेऽग्निरिव शेरते' 'दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले तद्वत् पुमानसौ।' अर्थात् जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि सूक्ष्म रूप से रहता है, उसी प्रकार देह इत्यादि जड पदार्थों के भीतर जीव निवास करते हैं। जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि तथा तिल में तैल रहता है, उसी प्रकार देह आदि जड पदार्थों में भी जीव रहता है। इन वाक्यों से काष्ठ आदि में सूक्ष्म रूप से विद्यमान अग्नि की सत्ता सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट होता है कि पञ्चीकरण से पूर्व

समष्टि-सृष्टि की दशा में अग्नि का उपादानकारण वायु ही रहता है । पञ्चीकरण के पश्चात् अग्नि का उपादानकारण काष्ठादि पदार्थों में विद्यमान सूक्ष्म तेज ही है । अतएव वायु को अग्नि का उपादानकारण मानने में कोई आपत्ति नहीं है ।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने तेज का लक्षण उष्णस्पर्शवत्त्व तथा भास्वररूपवत्व बतलाया । जिस रूप से युक्त होकर तेज स्वेतर वस्तुओं का प्रकाश करता है, उसका वह रूप भास्वर रूप कहलाता है । इसी रूप के द्वारा तेज घटादि पदार्थों का प्रकाशन करता है । यह अग्नि पकाने का कार्य करती है । वह तेज सूर्य तथा अग्नि रूप से बाहर रहकर बाह्य वस्तुओं को पकाने का कार्य करती है । जाठराग्निरूप से वह शरीर के भीतर रहकर हमारे खाये-पिए अन्नों एवं जलों को पकाने का कारण बनती है । वह तेज आलोक रूप से तत्-तत् वस्तुओं का चाक्षुषज्ञान प्राप्त करने में हमारा सहायक होता है । किन्तु उल्लू आदि कुछ ऐसे जीव हैं, जिनके चाक्षुषप्रत्यक्ष का साधक न होकर आलोक बाधक बनता है ।

तेज के चतुर्विध भेद—तेज चार प्रकार का होता है—भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज । भौमतेज अग्नि है, इसका इन्धन पार्थिव पदार्थ है । दिव्यतेज सूर्य आदि हैं, इनका इन्धन जल है । उदर्य तेज जाठराग्नि है और इसका इन्धन खाए-पिए अन्न एवं जल दोनों हैं । इस प्रकार इसका इन्धन पार्थिव पदार्थ तथा जल दोनों हैं । आकरजतेज सुवर्ण एवं रजत आदि हैं । यह तेज निरिन्धन है ।

प्रश्न उठता है कि यदि सुवर्ण तैजस पदार्थ हैं तो उसका स्पर्श भी उष्ण होना चाहिए, किन्तु उसका उष्णस्पर्श क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर है कि सुर्वण में उष्णस्पर्श इसलिए नहीं होता हैं कि उसमें द्रव्यान्तर का संयोग हो गया है । इसलिए उसमें स्वेतर वस्तुप्रकाशक धर्मरूप भास्वर तेज भी स्पष्ट रूप से नहीं उपलब्ध होता है । तेज का एक दूसरे प्रकार से भी विभाग किया जाता है—प्रभा एवं प्रभावान् ।

प्रभा संकोच-विकासशील तेजोद्रव्य है—प्रभा नामक तेजोद्रव्य आवरण से आवृत होकर संकुचित हो जाता है; जैसे—दीपक, मणि आदि की प्रभा । आवरण के हट जाने पर इसका प्रकाश बढ जाता है । प्रभावान् तेजोद्रव्य वह है, जो प्रभा का आश्रय होता है । जैसे—प्रदीप, मणि, सूर्य आदि प्रभा के आश्रय होने से प्रभावान् तेजोद्रव्य हैं और प्रभा उनके विशेषण रूप से रहती है । प्रभा अपने आश्रयभूत प्रभावान् द्रव्य के साथ ही उत्पन्न होती है तथा अपने आश्रयभूत प्रभावान् द्रव्य के विनष्ट होते ही विनष्ट हो जाती है । जैसे—दीपक की प्रभा दीपक के साथ ही उत्पन्न होती है तथा दीपक के साथ ही विनष्ट हो जाती है । प्रभा अपने आश्रयभूत प्रभावान् द्रव्य का अपृथक्सिद्ध विशेषण होती है । वह अपने आश्रयभूत प्रभावान् द्रव्य से पृथक् कभी भी नही रह सकती है । अतएव उसका गुणत्व भी अव्याहत है । वह सावयव भी है । गुण होते हुए भी द्रव्यत्व उसका इसलिए है कि उसमें क्रिया होती है तथा तेजोद्रव्य इसलिए है कि उसमे उष्णस्पर्श की उपलब्धि होती है । तेजोद्रव्य में तीन गुण पाये जाते हैं—शब्द, स्पर्श तथा रूप ।

अपां निरूपणम्

तेजस्सलिलयोर्मध्यमावस्थाविशिष्टं द्रव्यं रसतन्मात्रम् । तस्मादापः । शीतस्पर्शवत्त्वं निर्गन्धत्वे सति विशिष्टरसवत्त्वमित्यादि अपां लक्षणम् । तासां शुक्लमधुरशीतैकस्वभावानाम् आश्रयादिसंसर्गभेदाद् रूपरसस्पर्श-वैचित्र्यारोपः । ताः समुद्रसरिदादिरूपेण बहुप्रकाराः । शब्दस्पर्शरूपरस-गुणाश्च । सेचनपिण्डीकरणादिहेतवश्च ।

अनुवाद—तेज का जल के रूप में परिणत होने से पहले तेज और जल के बीच में जो एक सूक्ष्मावस्था होती है, उस अवस्था से विशिष्ट द्रव्य का नाम रसतन्मात्रा है। उस रसतन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है। शीत स्पर्श वाला होना जल का प्रथम लक्षण है। गन्धरहित, शान्त, घोर एवं मूढ इन विशेषताओं से विशिष्ट रस से युक्त होना जल का द्वितीय लक्षण है। जल स्वभावत: शुक्ल, मधुर तथा शीतस्पर्श वाला होता है। आश्रयभेद के कारण अथवा संसर्गभेद के कारण उसमें रूप की भिन्नता, रस की भिन्नता तथा स्पर्श की भिन्नता का आरोप होता है। जल के समुद्र, नदी इत्यादि रूप से अनेक प्रकार होते हैं। जल में चार गुण पाए जाते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस। जल के द्वारा ही किसी वस्तु को सींचा जाता है तथा उसे गीला करके साना जाता है।

पृथिवीनिरूपणम्

अप्पृथिव्योर्मध्यावस्थाविशिष्टं द्रव्यं गन्धतन्मात्रम् । तस्मात् पृथिवी । विशिष्टगन्धवत्त्वम्, रसवत्त्वे सति अनुष्णाशीतस्पर्शवत्त्वमित्यादि पृथिवी-लक्षणम् । सा सुरभिर्मधुरा कृष्णरूपानुष्णाशीतस्पर्शवती । पाकभेदात् (पाकजभेदात्तु) विचित्रवर्णगन्धरसा च । मनोघ्राणाप्यायकत्वेनोप-करोति । मृत्पाषाणान्नौषधादिबहुप्रकारवती । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणका धारणहेतुश्च । तमसः पृथिव्यामन्तर्भावः । तद्गुणकत्वात् तदवस्थान्तर-त्वाद्वा । अत एव आलोकाभावमात्रं तमः, न द्रव्यान्तरमित्यादिपक्षा निरस्ताः ।

अनुवाद—जल के पृथिवी रूप से परिणत होने के पूर्व दोनों के बीच में जो एक सूक्ष्मावस्था होती है, उस अवस्था से विशिष्ट जो द्रव्य होता है, उसे गन्धतन्मात्रा कहते हैं। गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न होती है। शान्तत्व, घोरत्व तथा मूढत्व इत्यादि से विशिष्ट गन्ध का आश्रय होना पृथिवी का पहला लक्षण है। रसवती होती हुई औष्ण्य तथा शीतत्व रहित स्पर्शवाली होना पृथिवी का लक्षण है। पृथिवी सुगन्धयुक्त, मधुर रसोपेत, कृष्ण रूप वाली, औष्ण्य एवं शैत्य रहित स्पर्श वाली है। पाक की भिन्नता के कारण विभिन्न प्रकारके वर्णों, रसों एवं गन्धों वाली होती है। पृथिवी की मिट्टी, पाषाण, अन्न तथा औषधियाँ आदि अनेक प्रकार के भेद हैं।

इसमें पाँच गुण होते हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध। तम का पृथिवी में अन्तर्भाव होता है। क्योंकि तम पृथिवी का गुण है अथवा वह पृथिवी का अवस्थान्तर रूप है। अत एव तम प्रकाश का अभावमात्र है, तम को द्रव्य मानना ठीक नहीं। इत्यादि पक्षों का खण्डन उपर्युक्त प्रतिपादन से हो ही गया।

पृथिवी-निरूपण

भा० प्र०—'अद्भ्यः पृथिवी' श्रुति बतलाती है कि पृथिवी का उपादानकारण पृथिवी है। पृथिवी विशिष्ट गुण का आश्रय होती है। अथवा रसवती होने के साथ-साथ वह विशिष्ट स्पर्श का आश्रय होती है। पृथिवी आरम्भ में सुगन्धयुक्त, मधुर-रसोपेत, कृष्ण रूप वाली, अनुष्ण एवं अशीत स्पर्श वाली होती है। उसमें अनुष्ण एवं अशीत स्पर्श सदा बना रहता है। तेज एवं जल आदि के संसर्ग से पृथिवी कहीं-कहीं उष्ण एवं शीत प्रतीत होती है। क्योंकि जल एवं धूप इत्यादि के संसर्ग के होने पर ही उसमें वे गुण अनुभूत होते हैं; अन्यथा नहीं। 'यत् कृष्णं तदन्नस्य' इस श्रुति से स्पष्ट है कि कृष्ण पृथिवी का रूप है। विसजातीयतेजस्संयोग रूप विभिन्न पाकों के कारण पृथिवी में अनेक प्रकार के रूप उत्पन्न होते हैं। पृथिवी में स्वाभाविक माधुर्य है। पृथिवी के मिट्टी, पाषाण आदि अनेक प्रकार हैं। वैशेषिक सूत्र में कहा भी गया है—'विषयो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः।' अर्थात् पृथिवी के विषय मृत्तिका, पाषाण तथा स्थावर पदार्थ हैं।

अन्धकार का निरूपण—सिद्धान्त में अन्धकार को पार्थिव द्रव्य मानकर उसका पृथिवी में अन्तर्भाव माना जाता है। अन्धकार को द्रव्य इसलिए माना जाता है कि वह नील रूपका आश्रय है। उसके अन्धकार का नीलत्व अबाधित प्रतीति है, क्योंकि सभी अन्धकारों में नील रूप की उपलब्धि होती है। उसके नीलत्व का कभी भी बाध नहीं होता है। 'यत् कृष्णं तदन्नस्य' श्रुति के अनुसार पृथिवी का रूप कृष्ण है। नील रूपवान् होने के कारण ही इसे पार्थिव मानना पड़ता है।

अन्धकार के विषय में कुछ वादियों के मत

(१) वैशेषिक कहते हैं कि प्रौढ प्रकाशयुक्त तेजःसामान्य का अभाव ही अन्धकार है।

(२) दूसरे लोग कहते हैं कि बाहर प्रकाश रहने पर भी नेत्र को मींचने पर सबको अन्धकार प्रतीत होता है; इससे सिद्ध होता है कि रूप-प्रतीति का अभाव ही अन्धकार है।

(३) कुछ लोग कहते हैं कि आकाश में व्याप्त परमाणुओं में विद्यमान नीले रूपमात्र की प्रतीति ही अन्धकार की प्रतीति है।

ये तीनों मत इसलिए अनुपपन्न हैं कि अभाव निषेध रूप से प्रतीत होता है। परन्तु अन्धकार 'अन्धकार है' इस रूप से प्रतीत होता है। अतएव अन्धकार भावपदार्थ है, वह अभावपदार्थ नहीं हो सकता है। इसलिए अन्धकार को पार्थिव द्रव्य मानना अत्यावश्यक है।

अन्धकार का द्रव्यत्व-प्रतिपादन

अन्धकार के द्रव्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

'तमो नाम द्रव्यं बहलविरलं मेचकचलम् ।
प्रतीमः केनापि क्वचिदपि न बाधश्च ददृशे ।।
अतः कल्प्यो हेतुः प्रमितिरपि शाब्दी विजयते ।
निरालोकं चक्षुः प्रथयति हि तद्दर्शनवशात् ।।'

अर्थात् अन्धकार एक द्रव्य है, क्योंकि वह हमें घना, विरल, कृष्ण एवं चंचल दिखलायी देता है। तम के विषय में होने वाली इस प्रतीति का कभी बाध भी नहीं होता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि दीप के बूझते ही सम्पूर्ण गृह में इतना बड़ा अन्धकार कैसे व्याप्त हो जाता है ? तो इसका उत्तर यह है कि तदर्थ उचित उत्तर को ढूंढना होगा। जिस प्रकार दीप के जलते ही सम्पूर्ण गृह में व्याप्त होने की क्षमता प्रभा में होती है, उसी तरह दीप के बूझते ही सम्पूर्ण गृह में व्याप्ति की शक्ति अन्धकार में भी होती है। प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध तम के द्रव्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। 'तमः ससर्ज भगवान्' इत्यादि शास्त्र बतलाते हैं कि श्रीभगवान् ने अन्धकार की सृष्टि की। अन्धकार परमात्मा का शरीर है। इन वाक्यों से होने वाला शब्दबोध तभी प्रमात्व को प्राप्त कर विजयी होगा, यदि अन्धकार द्रव्य हो; क्योंकि द्रव्य की ही सृष्टि होती है तथा द्रव्य ही शरीर बन सकता है। अनुभवानुसार यह मानना चाहिए कि आलोक रहित चक्षु अन्धकार द्रव्य को उसी प्रकार प्रत्यक्ष करा देता है, जिस प्रकार आलोकाभाव को प्रत्यक्ष करा देता है।

पञ्चीकरणप्रक्रियाया निरूपणम्

भूतेषु सर्वत्र पञ्चीकरणप्रक्रियया शब्दादीनां गुणानामुपलम्भः। पञ्चीकरणप्रक्रिया तु, भगवान् भूतानि सृष्ट्वा एकैकमेव भूतं द्विधा कृत्वा द्वयोर्भागयोः स्वभागमेकं निधाय भागान्तरं चतुर्धा करोति। तान् चतुर्भागान् भूतान्तरेषु चतुर्षु योजयति। एवं सर्वेषु भूतेषु क्रियमाणेषु एकैकस्य भूतस्यार्धं स्वभागः, अर्धान्तरं चतुर्णां भूतानां भागसमुच्चयो भवति। तथा च स्वभागस्य भूयस्त्वात्, परभागस्याल्पीयस्त्वाच्च पृथिव्यादिव्यपदेशः। वेदे त्रिवृत्करणोपदेशस्तु पञ्चीकरणस्याप्युपलक्षणम्। भूतैस्साकं महदहङ्कारौ मिलित्वा सप्तीकरणमित्यप्याहुः। एतेषु चतुर्विंशतिसङ्ख्याकेषु पञ्चभूतानि प्रकृतिमहदहङ्काराश्च शरीरोपादानानि। एकादशेन्द्रियाणि प्रत्येकमसङ्ख्यातानि प्रतिपुरुषं भिन्नानि आभरणार्पितरत्नानीव शरीरमाक्रम्य तिष्ठन्ति।

अनुवाद—पञ्चीकरण-प्रक्रिया के द्वारा सभी भूतों में शब्दादि सभी गुणों की उपलब्धि होती है। पञ्चीकरण-प्रक्रिया यह है कि—भगवान् ने भूतों की सृष्टि करके, प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करके दो भागों में-से एक भाग को उस भूत के

लिए छोड़कर दूसरे भाग को चार भागों में बाँट कर, उन चार भागों को दूसरे चार भूतों में मिला देते हैं। निर्मित किये जाने वाले इन चारों भूतों में प्रत्येक भूत का आधा अपना भाग होता है और उसके आधे भाग में स्वेतर चार भूतों का समाहार होता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत में अपने भाग की अधिकता तथा भूतान्तर के भागों की न्यूनता होने के कारण उन्हें पृथिवी आदि तत्-तत् नामों से व्यपदिष्ट किया जाता है। वेद में त्रिवृत्करण-प्रक्रिया का उपदेश पञ्चीकरण-प्रक्रिया का उपलक्षण है। भूतों के साथ महान् और अहङ्कार को मिलाकर सप्तीकरण होता है, यह आचार्यों ने कहा है। प्रकृति के इन चौबीस तत्त्वों में पञ्चभूत, प्रकृति, महान् और अहङ्कार शरीर के उपादानकारण हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ प्रत्येक जीव की अलग-अलग होने से असंख्य हैं। ये आभूषणों में जड़े गए रत्नों के समान शरीर में व्याप्त होकर रहती हैं।

पञ्चीकरण-प्रक्रिया

भा० प्र०—पञ्चीकरण-प्रक्रिया के कारण सभी भूतों में सभी भूतों के गुण विद्यमान रहते हैं। प्रश्न उठता है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया क्या है? इस पञ्चीकरणप्रक्रिया की कल्पना का मूल स्रोत क्या है? तो इसका उत्तर यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा भूतों की रचना करके प्रत्येक भूत को दो भागों में विभक्त करते हैं। उनमें एक भाग को ज्यों का त्यों छोड़कर दूसरे भागों को चार भागों में बाँट कर, एक-एक भाग को स्वेतर चार भूतों में मिला देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक भूत में अपना आधा भाग होता है तथा चार भूतान्तरों को मिलाकर आधा भाग होता है। इस तरह पाँचों भूतों में पाँचों भूतों के अंश को मिलाने की क्रिया को पञ्चीकरण-प्रक्रिया कहते हैं। पञ्चीकरणप्रक्रिया के अनुसार—

पृथिवी में—पृथिव्यंश $\frac{1}{2}$ + जलांश $\frac{1}{8}$ + तेजांश $\frac{1}{8}$ + वाय्वंश $\frac{1}{8}$ और आकाशांश $\frac{1}{8}$ है।

जल में—जलांश $\frac{1}{8}$ + तेजांश $\frac{1}{8}$ + वाय्वंश $\frac{1}{8}$ + आकाशांश $\frac{1}{8}$ + पृथिव्यंश $\frac{1}{8}$ है।

तेज में—तेजांश $\frac{1}{2}$ + वाय्वंश $\frac{1}{8}$ + आकाशांश $\frac{1}{8}$ + पृथिव्यंश $\frac{1}{8}$ + जलांश $\frac{1}{8}$ है।

वायु में—वाय्वंश $\frac{1}{2}$ + आकाशांश $\frac{1}{8}$ + पृथिव्यंश $\frac{1}{8}$ + जलांश $\frac{1}{8}$ + तेजांश $\frac{1}{8}$ है।

आकाश में—आकाशांश $\frac{1}{2}$ + पृथिव्यंश $\frac{1}{8}$ + जलांश $\frac{1}{8}$ तेजांश $\frac{1}{8}$ + वाय्वंश $\frac{1}{8}$ है।

इस पञ्चीकरण का मूल हमें छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में वर्णित त्रिवृत्-करण-प्रक्रिया के रूप में उपलब्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् में आख्यायिका आयी है कि सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने पृथिवी, जल एवं तेज की सृष्टि करके, उसको त्रिवृत् करने का सत्यसंकल्प किया—'तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणि।' यह त्रिवृत्-करण का सत्यसंकल्प ही पञ्चीकरण का उपलक्षण है। प्रश्न उठता है कि यदि

सभी भूतों में सभी भूत विद्यमान रहते हैं तो फिर उन्हें पृथिवी आदि पृथक्-पृथक् नामों से क्यों अभिहित किया जाता है ? तो इसका उत्तर है कि पृथिवी आदि भूतों में अपना अंश आधा होता है तथा आधे में स्वेतर भूतचतुष्टय होते हैं। अतएव अपने-अंश के भूयस्त्व को लेकर तत्-तत् भूतों का तत्-तत् नामों से अभिधान होता है। पृथिवी आदि नामों का आधार भूयस्त्व-न्याय है। इस अर्थ का प्रतिपादन महर्षि वादरायण ने 'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः।' तथा 'त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्' इन दो सूत्रों में किया है। कुछ आचार्य पञ्चभूतों के साथ महान् एवं अहङ्कार, इन दो तत्त्वों को मिलाकर सप्तीकरण-प्रक्रिया का प्रतिपादन करते हैं।

प्राकृतिक चौवीस तत्त्व हैं। उनमें पाँच महाभूत, प्रकृति, महान् एवं अहङ्कार—ये आठ तत्त्व शरीर के उपादानकारण हैं। 'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।' यह गीता का वाक्य भी इन आठ तत्त्वों को शरीर का उपादानकारण बतलाते हैं। 'अष्टौ प्रकृतयः' यह श्रुति भी इन आठ तत्त्वों को शरीर का उपादनकारण बतलाती है।

एकादश इन्द्रियाँ प्रत्येक जीव की पृथक्-पृथक् होती हैं, अतएव ये असंख्य हैं। जिस प्रकार आभूषण की शोभा के लिए उसमें विभिन्न रत्न जटित होते हैं, उसी प्रकार प्रत्येक शरीर को ये इन्द्रियाँ समलङ्कृत करती हैं। शरीर के उपादानभूत आठ तत्त्वों से भिन्न सोलह तत्त्व विकारमात्र हैं। इनकी चर्चा करते हुए श्रीभगवान् गीता में कहते हैं—'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।' तेजसाहङ्कार से सहकृत सात्त्विकाहंकार से इन इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है; यह पहले कहा जा चुका है।

शरीरलक्षणम्

शरीरं नाम चेतनं प्रत्याधेयत्वविधेयत्वशेषत्वनियमैरपृथक्सिद्धो द्रव्य-विशेष इत्येकं लक्षणम्। नियमेन यदाधेयम्, नियमेन यद्विधेयम्, नियमेन यच्छेषम्, तदिति लक्षणत्रयं वा योज्यम्। ईश्वरतज्ज्ञानव्यतिरिक्तद्रव्यमिति वा तटस्थलक्षणम्। एतेन चेष्टाश्रयशरीरम्। इन्द्रियाश्रयशरीरम्। भोगा-यतनं शरीरम्। शिरःपाणिपादादिमयं शरीरमित्यादीनि परोक्तानि शरीर-लक्षणानि निरस्तानि।

अनुवाद—अपने आश्रय चेतन के प्रति जो नियमतः आधेय, विधेय एवं शेष तथा अपृथक्सिद्ध द्रव्य हो, उसे शरीर कहते हैं। यह शरीर का एक लक्षण है। जो आश्रय के प्रति नियमतः आधेय होता है, उसे शरीर कहते हैं, अथवा जो अपने आश्रय चेतन के प्रति नियमतः विधेय हो, उसे शरीर कहते हैं। जो अपने आश्रय चेतन के प्रति नियमतः शेष हो, उसे शरीर कहते हैं। ये शरीर के तीन लक्षण भी किये जाते हैं। अथवा शरीर का यह तटस्थ लक्षण किया जा सकता है कि ईश्वर तथा ईश्वर के ज्ञान से भिन्न द्रव्य को शरीर कहते हैं। इन लक्षणों के करने से जो

चेष्टा का आश्रय हो, उसे शरीर कहते हैं। जो इन्द्रियों का आश्रय हो, उसे शरीर कहते हैं। जो भोगों का आयतन (आश्रय) हो, उसे शरीर कहते हैं। शरीर शिर, पाणि, पाद आदिमय होता है। इत्यादि तत्-तत् वादियों द्वारा किये गये शरीर के लक्षणों का खण्डन हो गया।

शरीर का लक्षण

भा० प्र०—पहले के अनुच्छेद में यह चर्चा आयी है कि इन्द्रियों का आश्रय शरीर है। इस प्रसङ्ग-सङ्गति के अनुसार प्रश्न उठता है कि शरीर किसे कहते हैं? इस पर यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि शरीर का स्वरूप-लक्षण दो प्रकार से किया जा सकता है। पहला तो यह है कि—जिस चेतन का जो द्रव्य नियमतः आधेय, विधेय एवं शेष होते हुए उसका अपृथक्सिद्ध द्रव्य हो, उसे उसका शरीर कहते हैं। शरीर चेतन का आधेय है, क्योंकि जब तक शरीर के भीतर चेतन रहता है, तबतक ही शरीर रहता है। चेतन के निकलते ही वह विनष्ट हो जाता है, अतएव चेतनाश्रित होने के कारण चेतनों का आधेय है। शरीर अपने आश्रय चेतन का विधेय होता है। वह जैसे चाहता है, वैसे ही उसे तत्-तत् कार्यों में लगा देता है। चेतन के द्वारा नियम्य होने के कारण शरीर चेतन का विधेय है। शरीर अपने आश्रय चेतन का शेष है तथा चेतन उसका शेषी (स्वामी) है। साथ ही साथ शरीर अपने आश्रयभूत चेतन का अपृथक्सिद्ध द्रव्य है। वह अपने आश्रयभूत चेतन से पृथक् होकर नहीं रह सकता है।

अपने आश्रय चेतन के प्रति शरीर का नियमतः आधेयत्व, विधेयत्व एवं शेषत्व शरीर के पृथक्-पृथक् तीन लक्षण हो सकते हैं। 'न तु दृष्टान्तभावात्' इस ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य में भी शरीर का यही लक्षण किया गया है—'यस्य चेतनस्य यद् द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं च शक्यं तच्छेषतैकस्वरूपं च तत् तस्य शरीरम्।' शरीर का लक्षण लोक तथा वेदों में वर्णित जितने शरीर हैं, उन सबों में समन्वित होता है। अतएव इस शरीर के लक्षण में किसी भी प्रकार का दोष नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने शरीर का एकदेशीय लक्षण किया है—कोई चेष्टाश्रय को शरीर बतलाता है, कोई इन्द्रियाश्रय तो कोई भोगाश्रय को तो कोई अङ्गाश्रय को। किन्तु ये सभी शरीर के लक्षण दोष-दूषित हैं। अतएव इन सभी शरीर-लक्षणों का उपर्युक्त सिद्धान्तसम्मत शरीर के लक्षण द्वारा खण्डन हो गया।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने शरीर का एक तटस्थ लक्षण भी किया है। वह यह है—जो ईश्वर तथा ईश्वर के ज्ञान से भिन्न द्रव्य हो, उसे शरीर कहते हैं।

शरीरविभागः

शरीरं द्विविधम्—नित्यमनित्यमिति। तत्र नित्यं त्रिगुणद्रव्यकालजीवशुभाश्रयादिकमीश्वरशरीरम्। नित्यसूरीणां स्वाभाविकं गरुडभुजगादिरूपं

च। अनित्यं द्विविधम्—अकर्मकृतं कर्मकृतं चेति। प्रथममीश्वरस्य महदादि-रूपम्। तथाऽनन्तगरुडादीनां मुक्तानामीश्वरस्य च इच्छागृहीतं तत्तद्रूपम्। कर्मकृतमपि द्विविधम्—स्वसङ्कल्पसहकृतकर्मकृतं केवलकर्मकृतं चेति। पूर्वं महतां सौभरिप्रभृतीनाम्, इतरदन्येषाम्। पुनस्सामान्येन द्विविधम्—स्थावर-जङ्गमभेदात्। स्थावराः शिलावृक्षगुल्मादयः। जङ्गमाश्चतुर्धा—देवमनुष्य-तिर्यङ्नारकिभेदात्। उद्भिज्जस्वेदजाण्डजजरायुजभेदा अपि विभाजक-धर्माः। अयोनिजशरीराण्यपि सन्ति।

अनुवाद—शरीर दो प्रकार का होता है—नित्य शरीर और अनित्य शरीर। नित्य शरीर ईश्वर का शरीर है, जो त्रिगुणद्रव्य, काल, जीव तथा शुभ आदि का आश्रय है। नित्यसूरियों का स्वाभाविक गरुड एव सर्पादि रूप शरीर भी नित्य शरीर है। अनित्य शरीर दो प्रकार का होता है—अकर्मकृत शरीर तथा कर्मकृत शरीर। ईश्वर का महदादि रूप शरीर अकर्मकृत अनित्य शरीर है। इसी प्रकार अनन्त, गरुड, आदि नित्यसूरियों द्वारा तथा मुक्त जीवों द्वारा अपनी स्वेच्छा से गृहीत भी तत्-तत् शरीर अनित्य हैं। कर्मकृत शरीर भी दो प्रकार का होता है—अपने संकल्प से सहकृत कर्म-कृत शरीर तथा केवल कर्मकृत शरीर। स्वसकल्पसहकृत कर्मकृत शरीर सौभरी आदि महापुरुषों का है। अस्मदादि का शरीर केवल कर्मकृत है। प्रकारान्तर से भी शरीरों का दो भेद किया जाता है—स्थावर शरीर और जंगम शरीर। शिला, वृक्ष एवं गुल्म (लता) आदि का शरीर स्थावर शरीर है। जङ्गम शरीर चार प्रकार के होते हैं—देव शरीर, मनुष्य शरीर, तिर्यक् शरीर तथा नारकीय शरीर। प्रकारान्तर से भी शरीरों के चार भेद किये जाते हैं—'उद्भिज, स्त्रेदज, अण्डज, जरांयुज और स्वेदज। इसके अतिरिक्त अयोनिज शरीर भी हैं।

शरीरों के भेद

भा० प्र०—ऊपर के अनुच्छेद में शरीर का लक्षण किया जा चुका है। विशिष्टा-द्वैती विद्वान् वैदिक वाक्यों के आलोक में इस अर्थ का प्रतिपादन करते हैं कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है और परमात्मा जगत् की आत्मा है। इसके अतिरिक्त संसार में भी शरीरधारियों के अनेक प्रकार के शरीर होते हैं। उन सभी लोक में उपलब्ध एवं वेदों में वर्णित शरीरों को दृष्टिपथ में रखकर शरीरों का विभाग करते हुए कहा गया है कि शरीर दो प्रकार के होते हैं—नित्य एवं अनित्य। नित्य शरीर ईश्वर के निम्न शरीर हैं—प्रकृति, काल, जीव तथा शुभों का आश्रयभूत श्रीभगवान् का नित्य विग्रह है। ये सभी नित्य शरीर हैं। ये नित्य द्रव्य हैं तथा ईश्वर का शरीर बनकर रहते हैं। इसी प्रकार नित्यसूरि, जो गरुड, शेष इत्यादि हैं; उनका स्वाभाविक पक्षी तथा सर्प का शरीर नित्य शरीर है। इसी प्रकार अन्य नित्यसूरियों के भी शरीर नित्य शरीर हैं।

अनित्य शरीर भी दो प्रकार के होते हैं—(१) अकर्मकृत शरीर; अर्थात् उस शरीर के ग्रहण करने में पूर्वकृत कोई कर्म कारण नहीं होता। (२) कर्मकृत अनित्य शरीर। इस प्रकार के शरीर के धारण करने में पूर्वकृत कर्म कारण होता है। अकर्मकृत शरीर प्रकृति से उत्पन्न होने वाले महान् तथा अहङ्कार आदि हैं। इस प्रकार उत्पन्न होने वाले सभी द्रव्य ईश्वर के शरीर हैं। परमात्मा इन शरीरों को अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार नहीं; अपितु स्वेच्छा से धारण करता है। अतएव ये शरीर अकर्मकृत हैं। नित्यसूरि-गण तथा मुक्त जीव अपनी इच्छा से जिन शरीरों को धारण करते हैं, वे भी अकर्मकृत शरीर हैं। मुक्त जीवों द्वारा अपनी स्वेच्छा से धारण किये जाने वाले शरीरों का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् के आठवें प्रपाठक में उपलब्ध होता है। कर्मकृत शरीर भी दो प्रकार के होते हैं—अपने संकल्प के सहित कर्मकृत शरीर तथा केवल कर्मकृत शरीर। सौभरि आदि महापुरुषों का शरीर प्रथम कोटि का शरीर है। सौभरि महर्षि ने अपने संकल्पमात्र से पचास शरीर बनाया था। उनका यह योगशक्ति से सम्पन्न स्वसंकल्पसहकृत कर्मकृत शरीर है। केवल कर्मकृत शरीर क्षुद्र जीवों का है। हम लोगों का शरीर केवल कर्मकृत शरीर है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार दूसरे प्रकार से शरीर का विभाग करते हुए उसे दो भागों में विभक्त करते हैं—जंगम शरीर और अजंगम शरीर। शिला, वृक्ष, गुल्म आदि स्थावरों का शरीर अजंगम शरीर है। शिला, वृक्ष आदि के भीतर भी अत्यन्त पापी जीव रहा करते हैं। जैसे अहल्या का शरीर शिला का शरीर था; यह रामायणादि में वर्णित है। ऐसे यमलार्जुन का शरीर वृक्ष का शरीर था। जङ्गम शरीर चार प्रकार का होता है—देव, मनुष्य, तिर्यक् और नारकीय। अवयव-सन्निवेश में भेद होने के कारण ये चार प्रकार के शरीर वर्णित हैं। देव, असुर, यक्ष, राक्षस आदि भी देवयोनि के अन्तर्गत हैं; भूलोक में रहने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि के शरीर मनुष्य शरीर हैं। पशु, पक्षी, सरीसृप आदि के शरीर तिर्यक् शरीर है तथा रौरवादि नरकों में दुःखों का अनुभव करने वाले शरीर नारकीय शरीर हैं।

शरीरों के विभाग का एक और भी प्रकार है—उद्भिज, स्वेदज, अण्डज एवं जरायुज। वृक्ष आदि के शरीर उद्भिज शरीर है, पक्षी आदि के शरीर अण्डे से उत्पन्न होने के कारण अण्डज शरीर हैं। पसीने से उत्पन्न होने वाले यूका आदि के शरीर स्वेदज हैं तथा जरायु (गर्भ) से उत्पन्न होने वाले हम लोगों के शरीर जरायुज हैं। योनिज और अयोनिज के भेद से भी शरीर का विभाग हो सकता है; इस बात का निर्देश करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा कि अयोनिज शरीर भी होते हैं। जैसे—द्रौपदी एवं सीता का शरीर।

समष्टिसृष्टौ कारणकार्यभावनिरूपणम्

एवं पञ्चीकृतानां भूतानामेवाण्डोत्पादकत्वम्। अण्डोत्पादात्पूर्वसृष्टिस्समष्टिसृष्टिः। अनन्तरसृष्टिर्व्यष्टिसृष्टिः। महदादीनामुत्पत्तिर्नाम ताल-

पलाशताटङ्कन्यायेनावस्थान्तरापत्तिरेव । सेनावनराश्यादिव्यवहारवत् पूर्वापरावस्थाविशेषसम्बन्धमात्रेण कार्यकारणभेदव्यवहारः। तत्र पूर्वावस्था-प्रहाणेन विजातीयावस्थाप्राप्तौ तत्त्वान्तरव्यपदेशः पृथिवीपर्यन्त एव। इत्थम्, प्रकृतिमहदहङ्कारैकादशेन्द्रियतन्मात्रपञ्चकभूतपञ्चकविभागेन चतुर्विंशतितत्त्वानि वर्णितानि। एतेन न्यूनाधिकसङ्ख्याकं तत्त्ववादिनो बाह्याः पाशुपताश्च निरस्ताः परमाणुकारणत्ववादिनोऽपि निरस्ताः।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार से पञ्चीकृत भूतों से ही ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पहले की सृष्टि को समष्टि सृष्टि कहते हैं। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से बाद की सृष्टि को व्यष्टि सृष्टि कहते हैं। जिस प्रकार ताल के पत्ते को ताटङ्क इत्यादि के रूप में परिणत कर दिया जाता है। वह भिन्न-भिन आकार में परिणत तालपत्र ही रहता है, उसी प्रकार महदादि की उत्पत्ति होती है। महदादि के रूप में प्रकृति ही परिणत होती है। जिस प्रकार सेना, वन, राशि आदि के व्यवहार-स्थल में कारण-द्रव्य ही अवस्थान्तर को प्राप्त कर कार्य बन जाते हैं, यही कारणकार्य-भाव माना जाता है, उसी प्रकार प्रकृति, महान् आदि में कारणकार्यभाव पूर्वावस्था के परित्यागपूर्वक विसजातीय .अवस्था की प्राप्ति को ही लेकर पृथिवी-पर्यन्त तत्त्वान्तर का व्यपदेश होता है। इस प्रकार प्रकृति, महान्, अहङ्कार, ग्यारह इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्राएँ तथा पञ्चमहाभूत इस विभाग के अनुसार चौबीस तत्त्वों का वर्णन किया गया। इस प्रकार चौबीस से अधिक अथवा कम तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाले बाह्यों तथा पाशुपतों के मत का खण्डन हो गया। परमाणु को ही जगत् का कारण बतलाने वालों के भी मत का खण्डन हो गया।

समष्टि सृष्टि

भा० प्र०—पञ्चीकृत महाभूतों से ही ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है; यह सिद्धान्त में माना जाता है। इस अर्थ का समर्थन विष्णुपुराण के इन वाक्यों से भी होता है—

'नाना वीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना।
नाशक्नुवन् प्रजास्स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥
समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः।
एकसङ्घातलक्षास्तु सम्प्राप्यैक्यमशेषतः।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते॥'

कहने का अभिप्राय यह है कि पृथ्वी से लेकर महत्तत्त्व-पर्यन्त जितने तत्त्व हैं, वे भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, जल का स्वभाव द्रवत्व है तो पृथिवी का स्वभाव काठिन्य है। इस प्रकार विभिन्न शक्ति-सम्पन्न ये तत्त्व परस्पर में पूर्णरूप से ऐक्य के बिना प्रजा की सृष्टि करने में असमर्थ रहते हैं। महत्तत्त्व से लेकर पृथिवी-तत्त्व-पर्यन्त ये सभी तत्त्व एक संघात अर्थात् ब्रह्माण्ड के निर्माण को लक्ष्य में रखते हुए, परस्पर संयोग को प्राप्त हुए, एक-दूसरे के आश्रित हो पूर्णरूप से ऐक्य को प्राप्तकर उपर्युक्त

तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। सृष्टि दो प्रकार की होती है—समष्टि सृष्टि और व्यष्टि सृष्टि। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति से पूर्व की सृष्टि समष्टि सृष्टि कहलाती है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पश्चात् होने वाली सृष्टि को व्यष्टि सृष्टि कहते हैं। प्रकृति से जो महत् आदि तत्त्वों की सृष्टि होती है, वह अवस्थान्तरप्राप्ति रूपा सृष्टि है। उसमें कार्य-कारण का जो अभिधान होता है, वह बुद्धि-भेद के कारण अथवा कालभेद के कारण होता है। जैसे—एक ही ताड़ के पत्ते को भिन्न प्रकार से मोड़ देते हैं तो वह कंकण एवं ताटंक का रूप धारण कर लेता है। तालपत्र को उसका कारण तथा ताटंक आदि को तालपत्र का कार्य कहा जाता है। वह इसलिए क्योंकि ताटंकावस्था से अव्यवहित पूर्वकाल में वह तालपत्र था। पूर्व की अवस्था तालपत्रावस्था को छोड़कर वह पश्चात्भावी ताटंकावस्था को प्राप्त कर लिया।

कार्य-लक्षण

कारणावस्था में रहनेवाला द्रव्य जब अपनी पूर्वावस्था को छोड़कर उससे भिन्न एक विसजातीयावस्था को धारण कर लेता है तो वह कार्य कहलाने लगता है। नैयायिक इत्यादि कहते हैं कि यदि पूर्वकालिक वस्तु ही उत्तरकालिक रूप को धारण कर लेगा तो उसमें जातिसंकर होगा। क्योंकि उसमें पूर्वावस्था में विद्यमान जाति के साथ-साथ इस नवीनावस्था की भी जाति होगी। अतएव प्रश्न होगा कि उसकी कौन-सी जाति मानी जाय? अतएव यही मानना उचित लगता है कि कार्य के रूप में एक नया ही पदार्थ उत्पन्न हो जाता है।

नैयायिकों की इस शंका का समाधान करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि नैयायिक भी सेना, वन तथा राशि स्थलों में नवीन अवयवी द्रव्य न स्वीकार करके अवस्थान्तरापत्ति रूप ही कार्यकारणभाव मानते हैं। अनेक सैनिकों का समूह ही सेना शब्द से अभिहित किया जाता है। वहाँ कोई दूसरा द्रव्य नहीं होता, अपितु सैनिक अपनी एकत्वावस्था को छोड़कर अनेकत्वावस्था को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे ही एक वृक्ष वृक्ष कहलाता है, किन्तु अनेक वृक्ष वन शब्द से अभिहित किये जाते हैं। ऐसे ही एक धान धान कहलाता है, किन्तु धान का समूह धानराशि कहलाता है। अतएव अवस्थान्तरापत्ति रूप ही कार्यकारणभाव मानना चाहिए। कार्यरूप से कोई नवीन पदार्थ उत्पन्न होता हो, ऐसी बात नहीं है।

विशिष्टाद्वैत दर्शन में चौबीस तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं, अतएव चौबीस से अधिक तत्त्वों की संख्या बतलाने वाले पाशुपतों का तथा उससे कम तत्त्वों की संख्या बतलाने वाले बाह्यों का मत अनादरणीय है। वैशेषिक सात पदार्थों को मानते हैं। नैयायिक सोलह पदार्थों को मानते हैं तथा पाशुपत छत्तीस तत्त्व मानते हैं। इन सभी वादियों के मत का खण्डन उपर्युक्त प्रतिपादन से हो गया। इस प्रकार वैशेषिक, बौद्ध तथा जैन परमाणु को ही जगत् का कारण मानते हैं, उनके भी मत का खण्डन समझना चाहिए।

जम्बूद्वीपवर्णनम्

प्रकृत्यादय ईश्वरस्य जीवस्य च भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानानि च भवन्ति। भोग्यानि विषयाः। भोगोपकरणानि तु चक्षुरादिकरणानि। भोगस्थानानि चतुर्दशभुवनसहितान्यण्डजातानि। अण्डं नाम कपित्थफलाकारं पञ्चीकृतपञ्चभूतारब्धं प्राकृतं द्रव्यम्। तद्यथा—पद्माकारा भूः, कर्णिकाकारो मेरुः। मेरोर्दक्षिणतो भारतकिम्पुरुषहरिवर्षाणि त्रीणि। उत्तरतो रम्यक-हिरण्यक-कुरुवर्षाणि त्रीणि। पुरतो भद्राश्ववर्षम्। पश्चात्केतुमालवर्षम्। मध्ये त्विलावृतम्।

अनुवाद—प्रकृति आदि जीव तथा ईश्वर के भोग्यपदार्थ, भोग के साधन तथा भोग के स्थान हैं। विषय ही भोग्य पदार्थ हैं। चक्षु आदि इन्द्रियाँ भोग के साधन हैं। चौदह भुवन के साथ अण्डसमूह भोगस्थान हैं। पञ्चीकृत भूतों से बना हुआ तथा कपित्थ (कैंथ) के फल के सदृश आकार वाला प्राकृत द्रव्य ही ब्रह्माण्ड कहलाता है। वह इस प्रकार है—पृथिवी कमल के सदृश आकारवाली है। उस कमल के ऊपर होने वाला कर्णिका के सदृश आकारवाला सुमेरु पर्वत है। सुमेरु पर्वत के दाहिनी तरफ भारतवर्ष, किम्पुरुषवर्ष तथा हरिवर्ष ये तीन वर्ष हैं। उसके उत्तर की ओर रम्यक, हिरण्यक एवं कुरु वर्ष ये तीन वर्ष हैं। उसके आगे भद्राश्ववर्ष, पीछे केतुमालवर्ष तथा मध्य में इलावृत्तवर्ष हैं।

जम्बूद्वीप का वर्णन

भा० प्र०—प्रकृति आदि जीवों के भोग्य, भोगोपकरण तथा भोग के स्थान हैं तथा ईश्वर के लीलोपकरण हैं, इस बात को 'प्रकृत्यादयः' इस वाक्य के 'च' पद से सूचित है। किञ्च ईश्वर के भी विभवादि रूप ग्रहण करने पर प्रकृति आदि उसके भोग्य आदि रूप से बनते हैं। यह चौदह भुवनों वाला ब्रह्माण्ड अण्डकटाह से आवृत है। विष्णुपुराण में कहा भी गया है—

'एतदण्डकटाहेन तिर्यक् चोर्ध्वमधस्तथा।
कपित्थस्य यथा बीजं सर्वतो वै समावृतम्॥'

अर्थात् जिस प्रकार कपित्थ का बीज कपित्थ के फल से पूर्णरूप से समावृत रहता है, उसी प्रकार चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्ड चारों तरफ से अण्डकटाह से समावृत है। इस ब्रह्माण्ड में पृथिवी कमल के सदृश आकार वाली है और जिस प्रकार कमल के बीच में उसकी कर्णिकाएँ निकली होती हैं, उसी प्रकार पृथिवी पर सुमेरु पर्वत अवस्थित है। महर्षि पराशर कहते हैं—'भूपद्मस्यास्य शैलोऽयं कर्णिकाकारसंस्थितः।' अर्थात् पृथिवी रूपी कमल पर यह सुमेरु पर्वत कर्णिका के रूप में अवस्थित है। इस पृथिवी पर सुमेरु पर्वत के चारो तरफ नव वर्ष हैं। जैसे—सुमेरु पर्वत के दाहिनी ओर तीन वर्ष हैं—भारत, किम्पुरुषवर्ष एवं हरिवर्ष। उत्तर की ओर तीन

वर्ष हैं—रम्यक वर्ष, हिरण्यक वर्ष और कुरु वर्ष। उसके पूर्व में भद्राश्व वर्ष है। पश्चिम में केतुमाल वर्ष है तथा बीच में इलावृत्त वर्ष है।

सप्तद्वीपवत्याः पृथिव्या वर्णनम्

एवं नववर्षयुक्तं जम्बूद्वीपं लक्षयोजनविस्तीर्णं समपरिमाणेन लवणसिन्धुनाऽऽवृतम्। स सिन्धुर्द्विगुणेन सप्तवर्षात्मकेन प्लक्षद्वीपेन वेष्टितः। सोऽपीक्षुसमुद्रेण। सोऽब्धिशशाल्मलिद्वीपेन। स पुनस्सुरासमुद्रेण। स कुशद्वीपेन। स सर्पिस्समुद्रेण। सोऽपि क्रौञ्चद्वीपेन। स दध्यर्णवेन। सोऽपि शाकद्वीपेन। स च क्षीरार्णवेन। सोऽपि वर्षद्वयविभाजकवलयाकारमानसोत्तरपर्वतसहितेन पुष्करद्वीपेन। स शुद्धजलार्णवेन। एवं द्वीपानामुत्तरोत्तर द्वैगुण्यं द्रष्टव्यम्। प्लक्षद्वीपादयश्च (पञ्च) सप्तवर्षात्मकाः। सप्तद्वीपात्मकोऽयं द्विगुणया काञ्चनभूम्यावृतः। काञ्चनभूमिस्तु लोकालोकपर्वतेन। स पर्वतस्तमसा, तमो गर्तोदकेन, ततोऽण्डकटाहः।

अनुवाद—इस प्रकार नव वर्षों से युक्त जम्बूद्वीप एक लाख योजन में फैला हुआ है। जम्बूद्वीप अपने सदृश परिमाण वाले खारे जल के समुद्र से घिरा है। वह समुद्र अपने दुगुने परिमाण वाले प्लक्षद्वीप से घिरा है। इस प्लक्षद्वीप में सात वर्ष हैं। वह प्लक्षद्वीप भी इक्षुरस के सदृश मीठे जल वाले समुद्र से घिरा है। वह इक्षुसमुद्र शाल्मलिद्वीप से घिरा है। वह शाल्मलिद्वीप सुरा(मदिरा के)समुद्र से घिरा है। वह सुरा-समुद्र कुशद्वीप से घिरा है। वह कुशद्वीप घृत-समुद्र से वेष्टित है। वह घृतसमुद्र भी क्रौञ्चद्वीप से घिरा है। वह क्रौञ्चद्वीप दधि-समुद्र से घिरा है। वह दधिसमुद्र शाकद्वीप से वेष्टित है। शाकद्वीप क्षीरसमुद्र से आवेष्टित है। वह क्षीरसागर भी दो वर्षों को विभाजित करने वाले वलय के सदृश मानसोत्तर पर्वत के साथ पुष्करद्वीप से आवेष्टित है। पुष्करद्वीप भी शुद्ध जल के समुद्र से आवृत है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सभी द्वीप पूर्व-पूर्व द्वीप की अपेक्षा दुगुने विस्तृत आकार वाले हैं। जम्बूद्वीप को छोड़कर प्लक्ष आदि सभी द्वीपों में सात-सात वर्ष हैं। सप्तद्वीपात्मक यह ब्रह्माण्ड अपने दो गुना विस्तृत आकार वाले स्वर्णिम भूमि से आवृत है। उस काञ्चन भूमि की चारों ओर लोकालोक पर्वत है। वह पर्वत अन्धकार से आवृत है। वह अन्धकार गर्तोदक से घिरा है। उसके बाद अण्डकटाह है।

भूमेरधोभागस्य विस्तारवर्णनम्

एवं भूमेरधोऽतलवितलनितलतलातलमहातलसुतलपातालभेदात् सप्तलोकाः। अधो नरकाः। ते च पापकर्मणां पापानुभवभूमयो रौरवाद्याः, मुख्यतया एकविंशतिप्रभेदाः। ततस्तमः, ततो गर्तोदकम्। ततोऽण्डकटाहः।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार से वर्णित पृथिवी के नीचे सात लोक हैं—अतल, वितल, नितल, तलातल, महातल, सुतल एवं पाताल। उसके नीचे नरक लोक है।

वहाँ पर पापी जीव अपने किये हुए पापों के फलस्वरूप से दुःखों का अनुभव करते हैं। उन नरकों का नाम रौरव आदि है। नरकों के मुख्य रूप से इक्कीस भेद हैं। उन नरकों के नीचे अन्धकार है, इसके बाद गर्तोदक है। इसके पश्चात् अण्डकटाह है।

भूमेरूर्ध्वभागस्य विस्तारस्य वर्णनम्

एवं भूमेरुपरि लक्षयोजनात्सूर्यमण्डलम्। तावदेव भुवर्लोकः। तदुपरि चन्द्रमण्डलम्। तस्मादुपर्युपरि नक्षत्रबुधशुक्राङ्गारकबृहस्पतिशनिसप्तर्षि-मण्डलानि। तदुपरि ध्रुवः। सूर्यमण्डलमारभ्य ध्रुवलोकपर्यन्तं स्वर्लोकः। चतुर्दशलक्षोपरि कोटियोजनोच्छ्रायो महर्लोकः। तस्माद् द्विगुणो जनोलोकः। ततश्चतुर्गुणस्तपोलोकः। तस्माद् द्वादशकोट्युच्छ्रायस्सत्यलोकः। ततस्तमो गर्तोदकमण्डकटाहश्च। एवं तिर्यगूर्ध्वप्रमाणेन पञ्चाशत्कोटियोजनत्वं भूमेरुक्तं भवति। शतकोटियोजनविस्तीर्णत्ववादो मानभेदेन। अण्डकटाहः कोटियोजनोच्छ्रायः।

अनुवाद—इस प्रकार भूमि से एक लाख योजन ऊपर सूर्यमण्डल है। वहीं तक भुवर्लोक है। उसके ऊपर चन्द्रमण्डल है। उसके ऊपर नक्षत्रमण्डल, बुधमण्डल, शुक्रमण्डल, भौममण्डल, बृहस्पतिमण्डल, शनिमण्डल तथा सप्तर्षिमण्डल हैं। उसके ऊपर ध्रुवलोक है। सूर्यमण्डल से लेकर ध्रुवलोक-पर्यन्त स्वर्लोक है। चौदह लाख के ऊपर करोड़ योजन ऊपर महर्लोक है। उसका दुगुना जनोलोक है। उसका चार गुना तपोलोक है। उसमे ऊपर बारह करोड़ योजन ऊँचा सत्यलोक है। उसके बाद अन्धकार है। अन्धकार के पश्चात् गर्तोदक है और गर्तोदक के बाद अण्डकटाह है। इस प्रकार तिर्यक् ऊपर की ओर पचास करोड़ ऊँची भूमि बतलायी गई हैं। प्रमाण-भेद से उसका सौ करोड़ योजन विस्तार भी बतलाया गया है। अण्डकटाह करोड़ योजन ऊँचा है।

चतुर्थावतारस्योपसंहारः

तदण्डं दशोत्तरावरणावृतम्। एतादृशान्यण्डान्यनन्तानि। जलबुद्बुदवद्युगपदीश्वरसृष्टानि। ईश्वरस्य चतुर्मुखपर्यन्ता सृष्टिरद्वारिका। तदनन्तरं सद्वारिकेति विवेकः। विस्तरस्तु पुराणरत्नादिषु द्रष्टव्यः। इति प्रकृतिर्निरूपिता।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमकृपापात्रेण श्रीनिवासदासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां प्रकृति-निरूपणं नाम चतुर्थोऽवतारः॥

अनुवाद—उस ब्रह्माण्ड के ऊपर दश आवरण हैं। इस तरह के ब्रह्माण्ड अनन्त हैं। ईश्वर ने समकाल में उसी प्रकार इन सबों की सृष्टि की, जिस प्रकार जल में बुल्ले उठते हैं। चतुर्मुख की सृष्टि-पर्यन्त ईश्वर की सृष्टि साक्षात् सृष्टि है। उसके पश्चात् ईश्वर की सृष्टि सद्वारक सृष्टि है। अर्थात् उसके पश्चात् श्रीभगवान् ब्रह्माजी को प्रेरित कर उनके माध्यम से सृष्टि कराते हैं। इन बातों का विस्तार से वर्णन विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में देखना चाहिए। इस प्रकार प्रकृति का निरूपण किया गया।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य
द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का
प्रकृति-निरूपण नामक चतुर्थ अवतार पूर्ण हुआ।

अथ पञ्चमोऽवतारः

कालनिरूपणम्

अथाचिद्विशेषः कालो निरूप्यते। कालो नाम गुणत्रयरहितो जडद्रव्य-विशेषः। स च नित्यो विभुश्च। भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन त्रिविधः। युगपत्-क्षिप्रचिरादिव्यपदेशहेतुः। निमेषकाष्ठा (तत्परा विनाडी) कला-घटिका-मुहूर्त-दिवस-पक्ष-मास-ऋत्वयन-संवत्सरादिव्यवहारहेतुश्च। मनुष्यमानेन मासः पितॄणां दिनम्। तेषाममावास्या मध्याह्नः। मनुष्यमानेन संवत्सरो देवानां दिनम्। तेषामुत्तरायणमहः। दक्षिणायनं रात्रिः। एवं देवमानेन द्वादशवर्षसहस्रसङ्ख्याकं चतुर्युगमित्युच्यते। तत्र चतुस्सहस्रवर्षसङ्ख्याकं कृतयुगम्। तत्र पूर्णो धर्मः। त्रिसहस्रवर्षसङ्ख्याकं त्रिपाद्धर्मवत्त्रेतायुगम्। द्विसहस्रवर्षपरिमितं (सार्धपादधर्मं) द्विपाद्धर्मवद् द्वापरम्। सहस्रवर्षसङ्ख्या-कमेकपाद्धर्मयुतं कलियुगम्। एतेषां सन्धिर्द्विसहस्रसङ्ख्याकः। एवम्भूत-चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवसप्रमाणम्। एवं रात्रिः।

अनुवाद—प्रकृति का निरूपण कर लेने के पश्चात् काल का निरूपण किया जा रहा है। सत्त्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, इन तीनों गुणों से रहित जड़द्रव्य-विशेष को काल कहते हैं; यह काल का लक्षण है। वह काल नित्य तथा व्यापक द्रव्य है। वह काल भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान के भेद से तीन प्रकार का होता है। उस काल को ही लेकर युगपत् (एक साथ), शीघ्र तथा देर से इत्यादि व्यपदेश होते हैं। काल के ही द्वारा निमेष, काष्ठा, कला, घटी, मुहूर्त, दिन, पक्ष, मास, ऋतु, अयन एवं वर्ष आदि व्यवहार होते हैं। मनुष्यों के एक माह का पितरों का एक दिन होता है। अमावास्या के दिन ही पितरों का मध्याह्न होता है। मनुष्यों के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है। उत्तरायण ही देवताओं का दिन होता है। दक्षिणायन ही देवताओं की रात्रि होती है। इस प्रकार देवताओं के प्रमाण से बारह हजार वर्षों का एक चतुर्युग होता है। उसमें चार हजार वर्षों का सत्ययुग होता है। इस युग में धर्म पूर्णरूप से रहता है। तीन हजार वर्षों का त्रेतायुग होता है। इस युग में धर्म के तीन पाद होते हैं। दो हजार वर्षों का द्वापर युग होता है। इस युग में धर्म के दो पाद रहते हैं। एक हजार वर्षों का कलियुग होता है। इस युग में धर्म एक पाद वाला रहता है। इन युगों की सन्धि दो हजार वर्षों की होती है। इस तरह के एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि होती है।

काल का निरूपण

भा० प्र०—काल जडद्रव्यों में अन्यतम है। तीनों गुणों से रहित होते हुए जड़द्रव्य होना काल का लक्षण है। काल का छोटा लक्षण है—सत्त्वगुण रहित होते हुए जड़द्रव्य

होना। महर्षि पराशर कहते हैं—हे द्विज ! यह ऐश्वर्यसम्पन्न काल अनादि तथा अनन्त है। 'अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।' इस वाक्य से सिद्ध होता है कि काल नित्य है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अपनी उत्पत्ति से पहले तथा विनाश के पश्चात् काल नहीं रहता है, क्योंकि पूर्व एवं पश्चात् शब्द भी काल के ही वाचक हैं। अतएव उन कालों में भी काल का अस्तित्व सिद्ध होता है। प्रकृतिमण्डल में काल सर्वत्र रहता है। 'कालं स पचते तत्र न कालस्तत्र वै प्रभुः।' इस वाक्य के अनुसार नित्यविभूति में भी काल की सत्ता प्रतीत होती है। इस प्रकार काल का व्यापकत्व सिद्ध होता है। प्रकृतिमण्डल में सभी कार्य कालकृत होते हैं। दिव्य वैकुण्ठलोक में सभी दिव्य पदार्थों के परिणाम श्रीभगवान् की इच्छा से होते हैं। विष्णुपुराण में कहा भी गया है—नित्यविभूति में कला, मुहूर्त आदि उपाधियों वाला काल श्रीभगवान् की विभूति के परिणाम का साधन नहीं बनता है।

काल के तीन भेद बतलाए गये हैं—भूतकाल, भविष्यत्काल और वर्तमानकाल। कुछ लोग भूत एवं भविष्यत् इन दो कालों को ही मानते हैं। वे वर्तमान काल को स्वीकारना नहीं चाहते हैं। किन्तु वर्तमान काल को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता है, क्योंकि सभी प्रत्यक्ष वर्तमान काल में होते हैं, वर्तमान काल के बिना कोई भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। 'घटः अस्ति' इस प्रत्यक्ष के द्वारा भी वर्तमान काल की सिद्धि होती है। किञ्च भूतकाल तथा भविष्यत् काल की सीमा है वर्तमान काल। वर्तमान काल के द्वारा ही भूत एवं भविष्यत् काल का विभाग होता है, इसलिये भी वर्तमान काल को स्वीकार करना चाहिए। महर्षि पाणिनि 'वर्तमाने लट्' इस सूत्र के द्वारा वर्तमानकालिक लकार का उपदेश करते हैं, इसलिये भी वर्तमान काल को स्वीकार करना चाहिए।

निमेष, कला, काष्ठा आदि के द्वारा काल के अल्प, अल्पतर, अल्पतम भेदों का व्यपदेश किया गया है। ये काल के भेद भी औपाधिक हैं। इस प्रकार पितरों एवं देवताओं के दिन का वर्णन किया गया। चतुर्युग का वर्णन इत्यादि भी औपाधिक है। इन सबों का विस्तारपूर्वक वर्णन विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में किया गया है। सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापरयुग तथा कलियुग का भी वर्णन पुराणों में वर्णित है। इन युगों में धर्म को चतुष्पाद, त्रिपाद, द्विपाद एवं एकपाद इत्यादि रूप से कहा गया है। इसका कारण है कि धर्म की कल्पना एक वृषभ रूप से पुराणों में की गयी है। जिस प्रकार वृषभ के चार पैर होते हैं, उसी प्रकार सत्यरूपी वृषभ के भी चार पैर हैं—तपः, शौच, दया तथा दान। युगों के क्रमशः इन धर्म के लक्षणों का क्रमशः ह्रास होना ही धर्म रूपी वृषभ के पैरों का विनाश है। तपः, शौच, दया एवं दान—धर्म के इन चारों लक्षणों का सत्ययुग में प्रचुरतया अनुष्ठान होता है। त्रेतायुग आदि युगों में क्रम से इस धर्म के पादों का ह्रास होता जाता है। कलियुग में केवल दान मात्र अवशिष्ट रह जाता है। धर्म के अन्य लक्षणों का विलोप हो जाता है, अतएव कलियुग में धर्म एक पैर वाला रह जाता है।

लीलाविभूति में ब्रह्मा का दिन, उनकी रात्रि तथा उनकी आयु ही काल की सर्वाधिक सीमा है। इसके बाद काल का कोई बड़ा विभाग नहीं किया गया है।

ब्रह्मणोऽह्नो वर्णनम्

ब्रह्मणोऽह्नि चतुर्दश मनवः। तथेन्द्रास्सप्तर्षयश्च। एकैकमनोरेकसप्तति-चतुर्युगपरिमाणकालः। एवं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणश्शतवर्षजीवित्वम्। एतत्सर्वं कालाधीनम्। एवं नित्यनैमित्तिकप्राकृतादिप्रलया अपि कालाधीनाः। कालस्य स्वकार्यं प्रति स्वस्योपादानत्वम्। अखण्डकालो नित्यः। खण्डकालाः पुनरनित्याः। एवम्भूतः काल ईश्वरस्य क्रीडापरिकरो भवति। लीला-विभूतावीश्वरः कालाधीन एव कार्यं करोति। नित्यविभूतौ तु कालस्य विद्यमानत्वेऽपि तस्य न स्वातन्त्र्यम्। केचित्काल एव नास्तीति वदन्ति। अन्ये तु तामसो महान् काल इति। उभयेषामागमबाधः प्रत्यक्षबाधश्च। षडिन्द्रियवेद्यः काल इत्याचार्याः। तेनानुमेयवादिनिरासः। इति कालो निरूपितः।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां
कालनिरूपणं नाम पञ्चमोऽवतारः॥

अनुवाद—ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। उतने ही इन्द्र तथा सप्तर्षि भी होते हैं। एक-एक मनु का जीवन-काल इकहत्तर-इकहत्तर चतुर्युग होता है। इस प्रकार ब्रह्मा के मान से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की होती है। ब्रह्मा भी काल के अधीन हैं। इस प्रकार नित्य, नैमित्तिक एवं प्राकृत आदि प्रलय भी काल के अधीन होते हैं। काल अपने कार्यभूत क्षण, लव, निमेष, मास, पक्ष आदि के प्रति स्वयम् उपादान कारण होता है। अखण्डकाल नित्य है। एवं सखण्डकाल अनित्य है। इस प्रकार काल ईश्वर की क्रीडा का साधन बनता है। लीलाविभूति में श्रीभगवान् विभव रूप से आकर काल के अधीन ही रहकर सभी कार्यों को सम्पादित करते हैं। नित्य-विभूति में यद्यपि काल रहता है, किन्तु वहाँ वह स्वतन्त्र न रहकर श्रीभगवान् के सत्यसंकल्प के अधीन रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि काल नामक पदार्थ रहता ही नहीं है। कुछ विचारकों का कहना है कि तामस-महान् ही काल कहलाता है। किन्तु इन दोनों प्रकार के विचारों का आगम तथा प्रत्यक्ष प्रमाण से बाध होता है। आचार्यों का कहना है कि काल की प्रतीति छः ज्ञानेन्द्रियों से होती है। अतएव काल का प्रत्यक्ष होता है। आचार्यों के इस प्रतिपादन से काल को अनुमेय मानने वालों के मत का खण्डन हो गया। इस प्रकार काल का निरूपण किया गया।

ब्रह्मा की आयु

भा० प्र०—लीलाविभूति में काल की सबसे बड़ी सीमा ब्रह्मा की आयु है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु, चौदह इन्द्र तथा चौदह सप्तर्षिमण्डल होते हैं।

इनमें-से प्रत्येक मनु की आयु इकहत्तर चतुर्युग है। ब्रह्मा भी काल के वशवर्ती हैं। उनकी भी अपनी सौ वर्ष की आयु समाप्त होने पर मृत्यु होती है।

काल के दो भेद

काल का दो विभाग किया गया है—अखण्डकाल तथा सखण्डकाल। अखण्डकाल नित्य है। सखण्डकाल अनित्य है। वह उत्पन्न और विनष्ट होता है। कला-निमेष से लेकर ब्रह्मा की आयु-पर्यन्त सभी जितने भी विभाग किये गये हैं, वे सब सखण्डकाल के अन्तर्गत आते हैं। अखण्डकाल का एक विभाग है सखण्डकाल। वह अखण्डकाल का कार्य है। क्षण, निमेष इत्यादि जितने भी काल के कार्य हैं, उन सबों का उपादान-कारण काल ही है।

काल लीलाविभूति में स्वतन्त्र रहता है, किन्तु नित्यविभूति में वह श्रीभगवान् की इच्छा के परतन्त्र रहता है।

काल की सत्ता के विषय में विचारकों के विरोधी विचार हैं। कुछ लोगों का कहना है कि काल नाम का कोई तत्त्व है ही नहीं। कुछ लोग तामस-महान् को ही काल कहते हैं, किन्तु इन दोनों प्रकार के विचारकों के मत अनुचित हैं। काल का प्रतिपादन शास्त्र करते हैं—विष्णुपुराण में काल को भी भगवान् की विभूति बतलाया गया है। तथाहि—'ब्रह्मा दक्षादयः कालः ··· जनार्दनविभूतयः।'

काल के अवबोध के विषय में आचार्यों का कहना है कि रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द एवं सुख इत्यादि के बोध में ज्ञान विशेषण रूप से प्रतीत होता है। इन सबों का प्रत्यक्ष वर्तमान काल में ही होता है। अतएव शब्द-सुखादि के प्रत्यक्ष के साथ-साथ काल का भी प्रत्यक्ष होता है। अतएव काल को प्रत्यक्षग्राह्य ही मानना चाहिए। न्यायसिद्धाञ्जन नामक ग्रन्थ में श्रीनाथमुनि-प्रणीत न्यायतत्त्व नामक ग्रन्थ के वाक्यों को उद्धृत करते हुए बतलाया गया है कि न्यायतत्त्व के अनुसार—सभी ज्ञान काल का ग्रहण करते हुए ही अनुभूत होते हैं। 'यह घट है' इत्यादि ज्ञानों में काल का विशेषण रूप से प्रत्यक्ष होता है। 'वह घट था' इस प्रकार का जो स्मरण होता है कि घट अतीत देश एवं काल में था। इस प्रतीति से स्मृति के विषयभूत घट के समय में भी काल की सत्ता सिद्ध होती है। इस तरह सभी प्रकार के ज्ञानों में विशेषण रूप से गृहीत होने वाले काल के प्रत्यक्ष का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

वैशेषिक विद्वान् काल को अनुमेय मानते हैं। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जब काल का प्रत्यक्ष के द्वारा ही ग्रहण हो जाता है तो उसे अनुमेय मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का काल-निरूपण नामक पाँचवाँ अवतार पूर्ण हुआ।

अथ षष्ठोऽवतारः

नित्यविभूतेर्निरूपणम्

अथ नित्यविभूतिर्निरूप्यते। शुद्धसत्त्वधर्मभूतज्ञानजीवेश्वरसाधारणं लक्षणमजडत्वम्। अजडत्वं नाम स्वयम्प्रकाशत्वम्। तत्र शुद्धसत्त्वधर्मभूत-ज्ञानसाधारणलक्षणं पराक्त्वे सति अजडत्वम्। तत्तु स्वयम्प्रकाशत्वे सति परस्मा एव भासमानत्वम्। शुद्धसत्त्वं नाम त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्वम्। निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वं वा। सा विभूति-रूर्ध्वप्रदेशेनानन्ता। अधःप्रदेशेन परिच्छिन्ना। अचेतना स्वयम्प्रकाशा च। आनन्दावहत्वादानन्दनात्मिका। पञ्चोपनिषन्मन्त्रप्रतिपाद्यतया पञ्चोपनिष-दात्मिका। अप्राकृतपञ्चशक्तिमत्तया (मयतया) पञ्चशक्तिमयीति निगद्यते।

अनुवाद—काल-निरूपण के पश्चात् नित्यविभूति का निरूपण किया जा रहा है। शुद्धसत्त्व, धर्मभूतज्ञान, जीव तथा ईश्वर, इन चारों में पाया जाने वाला धर्म अजड़त्व है। स्वयम्प्रकाशत्व को अजड़त्व कहते हैं। पराक् होते हुए अजड़ होना यह धर्म शुद्धसत्त्व तथा धर्मभूतज्ञान, इन दोनों में समान रूप से पाया जाता है। पराक् होते हुए अजड़ होने का अर्थ है स्वयम् प्रकाश होते हुए दूसरे के लिए प्रकाशित होना। यहाँ पर शुद्धसत्त्व के दो लक्षण दिये गये हैं—त्रिगुण द्रव्य से भिन्न होते हुए सत्त्वगुणवान् होना इसका पहला लक्षण है। इसका दूसरा लक्षण है—सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति जहाँ हो जाती है, उस प्रदेश से विसजातीय जो प्राकृतिक प्रदेश, उससे भिन्न होना; यह नित्यविभूति का दूसरा लक्षण है। यह नित्यविभूति ऊपर की ओर अनन्त है तथा नीचे की ओर यह सीमित है। यह ज्ञानरहित तथा स्वयम् प्रकाश है। आनन्दप्रद होने के कारण इसका एक नाम आनन्द भी है। पञ्चोपनिषत् के मन्त्र इस विभूति का प्रतिपादन कराते हैं, अतएव यह पञ्चोपनिषन्मयी है। दिव्य पञ्चशक्तियों से युक्त होने के कारण यह पञ्चशक्तिमयी कही जाती है।

नित्यविभूति का निरूपण

भा० प्र०—प्रकृति तथा काल का निरूपण करने के पश्चात् इस छठे अवतार में नित्यविभूति का निरूपण किया जाता है। विशिष्टाद्वैतदर्शन में स्वीकार किया जाता है कि परमात्मा की दो विभूतियाँ हैं—श्रीविभूति तथा नित्यविभूति। लीला-विभूति के अन्तर्गत सम्पूर्ण जगत् आ जाता है तथा नित्यविभूति श्रीभगवान् के दिव्य वैकुण्ठधाम को कहते हैं। नित्यविभूति को शुद्धसत्त्व तथा त्रिपाद्विभूति भी कहा

जाता है। पुरुषसूक्त का निम्न मन्त्र भी परमात्मा की इन दोनों विभूतियों का निर्देश करता है।

'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि। एतावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः।' अर्थात् परमात्मा की पादविभूति में यह सम्पूर्ण जगत् है तथा परमात्मा की अमृत त्रिपाद्विभूति द्युलोक (वैकुण्ठलोक) में है। इतना परमात्मा का ऐश्वर्य है और परमपुरुष उससे महान् है।

यतीन्द्रमतदीपिकाकार शुद्धसत्त्व, धर्मभूतज्ञान, जीव तथा ईश्वर, इन चारों में अजड़त्व नामक धर्म को लेकर समानता मानते हैं। यह अजड़त्व स्वयम्प्रकाशत्व रूप है। स्वयम्प्रकाश उसे कहते हैं, जो अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक पदार्थ की अपेक्षा न रखे। इसी प्रकार स्वयम्प्रकाशत्व नित्यविभूति में है।

शुद्धसत्त्व पदार्थ

नित्य विभूति को शुद्धसत्त्व भी कहा जाता है, क्योंकि इस विभूति में रहने वाला सत्त्वगुण प्राकृतिक न होकर दिव्य है। प्रकृति में रहने वाला सत्त्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण से मिश्रित रहता है, किन्तु नित्यविभूति में पाए जाने वाले सत्त्वगुण में रजोगुण एवं तमोगुण का मिश्रण नहीं है। अतएव यह शुद्धसत्त्व है। प्रकृति में पाया जाने वाला सत्त्वगुण मिश्रसत्त्व कहलाता है। शुद्धसत्त्व में अजड़त्व होते हुए पराक्त्व भी है। पराक् का अर्थ है—'परस्मै अञ्चति' अर्थात् जो अपने से भिन्नों के लिए प्रकाशित हो। नित्यविभूति भी अपने से भिन्न ईश्वर तथा नित्य-मुक्त जीवों के लिए प्रकाशित होती है। उसके उपभोक्ता ईश्वर तथा नित्य-मुक्त जीव ही हैं।

शुद्धसत्त्व के दो लक्षण

यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने शुद्धसत्त्व के दो लक्षणों का निर्देश किया है। पहला लक्षण है—'त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति सत्त्ववत्त्वम्'। अर्थात् त्रिगुणद्रव्य से भिन्न होकर भी सत्त्वगुण से युक्त होना विभूति का लक्षण है। नित्यविभूति में शुद्धसत्त्व है, अतएव वह सत्त्ववती है। वह प्रकृति से भिन्न है। प्रकृति में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'त्रिगुणद्रव्यव्यतिरिक्तत्वे सति' कहा गया है। जीव में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'सत्त्ववत्त्व' कहा गया है। इस प्रकार यहाँ लक्षण का समन्वय हो गया है। नित्यविभूति का दूसरा लक्षण कहा गया है कि—'निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेशविजातीयान्यत्वम्।' अर्थात् नित्यविभूति में पहुँचने पर जीव पर अमानव करस्पर्श होता है, उससे उस मुक्तात्मा की सम्पूर्ण अविद्या की निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार नित्यविभूति निःशेषाविद्यानिवृत्ति देश है। उससे विजातीय है प्रकृत्यादि देश। उस प्रकृत्यादि देश से भिन्न है सम्पूर्ण नित्यविभूति। अर्थात् जिस प्रकार निःशेषाविद्यानिवृत्तिदेश शुद्धसत्त्वगुण वाला है, उसी प्रकार सम्पूर्ण नित्यविभूति शुद्धसत्त्वगुण वाली है।

वह नित्यविभूति ऊपर की ओर अनन्त है किन्तु नीचे की ओर लीलाविभूति से परिच्छिन्न है। वह विभूति स्वयम् प्रकाश होते हुए भी ज्ञातृत्व रहित है। यह विभूति आनन्दप्रद है, अतएव वह आनन्दात्मिका है। 'ज्ञानानन्दमया लोका:' ये भगवच्छास्त्र के वाक्य नित्यविभूति को ज्ञानमय एवं आनन्दमय बतलाते हैं। रहस्य नामक जो उपनिषदों के मन्त्र हैं, वे उस विभूति का दिव्य पञ्चभूतात्मक रूप से प्रतिपादन करते हैं, अतएव नित्यविभूति को पञ्चोपनिषन्मयी कहा जाता है। नित्य-विभूति के जो पाँच दिव्य महाभूत हैं, वे ही पञ्चशक्ति शब्द से अभिहित किये जाते हैं। उन सबों से सम्पन्न होने के कारण नित्यविभूति को पञ्चशक्तिमयी कहा जाता है।

नित्यविभूतेर्भोग्यत्वनिरूपणम्

सा विभूतिरीश्वरस्य नित्यानां मुक्तानां चेश्वरसङ्कल्पाद् भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपा च भवति। भोग्यानीश्वरशरीरादीनि। भोगोपकरणानि चन्दनकुसुमवस्त्रभूषणायुधादीनि। भोगस्थानानि तु गोपुरप्राकारमण्डपविमानोद्यानपद्मिन्यादीनि। तत्रेश्वरस्य नित्यमुक्तानां च शरीराणि भगवन्नित्येच्छासिद्धानि। मुक्तानां शरीराणि तेषां पित्रादिसृष्टियुगपदनेकशरीरपरिग्रह इत्यादीनि भगवत्सङ्कल्पादेव भवन्ति। भगवतो व्यूहविभवार्चावतारशरीराण्यप्राकृतानि। अर्चावतारेषु प्रतिष्ठानन्तरं प्रसादोन्मुखभगवत्सङ्कल्पाधीनमप्राकृतशरीरमत्राविर्भवति। प्राकृताप्राकृतसंसर्गः कथमिति न शङ्कनीयम्। श्रीरामकृष्णाद्यवतारशरीरवदिति प्रमाणानुसारेण परिहारो द्रष्टव्यः।

अनुवाद—परमात्मा के सत्यसंकल्प के द्वारा नित्यविभूति ईश्वर—नित्य जीव एवं मुक्त जीवों का भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान बन जाती है। ईश्वर के शरीर आदि भोज्य पदार्थ हैं। चन्दन, कुसुम, वस्त्र, भूषण तथा आयुध आदि भोग के साधन हैं। गोपूर, प्राकार, मण्डप, विमान, उद्यान तथा कमलिनी आदि भोग के स्थान हैं। ईश्वर तथा नित्य-मुक्त जीवों का शरीर श्रीभगवान् की नित्य इच्छा से बनते हैं। मुक्त जीवों का शरीर उनके द्वारा अपने अतीतकालिक पितरों आदि की सृष्टि-समकाल में अनेक शरीरों को धारण करना आदि भी भगवान् के सत्यसंकल्प से ही होते हैं। भगवान् के व्यूह, विभव तथा अर्चावतार के जो शरीर होते हैं, वे भी दिव्य हैं। अर्चावतारों में प्रतिष्ठा के पश्चात् प्रसादोन्मुख भगवान् के सत्यसंकल्प से अप्राकृत शरीर आविर्भूत हो जाता है। यहाँ पर यह शंका नहीं करना चाहिए कि प्राकृत वस्तुओं का दिव्य वस्तुओं से सम्बन्ध कैसे संभव है ? क्योंकि जिस प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि के शरीर दिव्य थे, उसी प्रकार अर्चावतारों के भी शरीर दिव्य हो जाते हैं; इस प्रमाण के अनुसार उपर्युक्त शंका का समाधान हो जाता है।

नित्यविभूति का भोग्यत्व

भा० प्र०—नित्यविभूति में ईश्वर, नित्य जीव एवं मुक्त जीवों का निवास है। यह नित्यविभूति परमात्मा के सत्यसंकल्प से उपर्युक्त तीनों का भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान होती है। नित्यमुक्त जीवों के लिए श्रीभगवान् के श्रीविग्रह का दर्शन ही अत्यन्त भोग है। श्रीभगवान् का भी शेषादि नित्य-मुक्त जीवों का शरीर भोग्य है। ईश्वर तथा नित्य-मुक्त जीवों के शरीर तो भगवान् की ईच्छा से ही तद्-तद् प्रकार के हैं। छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में बतलाया गया है कि मुक्त जीव आविर्भूत गुणाष्टक होते हैं। अतएव वे अपने संकल्प मात्र से ही समकाल में अनेक शरीरों को धारण कर लेते हैं तथा वे अपने अतीतकालिक पितृगणों को देखना चाहते हैं तो वे भी अपना शरीर धारण करके उपस्थित हो जाते हैं। मुक्त जीवों द्वारा समकाल में अनेक शरीर धारण करने की शक्ति तथा पितृगणों की सृष्टि करने की शक्ति श्रीभगवान् के सत्यसंकल्प के द्वारा ही होती है। क्योंकि मुक्त जीव जब 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' इस प्रकार से सामाम्नान करता है तो उस सामाम्नान को सुनकर अपने हर्षातिरेक को अभिव्यक्त करते हुए श्रीभगवान् भी सामाम्नान करते हैं—अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः।' अर्थात् मैं अपने भोग्य अत्यन्त दुर्लभ इस मुक्तजीव का उपभोक्ता हूँ और उस आये हुए अपने प्रियतम मुक्तजीव को प्रेमपूर्वक वीक्षण करके श्रीभगवान् अपने सत्यसंकल्प से ही उससे आविर्भूत गुणाष्टक बना देते हैं।

श्रीभगवान् के सभी शरीर दिव्य होते हैं

श्रीभगवान् के व्यूह तथा विभवावतारों में होने वाले जो शरीर होते हैं, वे भी दिव्य होते हैं। व्यूह रूप से भगवान् चार शरीरों को धारण करते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध। श्रीराम, कृष्ण आदि श्रीभगवान् के विभव रूप हैं। भगवान् का पररूप का श्रीविग्रह तो दिव्य है ही। श्रीभगवान् का जो अर्चावतार रूप है, उस रूप में भी श्रीभगवान् का दिव्य विग्रह ही रहता है। यदि कोई कहे कि अर्चावतार में तो श्रीभगवान् की राम, कृष्ण, वेङ्कटेश आदि की मूर्तियाँ होती हैं। ये मूर्तियाँ पाषाण या धातु की बनी होती है। वे धातु और पाषाण प्राकृतिक ही होते हैं। पुनः उनको दिव्य बतलाना कहाँ तक उचित है? तो इसका समाधान यह है कि जिस प्रकार श्रीराम, कृष्ण आदि के शरीर प्राकृतिक ही प्रतीत होते थे, किन्तु वस्तुतः वे शरीर दिव्य ही थे; यह श्रीरामायण आदि के अध्येताओं को पूर्णरूप से ज्ञात है; उसी प्रकार प्रतिष्ठा के पश्चात् उन अर्चावतार शरीरों में भी दिव्यता आ जाती है।

नित्यविभूतेर्दिव्यत्वप्रतिपादनम्

मुक्तानां (शरीरपरिग्रहादिस्तु) शरीरादिपरिग्रहस्तु वसन्तोत्सव वेषपरिग्रहादिवत् स्वामिनो मुखविकासहेतुत्वात्कैङ्कर्यमेव। ईश्वरशरीरस्य षाड्गुण्यप्रकाशकत्वात् षाड्गुण्यमिति व्यवहारः। नित्यनिरवद्यनिरति-

शयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनमार्दवार्जवादयो दिव्य-मङ्गलविग्रहगुणाः। तस्य व्यापकत्वं गीतासु प्रसिद्धम्। मुक्तस्य शरीरं नास्तीति वचनं तु कर्मकृतशरीराभावपरम्। तत्रेन्द्रियादीनां नित्यत्वादत एव कार्यकारणभावाभावात् प्राकृतवन्न तत्त्वान्तरव्यपदेशः। एतेन तत्र शरीरादिकं नास्तीति मतनिरासः। तमसः परस्तादित्युक्त्या प्रकृत्येकदेश-वादनिरासः। अप्राकृतशब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्रयत्वादाकाशव्यावृत्तिः। ज्ञानात्मकत्वप्रतिपादनात् जडमिति मतनिरासः।

अनुवाद—जैसे वसन्तोत्सव में लोग अपना वेष परिग्रह करते हैं, वैसे ही अपने स्वामी श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए मुक्तजीव शरीरों को धारण करते हैं। ईश्वर के शरीर के षाड्गुण्य का प्रकाशन शुद्धसत्त्व करता है, अतएव नित्यविभूति को षाड्-गुण्य भी कहा जाता है। शाश्वतिक दोषरहित एवं सीमातीत औज्वल्य, सौन्दर्य, सौगन्ध्य, सौकुमार्य, लावण्य, यौवन, मार्दव तथा आर्जव आदि श्रीभगवान् के दिव्य-मङ्गलविग्रह के गुण हैं। श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह की व्यापकता गीता आदि में बतलायी गयी है। मुक्तजीवों का शरीर नहीं होता है; इस कथन का अभिप्राय यह है कि उनका कर्मजन्य शरीर नहीं होता। नित्यविभूति की इन्द्रियाँ नित्य होती है, अतएव उनमें कार्यकारणभाव का अभाव होने के कारण प्राकृत इन्द्रियों को उन्हें तत्त्वान्तर नहीं बतलाया गया है। इस प्रतिपादन से नित्यविभूति में शरीर का अभाव प्रतिपादित करने वालों के मत का निरास हो गया। नित्यविभूति को तमोगुण से परे कहा गया है, अतएव नित्यविभूति को प्रकृति का एक अंश मानने वालों के मत का खण्डन हो गया। नित्यविभूति आकाश से भिन्न तत्त्व है, क्योंकि वह दिव्य शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध का आश्रय है। नित्यविभूति को जड़ मानने वालों के मत का खण्डन इसलिए हो गया कि वह ज्ञानात्मक है।

नित्यविभूति की दिव्यता

भा० प्र०—छान्दोग्योपनिषद् में मुक्तजीवों के शरीर-धारणादि का वर्णन है। किन्तु मुक्तजीवों द्वारा शरीरादि का धारण कर्मजन्य नहीं है। श्रीभगवान् की प्रस-न्नता के लिए मुक्तजीव भी तत्-तत् शरीरों को धारण करते हैं। जिस प्रकार लोग वसन्तोत्सव काल में मनोरंजनार्थ तत्-तत् वेषों को धारण करते हैं, उसी प्रकार मुक्त-जीव भी अपनी इच्छा से तत्-तत् शरीरों को धारण करते हैं। श्रीभगवान् ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य वीर्य एवं तेज, इन गुणों के आश्रय हैं। महर्षि पराशर कहते हैं—

'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः ॥' (वि० पु० ६।५।७९)

अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण बल, सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण वीर्य तथा सम्पूर्ण तेज, ये सभी भगवद् शब्द के वाच्य हैं। श्रीभगवान् के शरीर के

इन छः गुणों का प्रकाशन नित्यविभूति करती है, अतएव शुद्धसत्त्व को षाड्गुण्य शब्द से अभिहित किया जाता है। श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह दिव्य गुणों से सम्पन्न हैं।

श्रीभगवान् के कुछ दिव्य गुण

१. **औज्ज्वल्य**—देदीप्यमानता। श्रीभगवान् का दिव्यमङ्गलविग्रह इसी गुण के कारण सदा देदीप्यमान रहता है। श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह के औज्ज्वल्य का वर्णन करते हुए श्रीयामुनाचार्य स्तोत्ररत्न में कहते हैं—

'स्फुरत्किरीटाङ्गदहारकण्ठिकामणीन्द्रकाञ्चीगुणनूपुरादिभिः।
रथाङ्गशङ्खासिगदाधनुर्वरैर्लसत्तुलस्या वनमालयोज्ज्वलम् ॥' (स्तो० र० ३६)

अर्थात् श्रीभगवान् का दिव्यमङ्गलविग्रह चमकते हुए किरीट, वाजूबन्द, हार, कंठा, कौस्तुभमणि, करधनी, नूपुरादि आभूषणों तथा चक्र, शंख, कृपाण (नन्दक), गदा (कौमोदकी), धनुष (शार्ङ्ग) आदि आयुधों तथा तुलसी एवं वनमाला से देदीप्यमान है।

२. **सौन्दर्य**—श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह का सौन्दर्य अत्यन्त प्रख्यात है। श्रीभगवान् के सौन्दर्य का वर्णन करती हुई छान्दोग्य श्रुति कहती है—'आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः' (छा० १।५।६)। अर्थात् श्रीभगवान् का नख से लेकर शिखा-पर्यन्त सम्पूर्ण अङ्ग मनोहर है। उनके नेत्रों का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' (छा० उ० १।५।७)। अर्थात् श्रीभगवान् के कमल के सदृश मनोहर नेत्र हैं। रामानुजाचार्य कप्यास श्रुति के अर्थ का वर्णन करते हुए कहते हैं—'गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलयतेक्षणः।' अर्थात् श्रीभगवान् के गम्भीर जल में उद्भूत पुष्ट नाल पर सूर्य की किरणों के द्वारा विकसित कमल-दल के समान मनोज्ञ एवं विशाल नेत्र है (वेदार्थसंग्रह)। श्रीयामुनाचार्य स्तोत्ररत्न में श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह के सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

'प्रबुद्ध मुग्धाम्बुजचारुलोचनं सविभ्रमभ्रूलतमुज्ज्वलाधरम्।
शुचिस्मितं कोमलगण्डमुन्नसं ललाटपर्यन्तविलम्बितालकम् ॥' (स्तो० र० ३५)

अर्थात् श्रीभगवान् के नेत्र विकसित मनोहर कमल के समान हैं, भौंहें अत्यन्त कमनीय, विद्रूम से भी अधिक देदीप्यमान ओष्ठ हैं। उनका मनोहर मुसकान, कोमल गाल, उठी हुई नाक तथा ललाट-पर्यन्त लटकते हुए घुंघराले, काले कुन्तल हैं।

३. **सौगन्ध्य**—उनके दिव्यमङ्गलविग्रह से सर्वदा सुगन्धि निकलती रहती है।

४. **सौकुमार्य**—श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह की सौकुमार्य भव्य शोभा का वर्णन करते हुए उन्हें अतसीकुसुमसच्छाय कहा गया है।

५. **लावण्य**—लावण्य उस शोभा-विशेष का नाम है, जो सुन्दर से भी सुन्दर वस्तु का गुण अपने दर्शकों को आकृष्ट कर लेता है।

६. **यौवन**—श्रीभगवान् के शरीर में यौवन हमेशा बना रहता है।

७. **मार्दव**—उपर्युक्त सभी गुणों के साथ-साथ श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह में मार्दव अपनी चरमसीमा पर बना रहता है।

८. **आर्जव**—ऋजुता के भाव को आर्जव कहते हैं।

ये सभी गुण श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह में अपनी पूर्ण दिव्यता के साथ सर्वदा रहते हैं। ये सभी गुण श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह में सीमातीत रूप से विराजमान रहते हैं।

श्रीभगवान् के दिव्य रूप की व्यापकता—गीता का दसवां एवं ग्यारहवां अध्याय अन्तर्यामी ब्राह्मण, सुबालोपनिषद् आदि में विस्तार के साथ वर्णित हैं। 'अशरीरं वावसन्तं न प्रियाप्रियेऽस्पृशतः।' इत्यादि श्रुतियों में बतलाया गया है कि मुक्तजीवों का शरीर से संबन्ध छूट जाता है, अतएव वे जागतिक सुख-दुःखों के आस्पद नहीं बनते हैं। शरीर के संबन्ध से युक्त जीव के सुख-दुःख आदि का अपहान नहीं होता। इन सभी कथनों का अभिप्राय यह है कि मुक्तजीवों का प्राकृत शरीर से संबन्ध छूट जाता है। लीलाविभूति को पार करने पर अमानव का स्पर्श होते ही उसका दिव्य शरीर हो जाता है और उस दिव्य शरीर से ही 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' इस श्रुति में प्रोक्त वह ब्राह्मसुखों का अनुभव करते हुए सर्वलोक-संचरण में समर्थ होता है। वैकुण्ठलोक में रहने वाले मुक्तजीवों की इन्द्रियाँ भी नित्य तथा दिव्य होती हैं। अतएव उनको तत्त्वान्तर न बतलाकर पञ्चशक्तिमय कहा गया है। नित्यविभूति को विभिन्न दार्शनिकों ने प्रकृति का एक अंश बतलाकर उसे नित्योद्रिक्तसत्त्वगुणसम्पन्न माना है। उनके अनुसार नित्यविभूति में कभी भी सत्त्वगुण रजोगुण एवं तमोगुण से अभिभूत नहीं होता। अतएव उसे शुद्धसत्त्वसम्पन्न कहा गया है। किन्तु उन विचारकों का उक्त कथन इसलिए अनुचित है कि 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' श्रुति प्रकृति के ऊपर आदित्य के समान वर्णयुक्त दिव्यमङ्गलविग्रह से सम्पन्न भगवान् का प्रतिपादन करती है। इससे शुद्धसत्त्वमय नित्यविभूति के अन्तर्गत भगवद्विग्रह सिद्ध होता है। 'क्षयन्तमस्य रजसः पराके' श्रुति कहती है कि रजोगुणयुक्त प्रकृति से ऊपर नित्यविभूति में श्रीभगवान् निवास करते हैं। 'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्' श्रुति कहती है कि इस जगत् के स्वामी परमात्मा परमाकाश में रहते हैं। 'तदक्षरे परमे व्योमन्' श्रुति कहती है कि परमात्मा अविनाशी परमाकाश में रहता है। यह परमाकाश ही नित्यविभूति है। इन वाक्यों से स्पष्ट है कि नित्यविभूति प्रकृति से ऊपर है, वह प्रकृति का एकदेश नहीं है। नित्यविभूति आकाश से भिन्न इसलिए है कि वह दिव्य रस, रूप, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द का आश्रय है। इस भौतिक आकाश के गुण प्राकृतिक हैं। नित्यविभूति को कुछ लोग जड़ मानते हैं, किन्तु वह जड़ इसलिए नहीं है कि वह ज्ञानमय है। कहा भी गया है—

'तत्रानन्दमया लोका भोगाश्चानन्दलक्षणाः।
आनन्दं नाम ते लोकं परमानन्दलक्षणम्॥

तयोर्नौ परमं व्योम निर्द्वन्द्वं सुखमुत्तमम् ।
षाड्गुण्यप्रसरो नित्यस्वच्छन्दाद् देशतां गतः ॥'

अर्थात् नित्यविभूति में आनन्दमय लोक और आनन्दात्मक भोग हैं। आनन्द नामक वह नित्यविभूति परमानन्दस्वरूप है। हम दोनों (लक्ष्मी एवं नारायण) के लिए परमाकाश नित्यविभूति निर्द्वन्द्व उत्तम सुखस्वरूप है। ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों का प्रसर ही श्रीभगवान् की नित्य स्वेच्छा से देशरूपता को प्राप्त हुआ है। इन वचनों से नित्यविभूति आनन्दस्वरूप सिद्ध होती है। अनुकूल ज्ञान ही आनन्द कहलाता है, अतएव नित्यविभूति ज्ञानमय सिद्ध होती है। फलतः उसे जड़ नहीं कहा जा सकता है। जड़ पदार्थ वह होता है, जो परप्रकाश होता है। ज्ञानात्मक नित्यविभूति स्वप्रकाश है, अतएव वह अजड़ है।

भगवतो दिव्यमङ्गलविग्रहस्य सर्वाश्रयत्वप्रतिपादनम्

भगवतोऽप्राकृतदिव्यमङ्गलविग्रहस्यास्त्रभूषणाध्यायोक्तं स(र्वतत्त्वो)र्वापाश्रयत्वम्। तद्यथा—पुरुषस्य कौस्तुभाकारत्वम्। प्रकृतेः श्रीवत्सरूपत्वम्। महतो गदारूपत्वम्। सात्त्विकाहङ्कारस्य शङ्खरूपत्वम्। तामसाहङ्कारस्य शार्ङ्गरूपत्वम्। ज्ञानस्यासिरूपत्वम्। अज्ञानस्य तदावारकरूपत्वम्। मनसश्चक्रत्वम्। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां शररूपत्वम्। सूक्ष्मस्थूलभूतानां वनमालाकारत्वम्। अत्र—

चेतश्चक्रति चेतनासिरमतिस्तत्संवृतिर्मालिका
भूतानि स्वगुणैरहङ्कृतियुगं शङ्खेन शार्ङ्गायते।
बाणाः खानि दशापि कौस्तुभमणिर्जीवः प्रधानं पुनः
श्रीवत्सं कमलापते ! तव गदामाहुर्महान्तं बुधाः ॥

इति सङ्गृह्योक्तं पद्यमनुसन्धेयम्। सा विभूतिरामोदप्रमोदसम्मोदवैकुण्ठाख्यरूपेण चतुर्विधा। पुनरनन्ता। त्रिपाद्विभूतिपरमपदपरमव्योमपरमाकाशामृतनाकाप्राकृतलोकानन्दलोकवैकुण्ठायोध्यादिशब्दवाच्या च। तस्यां विभूतौ द्वादशावरणोपेतमनेकगोपुरप्राकारैरावृतं वैकुण्ठं नाम नगरम्। तत्रानन्दनामको दिव्यालयः। तदन्तो रत्नमयानेकस्तम्भसहस्त्रैर्विरचिता महामणिमण्डपाख्या सभा। तस्यां सहस्त्रफणामणितेजोविराजितोऽनन्तः। तस्मिन् धर्मादिमयदिव्यसिंहासनम्। तदुपरि चामरहस्ताभिर्विमलादिभिः सेव्यमानमष्टदलात्मकं पद्मम्। तदुपरि प्रकृष्टविज्ञानधामा शेषः। तदुपरि वाचः परं महदद्भुतम्। एवं नित्यविभूतिस्सङ्ग्रहेण निरूपिता।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां नित्यविभूतिनिरूपणं नाम षष्ठोऽवतारः ॥

अनुवाद—अस्त्रभूषणाध्याय में श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलविग्रह को निम्न प्रकार से सबों का आश्रय बतलाया गया है। तथाहि—जीव श्रीभगवान् का कौस्तुभमणि है। प्रकृति ही उनका श्रीवत्सचिह्न है। महत्तत्त्व गदारूप है। सात्त्विकाहङ्कार शंख-स्वरूप है। तामसाहङ्कार शार्ङ्गस्वरूप है। ज्ञान कृपाणस्वरूप है। अज्ञान उस तल-वार का आवरक (कोष) है। मन चक्रस्वरूप है। ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ बाण-स्वरूप हैं। सूक्ष्मभूत (तन्मात्राएँ) एवं स्थूलभूत वनमालास्वरूप हैं। इन सभी अर्थों के संग्राहक निम्न श्लोक का यहाँ अनुसंधान करना चाहिए। वह श्लोक है—

'चेतश्चक्रति चेतनासिरमतिः तत्संवृतिर्मालिका
भूतानि स्वगुणैरहङ्कृतियुगं शङ्खेन शार्ङ्गायिते ॥
बाणाः खानि दृशापि कौस्तुभमणिर्जीवः प्रधानं पुनः।
श्रीवत्सं कमलापते तव ! गदामाहुर्महान्तं बुधाः ॥'

अर्थात्—हे श्रीपते ! श्रीपराशर महर्षि आदि महापुरुषों ने कहा है कि मन ही आपका चक्र है। ज्ञान कृपाण है, अज्ञान उसका म्यान है। अपने गुणों के साथ पञ्च-महाभूत ही आपकी वनमाला है। सात्त्विकाहङ्कार शंख तथा तामसाहङ्कार शाङ्गं है, दश इन्द्रियाँ बाण हैं, जीव कौस्तुभमणि है, प्रकृति श्रीवत्सचिह्न है तथा महान् ही गदा है। नित्यविभूति के चार भेद हैं—आमोद, प्रमोद, सम्मोद एवं वैकुण्ठ। पुनः उसके अनन्त प्रभेद हैं। नित्यविभूति के कई नाम हैं, जैसे—त्रिपाद्विभूति, परमपद, परमव्योम, परमाकाश, अमृतलोक, नाकलोक, आनन्दलोक, वैकुण्ठलोक तथा अयोध्या आदि। नित्यविभूति में बारह आवरणों से युक्त अनेक गोपुर तथा प्राकारों से घिरा हुआ वैकुण्ठ नामक नगर है। उस वैकुण्ठ नगर में आनन्द नामक दिव्य भवन है। उसके भीतर कई सहस्र रत्न के स्तम्भों से निर्मित महामणि-मण्डप नाम की सभा है। उस मण्डप में हजार फणाओं के रत्नों के तेज से सुशोभित अनन्त हैं। उनके ऊपर धर्मादि-युक्त दिव्य सिंहासन है। उसके ऊपर चामरधारिणी विमला आदि के द्वारा सुसेवित आठ दलों वाला कमल है। उसके ऊपर प्रकृष्टविज्ञानाश्रय शेष हैं। उसके ऊपर वाणी के द्वारा कात्स्न्येंन अवर्णनीय श्रीभगवान् हैं। इस प्रकार संक्षेपतः नित्यविभूति का निरूपण किया गया।

श्रीभगवान् द्वारा जगत् का अस्त्रभूषण रूप में धारण

भा० प्र०—विष्णुपुराण के प्रथम अंश के बाइसवें अध्याय में श्रीभगवान् इस सम्पूर्ण जगत् को अस्त्र एवं भूषण रूप से किस प्रकार धारण करते हैं, इस बात को बतलाते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—

'आत्मानमस्य जगतो निर्लेपमगुणामलम्।
बिभर्ति कौस्तुभमणिस्वरूपं भगवान् हरिः ॥
श्रीवत्ससंस्थानधरमनन्तेन समाश्रितम्।
प्रधानं बुद्धिरप्यास्ते गदारूपेण माधवे ॥

भूतादिमिन्द्रियादिञ्च द्विधाऽहङ्कारमीश्वर: ।
बिभर्ति शङ्खरूपेण शार्ङ्गरूपेण च स्थितम् ॥
चलत् स्वरूपमत्यन्तं जवेनान्तरितानिलम् ।
चक्रस्वरूपं च मनो धत्ते विष्णुकरे स्थितम् ॥
पञ्चरूपा तु या माला वैजयन्ती गदाभृत: ।
सा भूतहेतुसङ्घाता भूतमाला च वै द्विज ॥
यानीन्द्रियाण्यशेषाणि बुद्धिकर्मात्मकानि वै ।
शररूपाण्यशेषाणि तानि धत्ते जनार्दन: ॥
बिभर्ति यच्चासिरत्नमच्युतोऽत्यन्तनिर्मलम् ।
विद्यामयं तु तज्ज्ञानमविद्याकोशसंस्थितम् ॥
इत्थं पुमान् प्रधानं च बुद्ध्यहङ्कारमेव च ।
भूतानि च हृषीकेशे मन: सर्वेन्द्रियाणि च ॥
विद्याविद्ये च मैत्रेय ! सर्वमेतत् समाश्रितम् ।
अस्त्रभूषणसंस्थानस्वरूपं रूपवर्जित: ॥
बिभर्ति मायारूपोऽसौ श्रेयसे प्राणिनां हरि: ।
सविकारं प्रधानं च पुमांसमखिलं जगत् ।
बिभर्ति पुण्डरीकाक्ष: तदेवं परमेश्वर: ॥

(विष्णुपुराण १।२२।६८-७६)

अर्थात् इस जगत् के निर्लेप, प्राकृतिक गुणों से रहित तथा निर्दोष आत्मा अर्थात् शुद्ध दिव्यगुणाष्टकसम्पन्न आत्मा को भगवान् श्रीहरि मणिरूप से धारण करते हैं। अर्थात् श्रीभगवान् का कौस्तुभमणि जीवतत्त्वाभिमानी है। अनन्त प्रभु ने प्रकृति को श्रीवत्सरूप से स्थान दिया है। श्रीभगवान् में बुद्धि गदा रूप से स्थित है। भूतों के कारण तामस अहङ्कार तथा इन्द्रियों के कारण सात्त्विक अहङ्कार, इन दोनों को श्रीभगवान् क्रमश: शार्ङ्ग रूप से तथा शंख रूप से धारण करते हैं। अपने वेग से वायु को भी पराजित करने वाले अत्यन्त चञ्चल मन को श्रीविष्णु अपने हाथ में चक्र रूप से धारण करते हैं। श्रीभगवान् की पाँच रूपों वाली वनमाला है, वह पञ्चभूतों तथा पञ्चतन्मात्राओं के संघातस्वरूपा है। भगवान् जनार्दन पाँचों कर्मेन्द्रियों तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अपने बाण रूप से धारण करते हैं। श्रीभगवान् जिस रत्नमय अत्यन्त निर्मल नन्दक नामक कृपाण को धारण करते हैं, वह ज्ञानमय है तथा वह अज्ञान रूपी कोश में स्थित है। हे मैत्रेय ! इस प्रकार पुरुष, प्रधान, बुद्धि, अहङ्कार, सभी भूत, मन, सभी इन्द्रियाँ, ज्ञान तथा अज्ञान श्रीभगवान् हृषीकेश में अवस्थित हैं। प्राकृतिक रूप (शरीर) से रहित श्रीभगवान् विचित्र रूप प्राणियों का कल्याण करने के लिए धारण करते हैं। विष्णुपुराण के इसी अर्थ का अनुवाद आचार्यों ने 'चेतश्प्रकृति' इत्यादि श्लोक में किया है। नित्यविभूति के जो आमोद आदि चार भेद बतलाए गये हैं, वे क्रमश: संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वासुदेव के दिव्य भवन रूप हैं। अर्थात्

आमोद संकर्षण के, प्रमोद प्रद्युम्न के, सम्मोद अनिरुद्ध के तथा वैकुण्ठ श्रीवासुदेव के भवन रूप हैं। ये संकर्षण आदि चारों श्रीभगवान् के व्यूह रूप हैं। इसके पश्चात् नित्यविभूति के भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थान रूप से अनन्त प्रभेद हैं। नित्य-विभूति के कई नाम हैं। जैसे—त्रिपाद्‌विभूति श्रीभगवान् की दो विभूतियाँ है—लीलाविभूति तथा त्रिपाद्‌विभूति। लीलाविभूति में सम्पूर्ण जगत् है और त्रिपाद्-विभूति वैकुण्ठ को कहते हैं। लीलाविभूति की अपेक्षा यह तीन गुना बड़ी है, अतएव इसे त्रिपाद्‌विभूति कहते हैं। श्रुति भी इसका वर्णन करते हुए कहती है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।' अर्थात् श्रीभगवान् के ऐश्वर्य के एक पाद में सम्पूर्ण जगत् है तथा इसका दिव्य तीन हिस्सा वैकुण्ठलोक में है। इसे परमपद इस-लिए कहा जाता है कि यह जीवों के लिए परम प्राप्यस्थान है। अथवा परमपुरुष का धाम होने से भी यह परमपद कहा जाता है। नित्यविभूति को परमव्योम तथा परमाकाश इसलिए कहा जाता है कि यह सभी लोकों से ऊपर तथा परमप्रकाशस्व-रूपा है। वह सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि का कोई भी प्रकाश नहीं होता। गीता में श्रीभगवान् कहते हैं—

'न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।' अर्थात् उस विभूति को सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि आदि प्रकाशित नहीं करते हैं। नित्यविभूति नित्य परमात्मा का लोक होने से अमृतलोक, दिव्यगुणसम्पन्न नित्य-मुक्त जीवों का लोक होने के कारण नाकलोक, दिव्य गुणों तथा दिव्य पञ्चभूतों से सम्पन्न होने के कारण अप्राकृतलोक, आनन्दमय होने के कारण आनन्दलोक तथा जीवों के आविर्भूत गुणाष्टकसम्पन्न होने तथा जीवों की सभी कुण्ठाओं के समाप्त हो जाने के कारण वैकुण्ठलोक तथा अपराजेय होने के कारण अयोध्या शब्द से अभिहित की जाती है। वैकुण्ठ उस नित्य-विभूति का एक नगर है। वह नगर द्वादश आवरणों से युक्त है। उसमें अनेक गोपुर तथा प्राकार हैं। दिव्य वैकुण्ठ नामक नगर में महामणिमण्डप नाम की एक दिव्य सभा है, जो रत्नों से निर्मित हजारों स्तम्भों से समलंकृत है। उसके भीतर अनन्त विरा-जित हैं, जिनकी हजारो फणाओं की मणियाँ सदा चमकती रहती हैं। उसके ऊपर एक दिव्य सिंहासन है, जिसके धर्म आदि चार पाद हैं। उस सिंहासन के ऊपर एक अष्टदलकमल है, जिसके ऊपर विमला आदि चमरग्राहिणियाँ चमर किया करती हैं। उस कमल के ऊपर शेष विराजित हैं। श्रीशेष ज्ञानके आश्रयस्वरूप हैं। उसी के ऊपर श्रीभगवान् विराजित हैं। श्रीभगवान् का अनुभव सदा नवीन-नवीन-सा ही रहता है। अपूर्वरूप से ही उनकी अनुभूति होती है। उनका कात्स्न्र्येन वर्णन सर्वथा असंभव है। श्रीभगवान् के दिव्यरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'सव्यं पादं प्रसार्याश्रितदुरितहरं दक्षिणं कुञ्चयित्वा
जानून्याधाय सव्येतरमितरभुजं नागभोगे निधाय।
पश्चाद् बाहुद्वयेन प्रतिभटशमने धारयन् शङ्खचक्रे,
देवी भूषादिजुष्टो वितरतु जगतां शर्म वैकुण्ठनाथः॥'

अर्थात् आश्रित जीवों के सभी पापों के प्रणाशक बाएँ पैर को फैलाकर तथा दाहिने पैर को मोड़कर श्रीभगवान् अपने घुटने पर रखे हुए हैं। अपनी दाहिनी तथा बाई भुजा को शेषनाग के आभोग पर रखकर श्रीभगवान् अपने पीछे की दोनों भुजाओं में शत्रुओं के विनाशक शंख एवं चक्र को धारण किये हुए हैं। इस प्रकार श्रीदेवी एवं भूदेवी तथा अलङ्कारों से अलङ्कृत वैकुण्ठनाथ श्रीभगवान् संसारियों को कल्याण प्रदान करें।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का नित्य-विभूति नामक छठा अवतार समाप्त हुआ।

अथ सप्तमोऽवतारः

धर्मभूतज्ञानस्य लक्षणादिकम्

अथ क्रमप्राप्तं धर्मभूतज्ञानं निरूप्यते। संवित् स्वयम्प्रकाशत्वे सत्यचेतनद्रव्यत्वे सति सविषयत्वम् (स्वयम्प्रकाशाचेतनद्रव्यत्वे सति विषयित्वम्), विभुत्वे सति प्रभावद्द्रव्यगुणात्मकत्वम्, अर्थप्रकाशो बुद्धिरित्यादि तल्लक्षणम्। तद्धर्मभूतज्ञानम् ईश्वरस्य नित्यानां च सर्वदा नित्यमेव विभु च। बद्धानां तिरोहितम्। मुक्तानां पूर्वं तिरोहितमनन्तरमाविर्भूतम्। ननु ज्ञानस्य नित्यत्वे ज्ञानमुत्पन्नम्, ज्ञानं नष्टमिति व्यवहारः कथमिति चेत्; तदुच्यते। ज्ञानस्य सङ्कोचविकासावस्थामादाय तत्सम्भवात्। दृतेः पादाद्यथोदकं क्षरति। तथा ज्ञानमपीन्द्रियद्वारा निस्सृत्यार्थेन सन्निकृष्यते। अहिकुण्डलवत्सङ्कोचविकासौ।

अनुवाद—नित्यविभूति के निरूपण के पश्चात् अब क्रमप्राप्त धर्मभूतज्ञान का निरूपण किया जाता है। स्वयम्प्रकाश तथा अचेतन द्रव्य होते हुए विषययुक्त होना धर्मभूतज्ञान का लक्षण है। अथवा व्यापक होते हुए प्रभावान् द्रव्य का गुण होना धर्मभूतज्ञान का लक्षण है। अथवा विषयों के प्रकाश को ज्ञान कहते हैं। ईश्वर तथा नित्य जीवों का धर्मभूतज्ञान सदा नित्य तथा व्यापक रहता है। बद्धजीवों का ज्ञान तिरोहित रहता है। मुक्तजीवों का ज्ञान पहले तिरोहित तथा मुक्त होने के पश्चात् आविर्भूत होता है। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान नित्य है तो ज्ञान उत्पन्न हुआ, ज्ञान विनष्ट हुआ इत्यादि व्यवहार कैसे उपपन्न होते हैं? तो इस शंका का समाधान यह है कि ज्ञान के संकोच तथा विकास की अवस्थाओं को ही क्रमशः ज्ञान का नाश तथा ज्ञान की उत्पत्ति कहा जाता है। जिस प्रकार दृति (चमड़े के थैले) से पानी चू जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वार से निकलकर ज्ञान विषयों से संबद्ध होता है। जिस प्रकार सर्प की फणा में संकोच और विकास होते हैं, उसी प्रकार ज्ञान में भी संकोच और विकास होते हैं।

भा० प्र०—विशिष्टाद्वैतदर्शन में ज्ञान को धर्मभूतज्ञान शब्द से अभिहित किया जाता है। उसका कारण है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयम् ज्ञान का आश्रय है। जो ज्ञान आत्मा का धर्म होता है, उसे धर्मभूतज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान के आश्रयभूत आत्मा ज्ञानस्वरूप होने पर भी धर्मी है। ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व गोबलिवर्दन्याय से उपपन्न होता है। इस धर्मभूतज्ञान को ही बुद्धि, संवित्, ज्ञान तथा मति आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है।

धर्मभूतज्ञान के प्रथम लक्षण की व्याख्या—यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने ज्ञान के तीन लक्षण किये हैं। पहला लक्षण है—जो स्वयम् प्रकाश तथा अचेतन होते हुए सविषय हो, उसे धर्मभूतज्ञान कहते हैं। ज्ञान स्वयम्प्रकाश है, क्योंकि वह अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करता है। स्वयम् प्रकाश जीव तथा ईश्वर भी हैं, इन दोनों में धर्मभूतज्ञान की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए उसे अचेतन कहा गया है। जीव तथा ईश्वर स्वयम् प्रकाश होते हुए भी अचेतन नहीं हैं, वे चैतन्याश्रय होने के कारण चेतन हैं। किन्तु विशिष्टाद्वैतियों का अभिमत है कि नित्यविभूति स्वयम् प्रकाश तथा अचेतन दोनों हैं। इस नित्यविभूति में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए धर्मभूतज्ञान को सविषय कहा गया है। ज्ञान अपने से भिन्न सभी ज्ञेय पदार्थों को अपना विषय बनाता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, तथा शब्द, ये सभी विषय ज्ञान के विषय हैं। ज्ञान इन सबों को अपना विषय बनाता है। नित्यविभूति किसी को अपना विषय नहीं बनाती है, अतएव सविषयत्व पद के द्वारा ज्ञान की नित्यविभूति में होने वाली अतिव्याप्ति का वारण होता है।

धर्मभूतज्ञान के दूसरे लक्षण की व्याख्या—विभु होते हुए प्रभावान् द्रव्य का गुण होना ज्ञान का दूसरा लक्षण है। यहाँ पर विभु शब्द से सभी द्रव्यों से संयोग के योग्य होना विवक्षित है। ज्ञान सभी द्रव्यो से संयोग के योग्य है। प्रभावान् द्रव्य का गुण प्रभा है। प्रभा जैसे प्रसरणशील होती है तथा घट-पटादि को अपना विषय बनाती है, उसी तरह ज्ञान भी प्रसरणशील तथा सभी विषयों को अपना विषय बनाता है। प्रभा भी प्रभावान् द्रव्य का गुण है, उस प्रभा में ज्ञान की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए ज्ञान के लक्षण में 'विभुत्वे सति' यह विशेषण दिया गया। प्रभा प्रभावान् द्रव्य का गुण तो है किन्तु वह व्यापक नहीं है। ज्ञान को गुण बतलाकर उसे नित्य ही स्वाश्रयाश्रित बबलाया गया है। गुणस्वरूप पद से ज्ञान को अद्रव्य बतलाना अभिप्रेत नहीं है। काल भी एक द्रव्य है तथा वह नियत रूप से परमात्माश्रित रहता है। उस काल में ज्ञान की अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए ज्ञान के लक्षण में 'ज्ञानभिन्नत्वे सति' यह विशेषण देना चाहिए। ईश्वर विभु काल से भिन्न हैं, ईश्वर में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए ज्ञान को द्रव्यगुणात्मक कहा गया है, क्योंकि ईश्वर किसी द्रव्य का गुण नहीं है।

ज्ञान का अत्यन्त छोटा लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि विषयों के प्रकाशक को ज्ञान कहते हैं।

धर्मभूतज्ञान की स्वाभाविक नित्यता

ईश्वर तथा नित्य-मुक्त जीवों का ज्ञान सदा नित्य तथा व्यापक होता है। अर्थात् इनका ज्ञान सदा सभी विषयों को अपना विषय बनाता है। मुक्त जीवों का ज्ञान मुक्ति से पहले तो तिरोहित रहता है, किन्तु मुक्ति के पश्चात् तो उनका भी ज्ञान सर्वदा सभी विषयो को असंकुचित रूप से अपना विषय बनाने के योग्य हो जाता है।

किन्तु बद्ध जीवों का ज्ञान कर्मों के कारण तिरोहित रहता है, वह सर्वदा सभी विषयों को अपना विषय बनाने के योग्य नहीं रहता है। वह कर्मों के द्वारा संकुचित रहता है।

ज्ञान की उत्पत्ति तथा विनाश का अर्थ—यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान नित्य है तो फिर उसकी उत्पत्ति तथा विनाश का व्यवहार कैसे होता है? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान की संकोच एवं विकास की अवस्था को लेकर ही ज्ञान की उत्पत्ति तथा उसके विनाश का व्यवहार होता है। ज्ञान का संकोच ही उसका विनाश कहलाता है। ज्ञान का विकास ही ज्ञान की उत्पत्ति कहलाती है। जिस प्रकार मशक के छिद्र से पानी निकलता है उसी प्रकार ज्ञान इन्द्रिय रूपी छिद्रों से निकलकर विषयों से संबद्ध होता है। जिस प्रकार एक ही सर्प की फणा में संकोच एवं विकास की अवस्थाएँ देखी जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञान में भी आगन्तुक संकोच एवं विकास होते हैं।

ज्ञान के संकोच तथा विकास रूप अवस्थाओं की सिद्धि—कहने का अभिप्राय यह है कि धर्मभूतज्ञान प्रत्येक पुरुष में रहता है तथा प्रत्येक पुरुष का ज्ञान पृथक्-पृथक् होता है। प्रत्येक पुरुष के ज्ञान का यह स्वभाव है कि वह सभी पदार्थों का ग्रहण करता है। इस प्रकार का ज्ञान का स्वभाव होने पर भी ज्ञान संसारावस्था में संकुचित रहता है, अतएव वह सभी पदार्थों का ग्रहण नहीं कर पाता है। तत्-तत् कर्मों के अनुसार तत्-तत् पुरुषों में ज्ञान की मात्रा अल्प एवं अधिक होती है। ज्ञान का प्रसरण इन्द्रियों के अधीन होता है। इन्द्रियाधीन प्रसार होने के कारण ही ज्ञान तत्-तत् इन्द्रियों के व्यवस्थित विषयों को अपना विषय बनाता है। भिन्न-भिन्न प्रसरणों के अनुसार बुद्धि का भी भिन्न-भिन्न अभिधान होता है। प्रसरण उत्पन्न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति कही जाती है। प्रसरण के विनष्ट होने पर बुद्धि का विनाश कहा जाता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि धर्मभूतज्ञान स्वरूपतः नित्य है, फिर भी इसका प्रसार इन्द्रियसापेक्ष होता है।

आत्मा के ज्ञान की नित्यता की सिद्धि—जीवात्मा की बुद्धि की नित्यता का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है कि—'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' (बृ० उ० ४।३।२३), 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते अविनाशित्वात्' (बृ० उ० ४।३।३०)। अर्थात् ज्ञाता के ज्ञान का नाश नहीं होता, द्रष्टा की दृष्टि का नाश नहीं होता, क्योंकि ज्ञाता एवं द्रष्टा की आत्मा अविनाशी है। इस प्रकार ज्ञाता के अविनाशी होने से उसका धर्मभूतज्ञान भी अविनाशी है। जीवात्मा के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि शौनक कहते हैं—

'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा।।

यथोदपानकरणात् क्रियते न जलाम्बरम् ।
सदेव नीयते व्यक्तिमसतः सम्भवः कुतः ॥
तथा हेयगुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः ।
प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते ॥'

अर्थात् जिस प्रकार मणि के मल का प्रक्षालन करने से मणि में कोई नवीन प्रकाश नहीं उत्पन्न किया जाता, उसी प्रकार आत्मा के दोषों को विनष्ट करने पर आत्मा में कोई नवीन ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, अपितु आत्मा का पूर्वसिद्ध ज्ञान उसी प्रकार प्रकाश में लाया जाता है, जिस प्रकार मल-प्रक्षालन के पश्चात् मणि का पूर्वसिद्ध प्रकाश; प्रकाश में लाया जाता है । जिस प्रकार जलाशय के निर्माण के द्वारा नवीन जल एवं आकाश को उत्पन्न नहीं किया जाता है; अपितु पूर्वसिद्ध ही आकाश और जल प्रकाश में लाए जाते हैं, क्योंकि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है । इसी प्रकार जीवों के दोषों को विनष्ट करने पर उनके ज्ञान इत्यादि सद्गुण प्रकाश में लाए जाते हैं, वे उत्पन्न नहीं किये जाते, क्योंकि वे आत्मा के नित्य-सिद्ध गुण हैं ।

जीवों के ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन महर्षि बादरायण के ये दो सूत्र भी करते हैं—'ज्ञोऽत एव' (शा० मी० २।३।१९); 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात् ' (शा० मी० २।३।३०) । इन सूत्रों का अर्थ है कि श्रुति-प्रमाण से ही सिद्ध होता है कि आत्मा ज्ञानाश्रय है । ज्ञान आत्मा का यावदात्मभावीधर्म है, अर्थात् जब तक आत्मा रहता है, तब तक ज्ञान रहता है । इस प्रकार नित्य आत्मा का ज्ञान नित्य धर्म सिद्ध होता है ।

सर्वं ज्ञानं स्वतः प्रमाणं स्वप्रकाशञ्च

सर्वं ज्ञानं स्वत एव प्रमाणम् । स्वयम्प्रकाशं च । विप्रतिपन्ना संवित् स्वगतव्यवहारं प्रति स्वाधीनकिञ्चित्कारा । स्वसजातीयसम्बन्धानपेक्षव्यवहारहेतुत्वात् । अर्थेन्द्रियदीपादिवत् । न च चक्षुरालोकयोस्सजातीयत्वं, आहङ्कारिकतैजसयोर्भेदात्(द् भेदः) । अनेन ज्ञानस्य क्षणिकत्वम्, त्रिक्षणावस्थायित्वम्, प्रातिभासिकवद्व्यावहारिकस्यापि मिथ्यात्वम्, परतः प्रामाण्यम्, ज्ञानस्यैवात्मत्वमित्यादिपक्षा निरस्ताः । स्तम्भः स्तम्भ इत्यादिधाराबाहिकज्ञानं त्वेकमेव ।

अनु०—सभी ज्ञान स्वतः प्रमाण तथा स्वयम्प्रकाश होते हैं । विवादास्पद ज्ञान अपने सभी व्यवहारों के प्रति स्वाधीन प्रकाश वाला है, क्योंकि वह अपने व्यवहारों के लिए विषय, इन्द्रिय तथा दीपादि के समान अपने किसी सजातीय वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है । चक्षु तथा प्रकाश दोनों सजातीय नहीं है, क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय आहङ्कारिक है तथा प्रकाश तैजस है, अतएव उन दोनों में भेद स्पष्ट है । इस प्रकार ज्ञान को क्षणिक, तीन क्षणों तक स्थायी तथा प्रातिभासिक ज्ञान के ही समान व्याव-

हारिक ज्ञान को मिथ्या मानने वालों का मत तथा ज्ञान का परतः प्रामाण्य एवं ज्ञान को ही आत्मा माननेवालों का पक्ष खण्डित हो गया । 'स्तम्भः स्तम्भः' इत्यादि रूप से धारावाहिक स्थल में होनेवाला ज्ञान एक ही है ।

ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य

भा० प्र०—ज्ञान स्वतः प्रमाण है अथवा परतः प्रमाण ? इस विषय में दार्शनिकों का मतभेद है । नैयायिक विद्वान् ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य नहीं स्वीकारते हैं, वे ज्ञान का परतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं । न्यायकुसुमाञ्जलिकार उदयनाचार्य का कहना है कि ज्ञानों में प्रमात्व नामक गुण प्रामाण्य गुणों द्वारा आता है । प्रत्यक्षादि ज्ञानों में प्रमात्व पैदा करने वाला गुण यथावस्थित वस्तुओं के साथ इन्द्रियसन्निकर्ष आदि हैं । शाब्दबोध के प्रामाण्य के कारण शब्द के स्वतन्त्र वक्ता पुरुष के गुण हैं । शब्द के वक्ता के आप्त होने पर शब्द प्रामाणिक होता है । प्रबन्धों का प्रामाण्य प्रबन्ध-प्रणेता की प्रामाणिकता पर निर्भर करता है । वेदजन्य प्रमा भी उसके वक्ता के गुणों पर ही निर्भर करती है, क्योंकि वह शाब्दी प्रमा है । महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रणेता की प्रामाणिकता के ही समान वेदों की भी प्रामाणिकता उसके प्रणेता ईश्वर पर ही निर्भर करती है । अतएव ज्ञान की प्रामाणिकता अपने से भिन्न उसके वक्ता की प्रामाणिकता पर निर्भर है, अतएव ज्ञान का परतः प्रामाण्य है ।

नैयायिकाभिमत ज्ञान के परतः प्रामाण्य का खण्डन—करते हुए विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि ज्ञान का यह स्वभाव है कि जो वस्तु जैसी है, उसका वह उसी रूप में प्रकाशन कर देता है । अतएत्र जिस प्रकार अग्नि का दाहकत्व स्वाभाविक होता है, उसी प्रकार ज्ञानों का भी प्रामाण्य स्वाभाविक है । भ्रमज्ञानस्थल में भी धर्मी का ज्ञान भ्रमरहित होता है । भ्रमांश में दोष के कारण उसी प्रकार अप्रामाणिकता आती है, जिस प्रकार प्रतिबन्धक मणि के द्वारा अग्नि का दाहकत्व प्रतिबन्धित हो जाता है । अथवा मन्त्रों के द्वारा विष का मारकत्व समाप्त हो जाता है । किञ्च नैयायिक भी मानते हैं कि ईश्वर का नित्यज्ञान भी हेत्वभाव के कारण स्वभावतः प्रामाणिक है । अत एव जिस प्रकार दोषाभाव के कारण ईश्वर का नित्यज्ञान प्रामाणिक होता है, उसी प्रकार दोषाभाव के कारण अपौरुषेय वेदवाक्यजन्य ज्ञान भी स्वभावतः प्रामाणिक है । घट का ज्ञान उत्पन्न होता है, इस ज्ञान के विषय का अस्तित्व होना ही उस ज्ञान की प्रामाणिकता है । अत एव ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य सिद्ध होता हैं ।

ज्ञान के स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि

ज्ञान की स्वतःप्रकाशता का अनुमान करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—विवादास्पद संवित् अपने विषय में होने वाले व्यवहारों के प्रति स्वाधीनप्रकाश है, क्योंकि वह अपने व्यवहार के लिए विषय, इन्द्रिय तथा दीपादि के समान अपने सदृश किसी प्रकाशकान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है । कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे घटज्ञान अपने प्रकाश के लिए अपने सजातीय किसी दूसरे घट के ज्ञान की अपेक्षा

नहीं रखता, अपितु वह अपने से भिन्न विसजातीय आत्मा की अपेक्षा रखता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ अपने व्यवहार के लिए इन्द्रियान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है, अपितु वह अपने से भिन्न आलोक की अपेक्षा रखती है। दीपक अपने प्रकाशार्थ दीपकान्तर की अपेक्षा नहीं रखता, अपितु वह चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। अपितु इन सबों को अपने से भिन्न आत्मा आदि की अपेक्षा होती है। यदि यह कहें कि चक्षु-रिन्द्रिय को अपने व्यवहार के लिए अपने सजातीय प्रकाश की आवश्यकता होती है तो यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय तथा आलोक दोनों सजातीय नहीं, अपितु विसजातीय हैं। चक्षुरिन्द्रिय सात्त्विकाहङ्कारोपादानक है तथा आलोक तैजस है। तेज तो चक्षुरिन्द्रिय का आप्यायक मात्र है। अत एव वे दोनों परस्पर विसजातीय हैं।

नैयायिक, वैशेषिक तथा भाट्ट-मीमांसक आदि ज्ञान को परप्रकाश मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान स्वयम् प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होते समय में स्वयम् प्रकाशित होते हुए किसी को भी अनुभूत नहीं होता है, किन्तु ज्ञान उत्पन्न होने के बाद दूसरे ज्ञान से प्रकाशित होता है। उस दूसरे ज्ञान के विषय में नैयायिक एवं वैशेषिक मानते हैं कि उत्पन्न होने के पश्चात् ज्ञान का मानसप्रत्यक्ष से पता चलता है। प्रथम क्षण में 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है। उस समय वह ज्ञान स्वयम् प्रकाशित नहीं होता है, अपितु द्वितीय क्षण में 'मैं घट को जानता हूँ' इस मानसप्रत्यक्ष के द्वारा पूर्वक्षणोत्पन्न घटज्ञान प्रकाशित होता है। ज्ञान के ही समान आत्मा के गुण सुख-दुःख इत्यादि का भी ज्ञान मानसप्रत्यक्ष से ही होता है।

ज्ञान के मानसप्रत्यक्ष का खण्डन—नैयायिकाभिमत ज्ञान के मानसप्रत्यक्षत्व का प्रत्याख्यान करते हुए श्रीपराशरभट्ट कहते हैं—

> 'योग्यानवग्रहात् स्वेन सम्भवादनवस्थिते।
> इति बाधकहेतुभ्यः साधनद्वितयस्य च॥
> असिद्धिव्यभिचाराभ्यां वैकल्यात् साध्यसाधने।
> इत्यसाधनबाधाभ्यां न धीर्मानसगोचरः॥'

अर्थात् मानसप्रत्यक्ष यदि ज्ञान का ग्राहक होता तो वह अनुभूत होता, परन्तु मानसप्रत्यक्ष अनुभूत नहीं होता है। इस योग्यानुपलब्धि से सिद्ध होता है कि मानस प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्राहक नहीं है। ज्ञान के प्रकाश के लिए मानसप्रत्यक्ष की कल्पना करना उचित भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान स्वयम् ही अपने को प्रकाशित कर सकता है, तदर्थ मानसप्रत्यक्ष की आवश्यकता नहीं है। किञ्च ज्ञान के ग्राहक रूप से मानस-प्रत्यक्ष की कल्पना करने पर अनवस्था दोष भी होगा। तथाहि—प्रथम घटादिज्ञान मानसप्रत्यक्ष से गृहीत होगा, किन्तु उस मानसप्रत्यक्ष का भी ज्ञान होने से उसका भी ग्राहक कोई मानसप्रत्यक्ष होगा तथा उस ग्राहक-मानसप्रत्यक्ष का भी ग्राहक मानस-प्रत्यक्ष की कल्पना नैयायिकों को करनी होगी। इस प्रकार अनन्तापेक्षकत्व रूप

अनवस्था दोष होगा। किञ्च ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए नैयायिकों द्वारा जो हेतु दिये जाते हैं, वे असिद्धि एवं व्यभिचार दोष से ग्रस्त हैं, अतएव उनके द्वारा ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष सिद्ध नहीं किया जा सकता है। नैयायिक ज्ञान को मानसप्रत्यक्ष सिद्ध करने के लिए इन दो हेतुओं को उपन्यस्त करते हैं—(१) ज्ञान क्षणिक होते हुए आत्मा का विशेष गुण है। (२) ज्ञान योग्य होते हुए आत्मा का विशेष गुण है। किन्तु ये दोनों हेतु असिद्ध एवं अनैकान्तिक हैं। क्योंकि ऊपर हम कह चुके हैं कि ज्ञान नित्य है, क्षणिक नहीं। वह मानसप्रत्यक्ष के योग्य भी विषय नहीं है। अतएव ज्ञान में क्षणिकत्व एवं योग्यत्व विशेषण असिद्ध हैं तथा प्रायश्चित्तानधिष्ठान होने के कारण व्यभिचार भी है।

ज्ञान के प्राकट्यानुमेयवाद का खण्डन—भाट्ट-मीमांसक ज्ञान को स्वयम् प्रकाश न मानकर उसे प्राकट्यानुमेय मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान स्वयम् प्रकाश नहीं है, अपितु ज्ञान से विषय में उत्पन्न प्रकाश रूपी धर्म को देखकर ज्ञान का अनुमान होता है। ज्ञान से जिस विषय में धर्म उत्पन्न होता है, उसे प्रकाश, प्राकट्य तथा ज्ञातता आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है। इस प्राकट्य के द्वारा उसके कारणभूत ज्ञान का उसी प्रकार अनुमान किया जाता है, जिस प्रकार होने वाले सुखदुःखादि को देखकर उनके कारणभूत पुण्य-पाप आदि का अनुमान किया जाता है।

भाट्ट-मीमांसकों के इस मत की समालोचना करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि यदि ज्ञान से विषय में कोई धर्म उत्पन्न होता तो उसकी उपलब्धि अवश्य होती, चूँकि नहीं होती है, अतएव पता चलता है कि ज्ञान से विषय में कोई भी धर्म उत्पन्न नहीं होता है, अपितु ज्ञान ही घटादि विषयों का प्रकाश रूप है। ज्ञान घटादि-विषयक होने से घटादि का प्रकाश रूप माना जाता है। ज्ञान से घटादि में प्रकाश धर्म की उत्पत्ति मानने में गौरवदोष है। घटादि को प्रकाशित करने वाला ज्ञान स्वपरनिर्वाहक न्याय से अपने को भी प्रकाशित करते हुए उत्पन्न होता है। ऐसा कभी भी किसी को अनुभव नहीं होता है कि घटादि का ज्ञान होता हो और घटादि-विषयक ज्ञान का प्रकाश न होता हो। यदि ऐसा होता तो ऐसा संशय अवश्य होता कि—'यह तो घट ही है' परन्तु इसके विषय में हमको ज्ञान है या नहीं, इसका पता हमको नहीं है; किन्तु इस प्रकार का संशय किसी को भी नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि घटादि विषयों को प्रकाशित करने वाला ज्ञान स्वयम् प्रकाशित होता है।

विशिष्टाद्वैती विद्वान् यह मानते हैं कि प्रत्येक मनुष्य को जागरण एवं स्वप्नदशा में प्रतिक्षण ज्ञान उत्पन्न एवं नष्ट होते हैं। 'मैं जानता हूँ' इस अबाधित प्रतीति के अनुसार ज्ञान का आश्रय अहमर्थ है। जिस अहमर्थ में जो ज्ञान उत्पन्न होकर विषयों को प्रकाशित करता है, वह ज्ञान विषय-प्रकाशन काल में उस अहमर्थ के प्रति स्वयम् प्रकाशित होता रहता है।

ज्ञान विषयों को प्रकाशित करते समय दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न रखकर अपने आश्रय के प्रति स्वयम् प्रकाशित होता रहता है। अतएव ज्ञान स्वयम्प्रकाश है।

बौद्ध ज्ञान को क्षणिक मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान प्रत्येक क्षण में नवीन-नवीन उत्पन्न होता है। नैयायिक ज्ञान को अपेक्षाकृत बुद्धि का विषय होने के कारण तीन क्षण-पर्यन्त स्थायी मानते हैं। वे कहते हैं कि ज्ञान एक क्षण में उत्पन्न होता है, दूसरे क्षण में वह बना रहता है तथा तीसरे क्षण में वह विनष्ट हो जाता है। अद्वैती विद्वान् ज्ञान के तीन भेद मानते हैं—प्रातिभासिक, व्यावहारिक तथा पारमार्थिक। अद्वैती विद्वानों के अनुसार शुक्ति, रजत आदि स्थल में होने वाला ज्ञान प्रातिभासिक है। घटादि-विषयक ज्ञान व्यावहारिक हैं। ब्रह्मज्ञान पारमार्थिक है। अद्वैती विद्वान् प्रातिभासिक ज्ञान के ही समान व्यावहारिक ज्ञान को भी मिथ्या मानते हैं। क्योंकि ये दोनों ब्रह्म-व्यतिरिक्त वस्तु-विषयक हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक तथा भाट्ट-मीमांसक ज्ञान का परतः प्रामाण्य स्वीकार करते हैं, इस बात की चर्चा मैं ऊपर कर चुका हूँ। बौद्ध तथा अद्वैती विद्वान् ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। ये सभी मान्यताएँ उपर्युक्त प्रतिपादन से इसलिए निरस्त हो गईं कि मैं ज्ञान को नित्य, स्वतःप्रमाण, स्वयम्प्रकाश तथा आत्मा के धर्म रूप से प्रतिपादन कर चुका हूँ, इस बात को यतीन्द्रमतदीपिकाकार मूल के 'अनेन' से 'निरस्ताः' पर्यन्त वाक्य के द्वारा प्रतिपादित करते हैं।

धारावाहिक बुद्धिस्थल में ज्ञान की एकता का प्रतिपादन

किसी एक पदार्थ के विषय में धारा रूप से जो ज्ञान होता रहता है, उसे धारा-वाहिक ज्ञान कहते हैं। उदाहरणार्थ—स्तम्भ के विषय में, स्तम्भ, स्तम्भ, स्तम्भ इस प्रकार धारा रूप से होने वाला ज्ञान धारावाहिक ज्ञान कहलाता है। इस धारा-वाहिक ज्ञान के विषय में प्रश्न उठता है कि बिना किसी अन्तराल के लगातार प्रसृत होने वाला दीर्घ एक सूर्य-किरण की तरह एक ही ज्ञान धारा रूप से लगातार बना रहता है, अथवा तेल तथा बत्ती आदि कारणों के प्रतिक्षण प्राप्त होते रहने से प्रतिक्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होने वाले दीपसन्तान ही तरह प्रतिक्षण उत्पन्न एवं नष्ट होने वाला ज्ञान सन्तान ही धारावाहिक विज्ञान है? विशिष्टाद्वैती विद्वान् इनमें-से प्रथम पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। धारावाहिक बुद्धिस्थल में ज्ञान की एकता का प्रति-पादन करते हुए प्रज्ञा-परिमाण नामक ग्रन्थ में आचार्य वरदनारायण कहते हैं—

धारावाहिकधीपङ्क्तिः स्वकालीनार्थभासिका।
मेघातिरेकसद्भावाद् नैरपेक्ष्यादपि प्रमा॥
स्तम्भः स्तम्भः स्तम्भ इति धीर्धारावाहिका मता।
धारावाहिकविज्ञानमेकं ज्ञानं मतं हि नः॥
प्रतिबन्धांशमोक्षाद्यैर्नित्यं ज्ञानं हि जायते।
चिरमप्रतिबन्धेन चिरं तिष्ठति भासकम्॥

चिरस्थितार्थधीरेव न धारावाहिका तु सा।
न हीश्वरादिविज्ञानमागमादिकमीष्यते ॥'

अर्थात् कतिपय वादी यह मानते हैं कि धारा रूप से होने वाले ज्ञानों में प्रथम ज्ञान को छोड़कर आगे होने वाले सभी ज्ञान प्रथम ज्ञान से गृहीत अर्थ के ग्राहक होने से स्मरण रूप हैं, किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि धारावाहिक ज्ञान-पंक्ति के होने वाला प्रत्येक ज्ञान अनुभूति है, प्रमा है, स्मरण नहीं है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान 'यह घट है' 'यह घट है' इस प्रकार से एक घट को ग्रहण करते हैं। यह शब्द का अर्थ है वर्तमान काल एवं वर्तमान देश में होने वाला। अत एव यह ज्ञान वर्तमान क्षण एवं देश में उत्पन्न होने वाला है। प्रत्येक धारावाहिक ज्ञान स्वोत्पत्तिक्षण में विद्यमान रूप से विषयों का ग्रहण करता है। प्रत्येक ज्ञान का उत्पत्तिक्षण उसी ज्ञान से गृहीत होता है, पूर्वज्ञानों से नहीं। प्रत्येक ज्ञान पूर्व-पूर्व ज्ञानों द्वारा अगृहीत अपने-अपने उत्पत्तिक्षण को विशेष रूप से लेकर ही 'इस क्षण में घट है' इत्यादि रूप से घटादि अर्थ का ग्राहक होने से अज्ञातार्थ का ग्राहक होता है, अतएव वह प्रमा है, स्मरण नहीं। किञ्च जिस प्रकार स्मृतिज्ञान अपने मूलभूत पूर्वकालिक प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा रखते हैं, उस तरह से धारावाहिक ज्ञान अपने लिए अपने पूर्व-पूर्व ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं रखते हैं। अतएव धारावाहिक ज्ञान में द्वितीयादि ज्ञान स्मरण नहीं हैं, यह सिद्ध होता है।

कुछ वादी एक वस्तु के विषय में धारा रूप से निरन्तर होने वाले ज्ञानों के सन्तान को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। जैसे—यह स्तम्भ है, यह स्तम्भ है, इस प्रकार से होने वाले ज्ञान का सन्तान धारावाहिक ज्ञान है; किन्तु हमारा मत है कि धारावाहिक ज्ञान एक ज्ञान है, वह धारा रूप से होने वाले अनेक ज्ञानों का सन्तान नहीं है, किन्तु एक ही ज्ञान व्यक्ति में उतनी देर तक बना रहता है।

सिद्धान्त में माना जाता है कि आत्मा का ज्ञान नित्य है, वह कर्म से जब संकुचित हो जाता है तो विषयों का ग्रहण नहीं करता है। इन्द्रियादि से जब वह कर्म रूपी प्रतिबन्ध छूट जाता है तो वह विकसित होकर विषयों का ग्रहण करता है। ज्ञान के विकास को दूर करने में ही इन्द्रियों का उपयोग है, ज्ञान को उत्पन्न करने में इन्द्रियों का उपयोग नहीं है। अतः विषयेन्द्रियसंयोग से ज्ञान के विकास का प्रतिबन्ध दूर होने पर विकसित ज्ञान विषयों के समीप पहुँचकर तब तक विषयों का ग्रहण करता रहता है, जब तक कि इन्द्रियार्थसंयोग बना रहता है। धारावाहिक ज्ञानस्थल में प्रतिक्षण ज्ञान उत्पन्न होता हो, ऐसी बात नहीं है। जो ज्ञान विकसित होकर अनेक क्षणों तक विषय का ग्रहण करता रहता है, उसे ही धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। वस्तुतः वह प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होने वाले ज्ञानों का सन्तान वहाँ नहीं होता है।

ईश्वर का ज्ञान नित्य है, क्योंकि वह अपनी उत्पत्ति के लिए आगमादि की अपेक्षा नहीं रखता है। शास्त्र भी ईश्वर के ज्ञान को नित्य बतलाता है, अतएव ईश्वर के ज्ञान को अनित्य मानने वालों का मत शास्त्रविरुद्ध है। जिस प्रकार श्रुति ईश्वर के ज्ञान को नित्य बतलाती है, उसी तरह वह जीवों के भी ज्ञान की नित्यता बतलाती है। यह नित्यज्ञान कर्मों से प्रतिबन्धित होने के कारण विकसित नहीं होता है। अतएव वह विषयों का ग्रहण नहीं करता है। उस प्रतिबन्ध के इन्द्रियादि से हट जाने पर विकसित होकर तव तक विषय का ग्रहण करता रहता है, जब तक इन्द्रियार्थ-संयोग बना रहता है। अतएव धारावाहिक ज्ञान एक प्रमा तथा अनुभूति रूप है, वह अनेक तथा स्मरण रूप नहीं है। इसी बात का समर्थन करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—'स्तम्भ स्तम्भः इत्यादि धारावाहिकज्ञानं त्वेकमेव।' अर्थात् धारावाहिक बुद्धिस्थल में 'यह स्तम्भ है, 'यह स्तम्भ है' इत्यादि रूप से होने वाला ज्ञान एक ही रहता है।

ज्ञानस्य नित्यत्वेऽपि जागरादिदशानामुपपादनम्

ननु, आगमबलात् ज्ञानस्य नित्यत्वाङ्गीकारे कथं जागरसुषुप्त्यादिभेदसिद्धिरिति चेन्न। यथा दाहकस्य वह्नेर्दाह्यसन्निधौ मण्यादिप्रतिबन्धकाद्दाहाभावः, तद्वत् ज्ञानतिरोधायकतमोविशेषसन्निधानासन्निधानाभ्यां स्वापादिसिद्धिः। पुंस्त्वादिवच्च। पुंस्त्वादिकं तु बाल्ये तिरोहितं यौवने आविर्भवति। यो यदाश्रितस्वभावः, स तस्य गुण इति गुणलक्षणलक्षितत्वाद् ज्ञानं गुणः; विशेषणादिवत्।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि शास्त्रों के अनुसार जीवों का ज्ञान यदि नित्य है तो फिर उनके जागरण, सुषुप्ति आदि अवस्थाओं की सिद्धि कैसे हो सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार इन्धन के रहने पर भी प्रतिबन्धक मणि के रहने पर अग्नि जलाने का कार्य नहीं करता है, उसी प्रकार ज्ञान को ढँक देने वाले तमस्-विशेष के सन्निधान तथा असन्निधान के द्वारा पुंस्त्व आदि के समान स्वापादि दशाओं की सिद्धि होती है। पुरुषादि के शरीर में होने वाले पुंस्त्वादि बालकाल में छिपे रहते हैं, किन्तु वे युवावस्था में आविर्भूत हो जाते हैं। जो स्वभावतः जिसके अधीन होता है, वह विशेषण आदि के समान उसका गुण होता है। इस गुण के लक्षण से सम्पन्न होने के कारण ज्ञान आत्मा का गुण है।

ज्ञान के नित्य होने पर भी जागरादि अवस्थाओं का उपपादन

भा० प्र०—'न विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्' इस बृहदारण्यक श्रुति के अनुसार सिद्ध होता है कि अविनाशी आत्मा का अपृथक्सिद्ध धर्मज्ञान कभी विनष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह नित्य आत्मा का यावदात्मभावी गुण है। जब तक आत्मा रहती है, तब तक उसका गुण धर्मभूत ज्ञान बना रहता है। अतएव आत्मा का ज्ञान नित्य है। इस पर यह शंका उठाई जाती है कि ज्ञान का

स्वभाव है कि वह रहते समय में अपने विषयों का प्रकाशन अपने आश्रयभूत आत्मा के लिए किया करता है। यदि आत्मा का ज्ञान नित्य है तो फिर वह सर्वदा इन्द्रियों के माध्यम से निकलकर विषयों का प्रकाशन किया करेगा। जिस समय ज्ञान अपने विषयों का प्रकाशन अपनी आश्रयभूत आत्मा के लिए किया करता है, वही जागर दशा कहलाती है। यदि नित्य आत्मा का गुण नित्य ज्ञान अपने आश्रयभूत आत्मा का नित्य ही प्रकाशन किया करता तो फिर आत्मा की सदा जागर दशा ही बनी रहती, कभी स्वापादि दशा होती ही नहीं, किन्तु देखा जाता है कि आत्मा की स्वापादि दशाएँ होती है, अतएव पता चलता है कि आत्मा का ज्ञान नित्य नहीं है।

पूर्वपक्षी की इस शंका का समाधान यह है कि ज्ञान-विकास का कारण सत्त्वगुण है और उसका प्रतिबन्धक तमोगुण है। सत्त्वगुण के बढने पर ज्ञान का विकास होता है, इसे ही जागरावस्था कहते हैं। तमोगुण के बढने पर निद्रा होती है। इस दशा में ज्ञान बिल्कुल प्रतिबद्ध हो जाता है। जिस प्रकार प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणि के रहने पर दाहक अग्नि नहीं जलाती है, किन्तु प्रतिबन्धक मणि के हट जाने पर अग्नि जलाने लग जाती है, उसी प्रकार प्रतिबन्धक तमोगुण के बढ़ जाने पर ज्ञान विषयों का प्रकाश नहीं करता है, यही आत्मा की स्वापादि दशा कहलाती है। जिस समय प्रतिबन्धक तमोगुण हट जाता है, उस समय ज्ञान का विकास हो जाता है। वह विषयों का प्रकाश अपने आश्रय आत्मा के लिए करने लग जाता है। ज्ञान के विकास के प्रतिबन्धक तमोगुण के सद्भाव को लेकर आत्मा की स्वापादि दशा का अभिधान होता है। ज्ञान के विकास के प्रतिबन्धक तमोगुण के अभाव के काल को ही आत्मा की जागरदशा अभिहित की जाती है। इस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए महर्षि वादरायण ब्रह्मसूत्र में कहते हैं—'पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' (शा० मी० २।३।३१)। अर्थात् सुषुप्तिदशा में विद्यमान अनभिव्यक्त ज्ञान की जागरादि दशा में अभिव्यक्ति हो सकती है। जिस प्रकार बाल्यावस्था में अनभिव्यक्त पुंस्त्व की यौवन दशा में अभिव्यक्ति होती है। ज्ञान आत्मा का गुण है, क्योंकि वह आत्माश्रित है। जो जिसके आश्रित होता हैं, वह उसका गुण होता है। जैसे विशेषण विशेष्य के आश्रित रहता है, अतएव वह विशेष्य का गुण कहलाता है।

ज्ञानस्य द्रव्यत्वसमर्थनम्

यतस्सङ्कोचविकासावस्थावत् अतो द्रव्यमपि भवति। आत्मगुणभूतस्य ज्ञानस्य द्रव्यत्वं कथमिति न शङ्कनीयम्। प्रभावदेकस्यैव द्रव्यत्वगुणत्वयोर्विरोधाभावात्। अवस्थाश्रयो द्रव्यमिति हि द्रव्यलक्षणम्। स्वाश्रयादन्यत्र वर्तमानत्वमपि प्रभावदुपपद्यते। प्रयोगश्च, गुणभूता बुद्धिर्द्रव्यम्, प्रसरणादिमत्त्वात्। प्रभावत्। ज्ञानं द्रव्यम्, संयोगादृष्टान्यत्वे सति भावनाकारणत्वात्, आत्मवदिति। मुक्तज्ञानस्य युगपदनन्तदेशसंयोगो नयनसूर्यादितेजोवत् सम्भवति।

अनुवाद—चूंकि ज्ञान में संकोच एवं विकास की अवस्थाएँ होती हैं, अतएव ज्ञान द्रव्य भी है। यहाँ यह शंका नहीं करना चाहिए कि आत्मा का गुणभूत ज्ञान द्रव्य कैसे हो सकता है? क्योंकि जिस प्रकार एक ही प्रभा प्रभावान् द्रव्य का गुण तथा तेजोद्रव्य दोनों है, उसी प्रकार एक ही ज्ञान आत्मा का गुण तथा द्रव्य दोनों है। जो अवस्थाओं का आश्रय होता है, वह द्रव्य कहलाता है, यही द्रव्य का लक्षण है। आत्मा का गुण ज्ञान अपने आश्रय आत्मा से अन्यत्र भी उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार प्रभा अपने आश्रय प्रभावान् द्रव्य से अन्यत्र देश में भी पायी जाती है। यहाँ पर यह अनुमान अभिप्रेत है कि आत्मा का गुणभूत बुद्धि (ज्ञान) द्रव्य है, क्योंकि वह आत्मा के समान संयोग तथा अदृष्ट से भिन्न होकर भी भावना का कारण है। जिस प्रकार नेत्र तथा सूर्य के तेज का समकाल में ही अनन्त देश से सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार मुक्त जीव के ज्ञान का संबन्ध समकाल में ही अनन्त देश से होता है।

ज्ञान के द्रव्यत्व का समर्थन

भा० प्र०—ज्ञान आत्मा का गुण होते हुए द्रव्य भी है, क्योंकि उसमें संकोच एवं विकास की क्रिया रूप अवस्थाएँ होती हैं। जो-जो अवस्थाओं का आश्रय होता है वह-वह द्रव्य होता है। जैसे—पिण्ड, घट, कपाल, चूर्ण आदि अवस्थाओं का आश्रय मृत्तिका द्रव्य है। ज्ञान में भी संकोच एवं विकास की अवस्थाएँ होती है, अतएव यह द्रव्य है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि एक ही ज्ञान गुण और द्रव्य दोनों कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर यह है कि गुण दो तरह के होते हैं—(१) द्रव्यात्मक गुण तथा (२) केवल गुण। ज्ञान तथा प्रभा आदि द्रव्यात्मक गुण हैं। सत्त्व, रजस्, तमस आदि केवल गुण हैं। जो द्रव्यात्मक गुण है, उनमें गुण शब्द का गौण प्रयोग होता है तथा जो केवल गुण होते हैं, उनमें गुणशब्द का मुख्याभिधान होता है। ज्ञान द्रव्यात्मक गुण है। अतएव जिस प्रकार द्रव्यात्मक गुण प्रभा अपने प्रभावान् द्रव्य दीपादि का गुण होते हुए द्रव्य भी स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार आत्मा के गुणभूत ज्ञान को भी संकोच-विकासादि सम्पन्न होने के कारण द्रव्य मान लेने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। द्रव्य का इतना ही लक्षण है कि वह अवस्थाओं का आश्रय है। द्रव्य होने के लिए गुण न होना कोई आवश्यक नहीं है। किसी गुण में भी यदि द्रव्य का लक्षण पाया जाय तो उसे द्रव्य-कोटि में स्वीकारना ही होगा। ज्ञान में भी द्रव्य का लक्षण अवस्थाश्रयत्व है, अतएव उसे द्रव्य मानने में कोई भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि ज्ञान आत्मा का गुण है तो उसे अपने आश्रय द्रव्य को छोड़कर उसी तरह से अन्यत्र नहीं रहना चाहिए? जैसे—गन्ध पृथिवी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहता, शब्द आकाश में ही अवस्थित रहता है, किन्तु ज्ञान का तो तत्-तत् विषयों से संबन्ध होता है, यह कैसे संभव है? इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रभा अपने आश्रय प्रभावान् द्रव्य से भिन्न घट-पट आदि प्रदेशों में भी जाकर उनका प्रकाशन करती है, जब कि वह अपने प्रभावद द्रव्य का गुण है; उसी प्रकार

आत्मा का ज्ञान गुण भी रूप, रसादि का प्रकाश किया करता है, इसमें कोई भी विरोध नहीं है। ज्ञान के द्रव्य की सिद्धि के लिए यतीन्द्रमतदीपिकाकार निम्न दो अनुमानों को उपस्थित करते हैं—(१) आत्मा का गुणभूत बुद्धि द्रव्य है, क्योंकि वह प्रसरण आदि क्रियाओं से सम्पन्न है। जो-जो प्रसरणादि क्रियाओं से सम्पन्न होते हैं, वे-वे द्रव्य होते हैं; जैसे प्रभाद्रव्य। (२) ज्ञान (बुद्धि) द्रव्य है, क्योंकि वह संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न है, साथ ही भावनाख्य संस्कार का कारण भी है। जिस प्रकार संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न होने वाली आत्मा भावनाख्य संस्कार का कारण होते हुए भी द्रव्य है, उसी प्रकार बुद्धि भी संयोग एवं अदृष्ट से भिन्न तथा भावनाख्य संस्कार का कारणभूत बुद्धि भी द्रव्य है।

ज्ञानस्य विविधानि नामानि रूपाणि च

ज्ञानम्, मतिः प्रज्ञा संविद् धिषणा धीर्मनीषा शेमुषी मेधा बुद्धिरित्येवमादयश्शब्दा ज्ञानपर्यायाः। बुद्धिरेवोपाधिभेदात्सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नरूपा। सुखादे(स्वजनकतया)र्जनकतयाऽभ्युपगतज्ञानातिरेके प्रमाणाभावात्। इच्छामि द्वेष्मीति व्यवहारस्य स्मरामीत्यादिवत् ज्ञानविशेषेणोपपत्तेः।

अनुवाद—ज्ञान, मति, प्रज्ञा, संवित्, धीषणा, धी, मनीषा, शेमुषी, मेधा तथा बुद्धि इत्यादि शब्द ज्ञान के ही वाचक हैं। उपाधियों के भेद के कारण ज्ञान ही सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि रूपों वाला हो जाता है। सुखादि के जनक रूप से स्वीकृत ज्ञान से भिन्न इनके होने में कोई भी प्रमाण नहीं है। किञ्च जिस प्रकार 'मैं स्मरण करता हूँ' इत्यादि अनुभवों में स्मरण ज्ञान विशेष सिद्ध होता है, उसी प्रकार 'मैं इच्छा करता हूँ' 'मैं द्वेष करता हूँ' इत्यादि अनुभवों में इच्छा और द्वेष एक प्रकार के ज्ञान-विशेष सिद्ध होते हैं।

इच्छा आदि ज्ञान के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं

भा० प्र०—यहाँ पर यतीन्द्रमतदीपिकाकार ज्ञान के कई पर्यायवाची शब्दों को बतलाते हैं। वे पर्यायवाची शब्द मति, प्रज्ञा, संवित् इत्यादि हैं। इसके पश्चात् वे बतलाते हैं कि इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख इत्यादि भी ज्ञान के भिन्न-भिन्न रूप हैं। उपाधि की भिन्नता के कारण ज्ञान ही सुख, दुःख आदि शब्दों से अभिहित किया जाने लगता है। तथाहि—सुखदायक अनुकूल विषयों के ज्ञान ही अनुकूल रूप से प्रतीत होने के कारण सुख कहलाता है। सुखानुभव काल में इन्द्रियाँ सुस्थित रहती हैं। 'सुस्थितानि खानि' यह सुख शब्द का विग्रह है। प्रतिकूल विषयों के ज्ञान को दुःख कहते हैं। इस काल में इन्द्रियों में प्रतिकूलता की अनुभूति होती है। 'दुःस्थितानि खानि' दुःख शब्द का विग्रह है। अपेक्षात्मक ज्ञान को इच्छा कहते हैं। अनिष्टात्मक ज्ञान को द्वेष कहते हैं। कार्य के करने के लिए निश्चय करने को अध्यव-

साय कहते हैं। ये सभी इच्छा, द्वेष इत्यादि ज्ञान के ही विततिविशेष हैं। ज्ञान ही सुखादि रूप अनुकूल-प्रतिकूलादि प्रतीतियों का जनक है। ज्ञान-व्यतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ नहीं है, जो सुखादि का जनक हो। इसलिए जिन स्थावरादि जीवों में ज्ञान की अल्पता होती है, वे सुखादि का अनुभव अत्यल्पमात्रा में करते हैं। जिस प्रकार 'मैं स्मरण करता हूँ' इस प्रतीति का आधार अतीत देशकाल में अनुभूत विषय का ज्ञान-विशेष है, उसी प्रकार 'मैं इच्छा करता हूँ' 'मैं द्वेष करता हूँ' इत्यादि अनुभवों का भी आधार ज्ञान-विशेष ही है। 'इच्छामि' अनुभूति का आधार अपेक्षाकृत बुद्धि है। 'द्वेष्मि' इस अनुभव का आधार अनिष्टात्मक ज्ञान है।

धर्मभूतज्ञानस्य विविधा अवस्थाविशेषाः

ननु कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एवेत्युक्तम्, ज्ञानरूपत्वं कथमिति चेन्न; ज्ञानस्य मनस्सहकारित्वनियमात् मन एवेत्युपचारादुक्तमिति न विरोधः। एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिसंशयनिर्णयविपर्ययभ्रमविवेकव्यवसायमोहरागद्वेषमदमात्सर्यधैर्यचापल्यदम्भलोभक्रोधदर्पस्तम्भद्रोहाभिनिवेशनिर्वेदानन्दादयः सुमतिर्दुर्मतिः प्रीतिस्तुष्टिः पुष्टिरुन्नतिः श्रान्तिः कीर्तिर्विरक्ती रतिर्मैत्री दया मुमुक्षा लज्जा तितिक्षा विचारणा विजिगीषा मुदिता क्षमा चिकीर्षा जुगुप्सा भावना कुहनाऽसूया जिघांसा तृष्णा दुराशा वासना दुर्वासना चर्चा भक्तिः प्रपत्तिरित्येवमादयश्च जीवात्मगुणा अनन्ता धर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषा एव। एवं, ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजस्सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जवसौहार्दसाम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यचातुर्यस्थैर्यधैर्यशौर्यपराक्रमादयो भगवतोऽनन्तकल्याणगुणा ज्ञानशक्त्योर्विततिभूताः।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि 'कामस्सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धाधृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वम् मन एव' अर्थात् काम संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, ज्ञान, भय ये सभी मन के ही रूप हैं। इस श्रुति में कामादि को मन बतलाया गया है, ये ज्ञान रूप कैसे हैं? तो इसका उत्तर यह है कि उक्त श्रुति में कामादि की मनोरूपता औपचारिक प्रयोग है। क्योंकि मन नियमतः ज्ञान का सहकारी कारण होता है। अत एव उक्त कथन में कोई भी विरोध नहीं है। इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मरण, संशय, निर्णय, विपर्यय, भ्रम, विवेक, व्यवसाय, मोह, राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, धैर्य, चपलता, दम्भ, लोभ, क्रोध, दर्प, स्तम्भ, द्रोह, अभिनिवेश, निर्वेद तथा आनन्द आदि सुमति, दुर्मति, प्रीति, सन्तुष्टि, पुष्टि, उन्नति, श्रान्ति, कीर्ति, विरक्ति, रति, मैत्री, दया, मुमुक्षा, लज्जा, तितिक्षा, विचारणा, विजिगीषा, मुदिता, क्षमा, चिकीर्षा, जुगुप्सा, भावना, कुहना, असूया, जिघांसा, तृष्णा, दुराशा, वासना, दुर्वासना, चर्चा, भक्ति तथा प्रपत्ति आदि जीवात्माओं के अनन्त गुण हैं तथा

वे धर्मभूत ज्ञान के अवस्था-विशेष हैं। इस प्रकार ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य तथा पराक्रम आदि श्रीभगवान् के अनन्त कल्याणमय गुण-समूह भी श्रीभगवान् के ज्ञान तथा शक्ति के विस्तृत रूप हैं।

ज्ञान की प्रत्यक्षादि विविध अवस्थाएँ

भा० प्र०—ऊपर बतलाया जा चुका है कि इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि ज्ञान के ही विभिन्न औपाधिक रूप हैं। इस पर प्रश्न उठता है कि बृहदारण्यकोपनिषद् की 'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव' (बृ० उ०) इस श्रुति में कहा गया है कि काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, उत्प्रेक्षा एवं भय आदि सभी मन के ही रूप हैं। कामादि को मन का रूप बतलाने वाली इस श्रुति से विशिष्टाद्वैतियों के मत का विरोध होता है। क्योंकि वे कामादि को ज्ञान का रूप मानते हैं? इस शंका का समाधान करते हुए श्रीनिवासाचार्य कहते हैं कि उक्त श्रुति से विशिष्टाद्वैत की मान्यता का कोई भी विरोध नहीं है। आत्मा में होने वाले सभी ज्ञानों का सहकारी कारण मन होता है, इस बात की चर्चा हम पीछे कर चुके हैं। श्रुतियों में कार्य का कारणात्मना औपचारिक प्रयोग देखा जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् के उसी प्रकरण में वाणी के द्वारा उच्चार्य होने के कारण सभी शब्दों को वाणी का रूप कहा गया है। इसी प्रकार यहाँ भी औपचारिक प्रयोग समझना चाहिए। वास्तविकता यह है कि निम्न प्रकार की सारी अनुभूतियाँ ज्ञान के ही विस्तारभूत हैं। वे अनुभूतियाँ निम्न हैं—

(१) **प्रत्यक्ष**—इन्द्रियाँ तथा विषयों के संप्रयोग से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। (२) **अनुमान**—लिङ्ग को देखकर लिङ्ग के होने का जो अनुमान किया जाता है, उसे अनुमान ज्ञान कहते हैं। (३) **आगम**—शास्त्रादिजन्य ज्ञान को आगम ज्ञान कहते हैं। (४) **स्मृति**—अतीतदेशकाल में अनुभूत विषय को वर्तमान ज्ञान के द्वारा विषय बनाये जाने पर जो ज्ञान होता है, उसे स्मृति कहते हैं। (५) **संशय**-उस ज्ञान को कहते हैं, जिसमें इन्द्रियसन्निकृष्ट वस्तु के स्वरूप का निर्णय नहीं हो पाता है। (६) **निर्णय**—निश्चयात्मक ज्ञान का नाम निर्णय है। (७) **विपर्यय**—अन्यथा ज्ञान को कहते हैं। (८) **भ्रम**—जिसका पश्चातनकालिक ज्ञान से बाध हो जाता है, उस ज्ञान को भ्रम कहते हैं। (९) **विवेक**—भेदज्ञानपूर्वक ज्ञान को विवेक कहते हैं। (१०) **व्यवसाय**—निश्चयात्मक ज्ञान को व्यवसाय कहते हैं। (११) **मोह**—अत्यन्त अल्प फल की आसक्ति रूप ज्ञान को मोह कहते हैं। (१२) **राग**—विषयों के प्रति होने वाली आसक्तिपूर्वक ज्ञान को राग कहते हैं। (१३) **द्वेष**—अनिष्टात्मक ज्ञान को द्वेष कहते हैं। (१४) **मद**—अपने विषय में होने वाले महत्त्वाभिमान के कारण जो बुद्धि का विकार होता है, उसे मद कहते हैं। (१५) **मात्सर्य**—दूसरे को दुःखी देखकर प्रसन्नता का अनुभव करना ही मात्सर्य

है। (१६) **धैर्य**—आपत्ति काल में भी दृढतापूर्वक विपत्ति को सहन कर सकने के प्रयोजक ज्ञान को धैर्य कहते हैं। (१७) **चापल्य**—स्पृहणीय वस्तु का सन्निधान होते ही उसे प्राप्त करने के लिए त्वरा के प्रयोजक ज्ञान को चापल्य कहते हैं। (१८) **दम्भ**—अपनी धार्मिकता की प्रसिद्धि के लिए किये जाने वाले धर्मानुष्ठान को दम्भ कहते हैं। (१९) **लोभ**—अविहित प्रकार से किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए अपने आश्रय को उत्तेजित करने वाले ज्ञान को लोभ कहते हैं। (२०) **क्रोध**–कामना की पूर्ति न हो सकने पर जो बुद्धि में विकार होता है, उसे क्रोध कहते हैं। (२१) **दर्प**—कर्तव्याकर्तव्य के विवेक का अभाव जिसके कारण होता है, उस ज्ञान-विशेष को दर्प कहते हैं। (२२) **स्तम्भ**—जिसके चलते जीव किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है, उस ज्ञान को स्तम्भ कहते हैं। (२३) **द्रोह**—जिसके कारण दूसरों के साथ विरोध हो जाता है, उस ज्ञान को द्रोह कहते हैं। (२४) **अभिनिवेश**–का दूसरा नाम आग्रह है। (२५) **निर्वेद**—उदासीनता को कहते हैं। (२६) **आनन्द**–आनुकूल्यानुभव की उच्च सीमा को आनन्द कहते हैं।

इसी प्रकार जीवात्माओं के सुमति, दुर्मति, प्रीति, तुष्टि आदि जो गुण हैं, वे भी धर्मभूत ज्ञान के अवस्था-विशेष हैं। श्रीभगवान् के जो ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, तेज तथा सौशील्य आदि भी श्रीभगवान् के ज्ञान और शक्ति के विस्तार रूप हैं। श्रीभगवान् के इन कल्याण गुणों में कुछ गुण ज्ञान के विस्तारभूत हैं तथा कुछ शक्ति के।

भगवतः कल्याणगुणानां स्वरूपनिरूपणम्

तत्र ज्ञानं नाम सर्वसाक्षात्काररूपम्। शक्तिः अघटितघटनासामर्थ्यम्। बलं धारणसामर्थ्यम्। ऐश्वर्यं नियमनसामर्थ्यम्। वीर्यमविकारित्वम्। तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्। महतो मन्दैस्सह नीरन्ध्रेण संश्लेषस्सौशील्यम्। वात्सल्यं दोषेऽपि गुणत्वबुद्धिः। दोषादर्शित्वं वा। आश्रितविरहासहत्वं मार्दवम्। मनोवाक्कायैकरूपत्वमार्जवम्। स्वसत्तानपेक्षतद्रक्षापरत्वं सौहार्दम्। अभिजनवृत्तगुणाद्यनपेक्षया सर्वाश्रयणीयत्वं साम्यम्। स्वार्थनिरपेक्ष-(स्वप्रयोजनमनपेक्ष्य)परदुःखनिराचिकीर्षा कारुण्यम्। परदुःखासहिष्णुत्वं (परदुःखदुःखित्वं) वा। क्षीरवदुपायभावेऽपि स्वादुत्वं माधुर्यम्। भक्तानुग्रहवदान्यत्वादेरामूलतो दुरवगाहत्वं गाम्भीर्यम्। अपरिमितं (प्रभूतं) दत्वाप्यतृप्तत्वमौदार्यम्। आश्रितदोषगोपनं चातुर्यम्। अकम्पनीयत्वं स्थैर्यम्। अभग्नप्रतिज्ञत्वं धैर्यम्। परबलप्रवेशसामर्थ्यं शौर्यम्। तन्निराकरणं पराक्रमः। इत्याद्यूह्यम्।

अनुवाद—सभी वस्तुओं का साक्षात्कारस्वरूप ही ज्ञान है। अशक्य कार्यों को भी करने का सामर्थ्य रूप शक्ति है। धारण करने के सामर्थ्य को बल कहते हैं।

नियन्त्रण करने के सामर्थ्य को ऐश्वर्य कहते हैं। विकारराहित्य को वीर्य कहते हैं। शत्रुओं को अभिभूत कर देने के सामर्थ्य को तेज कहते हैं। महान् पुरुष का बिना किसी दुराव के नीच व्यक्तियों से मिलना ही सौशील्य कहलाता है। वात्सल्य-भाजन के दोषों को भी गुण रूप से देखना ही वात्सल्य है, अथवा वात्सल्यास्पद के दोषों को न देखना ही वात्सल्य है। अपने आश्रित जीवों के वियोग को न सह सकने को ही मार्दव कहते हैं। मन, वाणी तथा शरीर से एकसमान व्यवहार करने के गुण को आर्जव कहते हैं। अपनी सत्ता की परवाह किये बिना अपने सुहृद् की रक्षा करना ही सौहार्द कहलाता है। निवास, चरित्र तथा गुण आदि पर ध्यान न देकर सब लोगों को समान रूप से आश्रय प्रदान करना ही साम्य कहलाता है। बिना किसी स्वार्थ के दूसरों के दुःख को दूर करने की इच्छा को ही कारुण्य कहते हैं, अथवा दूसरे को दुःखी देखकर स्वयम् दुःखी होने की क्रिया को कारुण्य कहा जाता है। जिस प्रकार दुग्ध स्वभावतः बिना किसी उपाय के ही मीठा होता है, उसी प्रकार स्वभावतः सबों के प्रति मधुर व्यवहार करने के गुण को माधुर्य कहते हैं। भक्तों पर निस्सीम रूप से अनुग्रह तथा वदान्यता का प्रदर्शन ही गाम्भीर्य कहलाता है। निस्सीम मात्रा में प्रदान करके तृप्त नहीं होने के स्वभाव को औदार्य कहते हैं। अपने आश्रित जीवों के दोषों को छिपाने के स्वभाव को चातुर्य कहते हैं। न घबराने के स्वभाव को स्थैर्य कहते हैं। अपनी प्रतिज्ञा को कभी विफल न होने के स्वभाव को धैर्य कहते हैं। शत्रु की सेना में प्रवेश कर जाने के स्वभाव को शौर्य कहते हैं। शत्रु की सेना का वध कर देने के स्वभाव को पराक्रम कहते हैं। इसी प्रकार अन्य गुणों को भी जानना चाहिए।

श्रीभगवान् के कुछ दिव्य गुणों की व्याख्या

भा० प्र०—इस अनुच्छेद में यतीन्द्रमतदीपिकाकार श्रीभगवान् के गुणों की व्याख्या करते हैं। श्रीभगवान् के सभी गुण दिव्य हैं, अतएव उनसे किसी भी जीव का अकल्याण नहीं होता, अतएव श्रीभगवान् के गुणों को कल्याण गुण कहते हैं। श्रीभगवान् के जितने भी गुण हैं, वे उनके ज्ञान तथा शक्ति नामक गुण के परिणामभूत है। इसीलिए श्रीभगवान् के गुणों का कण्ठरव से वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्। परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।' अर्थात् जो परमात्मा सर्वज्ञ एवं सर्ववेत्ता हैं। अर्थात् श्रीभगवान् सभी वस्तुओं का सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से साक्षात्कार करते हैं। श्रीभगवान् की अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं। उनकी ज्ञान तथा बल की क्रियाएँ स्वाभाविक हैं। परमात्मा की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता ही उनके अनन्तानन्त कल्याणकारी गुणों के रूप में परिणत होती हैं। श्रीभगवान् के कुछ कल्याणकारी गुणों का स्वरूप निम्न प्रकार का है—

(१) **ज्ञान**—इस गुण के कारण श्रीभगवान् सभी वस्तुओं का सर्वदा साक्षात्कार करते रहते हैं। इसीलिए वे सर्वज्ञ कहे जाते हैं।

(२) **शक्ति**—अपने से भिन्न सभी असम्भव कार्यों को करने के सामर्थ्य को शक्ति कहते हैं। अतएव श्रीभगवान् सर्वशक्तिमान हैं।

(३) **बल**—इसी गुण के कारण श्रीभगवान् बिना किसी प्रयास के ही स्वेतर समस्त वस्तुओं को धारण करते हैं।

(४) **ऐश्वर्य**—इस गुण के ही कारण श्रीभगवान् स्वेतर समस्त वस्तुओं का नियमन करते हैं। श्रुति भी कहती हैं—'एतस्य वा क्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।' अर्थात्—हे गार्गि ! इस परमात्मा के ही प्रशासन में रहकर सूर्य-चन्द्रमा आदि सम्पूर्ण जगत् नियन्त्रित होता है।

(५) **वीर्य**—अविकारिकत्व को ही वीर्य कहते हैं। वीर्य नामक गुण के कारण श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् के उपादानकारण होकर भी बिना किसी विकार के ज्यों के त्यों बने रहते हैं। श्रीभगवान् को सम्पूर्ण जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बतलाती हुई श्रुति कहती है–'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयः' अर्थात् हे सोमरस पानार्ह सच्छिष्य ! सृष्टि से पूर्व यह जगत् केवल एक तथा अद्वितीय सत्शब्दवाच्य परमात्मस्वरूप था। सत्शब्दवाच्य परमात्मा को एकमेव बतलाकर उसे जगत् का उपादानकारण तथा अद्वितीय शब्द से निमित्तकारण बतलाया गया है।

(६) **तेज**—शत्रुओं को प्रभावहीन बना देने की शक्ति का नाम तेज है। अपने इसी गुण के कारण श्रीभगवान् रावणादि जैसे शत्रुओं को भी प्रभावहीन बना देते हैं। भगवान् के पराक्रम का पता लगाने की इच्छा से आये हुए रावण को भगवान् अपने बाणों से इतना मारते हैं कि वह घबराकर अपने हाथ के कटे धनुष-खण्डों को फेंक देता है तथा लड़ाई के मैदान से भाग जाता है। इस दृश्य का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

'यो वज्रपाताशनिसन्निपातान्न चुक्षुभे नापि चचाल राजा।
स रामबाणाभिहतो भृशार्तः चचाल चापं च मुमोच वीरः॥'

(७) **सौशील्य**—जब महान् व्यक्ति भी अपनी महत्ता की परवाह न करके बिना किसी भेदभाव के किसी छोटे से छोटे व्यक्ति को भी अपना लेता है, तो उसके उस गुण को सौशील्य कहते हैं। सौशील्य नामक गुण के ही कारण भगवान् गुहराज तथा शबरी को भी अपना लेते हैं। निषादराज को अपना सखा बनाते हैं। सुग्रीव को अपना मित्र बनाते हैं।

(८) **वात्सल्य**—वात्सल्य उस गुण को कहते हैं, जिसके कारण वात्सल्य-भाजन के दोषों की प्रतीति भी नहीं होती है अथवा उसके दोष भी गुण रूप से प्रतीत होने लगते हैं। वात्सल्य नामक गुण के ही कारण श्रीभगवान् अपने भक्तों के दोषों को नहीं देखते हैं। सुग्रीव के द्वारा दोषों के बतलाए जाने पर भी भगवान् विभीषण के विषय में कहते हैं—'दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतद् विगर्हितम्।' यद्यपि विभीषण में दोष हो सकते हैं, किन्तु दोषी को शरण में लेने में कोई आपत्ति नहीं है। भगवान् का

यह स्वभाव है कि वे अपने आश्रित जीवों के दोषों को देखते ही नहीं है। उसके दोष भी गुण के रूप में देखने लगते हैं।

(९) **मार्दव**—अपने आश्रित जीवों के वियोग को न सह सकने को मार्दव कहते हैं। यामुनाचार्य स्तोत्ररत्न में कहते हैं—'क्षणेऽपि ते यद्विरहोऽतिदु:सह।' अर्थात् जिन आश्रित जीवों का क्षणभर का भी वियोग आपके लिए असह्य हो जाता है। अथवा अपराधी जीवों के द्वारा भी सहसा समाश्रयणीय हो सकने के गुण को मार्दव कहते हैं। श्रीभगवान् ने रावण से स्वयम् कहा—हे रावण ! यदि तुम सीता को लेकर मेरी शरण में नहीं आते हो तो मैं अपने इन तीक्ष्ण बाणों से इस पृथिवी को राक्षस-विहीन बना दूँगा। तथाहि—

'अराक्षसमिमं लोकं कर्तास्मि निशितैः शरैः।
न चेच्छरणमभ्येषि मामुपादाय मैथिलीम् ॥'

(१०) **आर्जव**—आश्रित जीवों के प्रति शरीर, वाणी तथा मन से एकसमान व्यवहार करने को आर्जव कहते हैं। अथवा आश्रित जीवों की इच्छा के अनुसार कार्य करने को आर्जव कहते हैं। भगवान् राम सीताजी से अरण्यकाण्ड में कहते हैं—

'अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते ! सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥'

अर्थात हे सीते ! मैं अपना जीवन त्याग सकता हूँ, लक्ष्मण तथा तुमको त्याग सकता हूँ, किन्तु खासकर ब्राह्मणों के समक्ष कोई प्रतिज्ञा करके उस प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता हूँ।

(११) **सौहार्द**—अपनी सत्ता की परवाह न करके अपने आश्रित जीवों की रक्षा करने के स्वभाव को सौहार्द करते हैं। अपने इसी गुण के कारण श्रीभगवान् अपने को बड़ी से बड़ी विपत्ति में भी डालकर अपने शरणागत जीवों की रक्षा करते हैं। अथवा स्वभावतः सभी जीवों का हितैषी होना भगवान् का सौहार्द गुण है।

(१२) **साम्य**—इसी गुण के कारण श्रीभगवान् अपने आश्रित जीवों के वंश, निवास, गुण तथा आचरण पर ध्यान दिए बिना ही सभी शरणागत जीवों को अपना लेते हैं। श्रीभगवान् के इस साम्य गुण की ओर ही निर्देश करते हुए शरणेच्छु विभी-षण कहते हैं—

'निवेदयत मां क्षिप्रं विभीषणमुपस्थितम्।
सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने ॥'

अर्थात् आप लोग शीघ्र ही सम्पूर्ण लोकों के रक्षक भगवान् राम से बतला दें कि विभीषण शरणागत होने के लिए आया है। 'सर्वलोकशरण्य' कहकर बतलाया गया है कि श्रीभगवान् तीनों लोकों के स्वाभाविक हितैषी हैं।

(१३) **कारुण्य**—बिना किसी स्वार्थ के अपने आश्रित जीवों के दुःखों को दूर करने की इच्छा को कारुण्य कहते हैं। जीवों के दुःखों को दूर करने की इच्छा से श्रीभगवान् तत्-तत् अवतारों को धारण करके रावण-कंसादि राक्षसों का निवर्हण करके देवताओं के दुःख को दूर करते हैं। अथवा अपने आश्रित जीवों के दुःख को न सह सकने को ही करुणा कहते हैं। इस करुणा से ही प्रेरित होकर भगवान् आपद्ग्रस्त गजराज का ढाँढस बँधाते हुए कहते हैं—'मा भैषीः' डरो मत, डरो मत। अथवा अपने आश्रित जीवों को दुःखी देखकर स्वयम् दुःखी होने के स्वभाव को करुणा कहते हैं। श्रीराम के इस गुण का उद्घोष करते हुए सामन्तों ने महाराज दशरथ से कहा—'व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।' अर्थात् अपने आश्रित जीवों को विपद्ग्रस्त देखकर श्रीराम अत्यन्त दुःखी होते हैं।

(१४) **माधुर्य**—जिस प्रकार दुग्ध स्वभावतः सभी के लिए मधुर होता है, उसी प्रकार भगवान् स्वभावतः सभी के लिए मधुर हैं; यही उनका माधुर्य नामक गुण है। श्रीभगवान् के स्वाभाविक माधुर्य की ओर ही निर्देश करती हुई श्रुति कहती है—'रसो वै सः' (तै० आ० ८)। अर्थात् निश्चय ही परमात्मा रसस्वरूप है। भोग्य-तमत्व के ही कारण उसकी रसनीयता है। 'आनन्दं ब्रह्म' श्रुति परमात्मा को आनन्द-स्वरूप बतलाती है। गीता में स्वयम् भगवान् कहते हैं—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।' अर्थात् मैं ज्ञानी भक्तों को अत्यन्त प्रिय हूँ और वह भी मेरा प्रिय है। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—'रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।' अर्थात् श्रीराम अपने रूप की उदारता तथा माधुर्यादि गुणों के कारण दर्शकों की दृष्टि तथा चित्त को चुरा लेने वाले हैं। गोपियों ने तो श्रीभगवान् को साक्षात् कामदेव के समान मनोज्ञ अनुभव किया—'साक्षान्मन्मथमन्मथः।' वे कामदेव के भी कामदेव हैं।

(१५) **गाम्भीर्य**—भगवान् के द्वारा की जाने वाली अनुग्रह की उदारता का पूर्ण रूप से दुरवगाह होना ही श्रीभगवान् की गम्भीरता है। द्रौपदी श्रीकृष्ण को 'गोविन्द-द्वारकावासीन्' कहकर रक्षार्थ पुकारा और श्रीभगवान् ने अपनी कृपा से द्रौपदी के वस्त्र को निर्मर्याद ढंग से बढ़ा दिया। पुनः पाण्डवों की हर प्रकार से रक्षा करके युधिष्ठिर को राजा भी बना दिए। इसके पश्चात् भी जब वे लौट रहे थे तो उनके मन में अपार क्षोभ था—

> 'गोविन्देति यदाऽक्रन्दत् कृष्णा मां दूरवासिनम्।
> ऋणप्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पीति ॥'

अर्थात् दूरस्थ मुझे दौपदी ने जो सहायता के लिए गोविन्द कहकर पुकारा, उसका क्षोभ आज भी मेरे हृदय में उसी प्रकार बढ़ा है, जिस प्रकार किसी ऋणी को अपने अत्यन्त बढ़े हुए ऋण की चिन्ता होती है। यह श्रीभगवान् के निर्मर्याद अनुग्रह का निदर्शन है।

(१६) **औदार्य**—आश्रित जीवों को अपरिमित वस्तुएँ प्रदान करके भी सन्तुष्ट न होना ही श्रीभगवान् की उदारता है। अपने इसी गुण के कारण श्रीभगवान् अकेले भी सभी जीवों की कामनाओं को पूर्ण करते हैं। 'एको बहूनां यो विदधाति कामान्' (कठो० २।५।१८)।

(१७) **चातुर्य**—अपने आश्रित जीवों के दोषों को छिपाने के गुण को चातुर्य कहते हैं। श्रीभगवान् भी अपने आश्रित जीवों के दोषों को छिपाते हैं।

(१८) **स्थैर्य**—भयभीत न होने के स्वभाव को स्थैर्य कहते हैं। श्रीभगवान् कभी भयभीत नहीं होते। अथवा अपने निश्चय को न बदलने को स्थैर्य कहते हैं। इसीलिए सुग्रीवादि के कहने पर भी भगवान् अपने निश्चय पर अडिग रहते हुए कहते हैं—'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।' मित्र बनने की इच्छा से आए विभीषण को मैं किसी भी प्रकार नहीं त्याग सकता हूँ।

(१९) **धैर्य**—अपनी प्रतिज्ञा को न टूटने देने का गुण धैर्य है। श्रीराम में ये गुण स्थान-स्थान पर दिखलायी देते हैं।

(२०) **शौर्य**—बिना किसी भय के शत्रु की सेना में प्रवेश कर जाने के सामर्थ्य को शौर्य कहते हैं। श्रीराम बिना किसी भय के अकेले खर-दूषणादि की सेना में प्रवेश कर जाते हैं, यह उनका शौर्य है।

(२१) **पराक्रम**—शत्रु की सेना में निश्शङ्क प्रवेश करके अपनी किसी प्रकार की बिना क्षति के शत्रु की सेना को विनष्ट कर देने वाले गुण को पराक्रम कहते हैं। श्रीराम ने रावण की महती सेना को अकेले ही विनष्ट कर दिया। ऐसा कार्य तो भगवान् श्रीमन्नारायण ही कर सकते हैं। निश्चय ही श्रीराम अखिलहेयप्रत्यनीक अखिल-कल्याण-गुणसागर श्रीमन्नारायण ही हैं; यह महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—

'यस्य विक्रममासाद्य राक्षसा निधनं गताः।
तं मन्ये राघवं वीरं नारायणमनामयम्॥'

भक्तिप्रपत्त्योरद्वारकमोक्षसाधनत्वम्

ज्ञानविशेषभूतयोर्भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपं किञ्चिदुच्यते। भक्तिप्रपत्तिभ्यां प्रसन्न (भक्तिप्रपत्ती व्याजीकृत्य) ईश्वर एव मोक्षं ददाति। अतस्तयोर्मोक्षोपायत्वम्। (भक्त्यपृथक्सिद्धानां) मोक्षोपायत्वेनोक्तानां कर्मयोग-ज्ञानयोगप्रभृतीनां भक्तिद्वारैव साधनत्वम् (तत्तत्पुरुषविवक्षयोपायत्वम्)।

अनुवाद—भक्ति एवं प्रपत्ति ज्ञान के ही प्रकार-विशेष हैं। यहाँ पर उन दोनों के स्वरूप को कुछ बतलाया जा रहा है। भक्ति एवं प्रपत्ति के द्वारा प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ही अपने आश्रित जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं। अतएव भक्ति एवं प्रपत्ति मोक्ष के साधन हैं। मोक्ष के साधन रूप से कर्मयोग एवं ज्ञानयोग को शास्त्रों में बतलाया गया है, किन्तु ये कर्मयोग तथा ज्ञानयोग भी भक्ति के अङ्ग है, अतएव वे

भी भक्ति के माध्यम से ही मोक्षप्रद होते हैं। ये भिन्न-भिन्न अधिकारियों की दृष्टि से मोक्ष के भिन्न-भिन्न साधन होते हैं।

भा० प्र०—पीछे कहा जा चुका है कि भक्ति एवं प्रपत्ति भी ज्ञान के प्रकार-विशेष हैं। महनीय विषयिणी प्रीति को ही भक्ति कहते हैं। भगवान् को ही एकमात्र शरण रूप से स्वीकार करके उनकी शरणागति करने को प्रपत्ति कहते हैं। भक्ति एवं प्रपत्ति से ही श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर प्रपन्न जीव को मोक्ष प्रदान करते हैं। शास्त्रों में कर्मयोग एवं ज्ञानयोग को भी मोक्ष का साधन बतलाया गया है। किन्तु कर्मयोग एवं ज्ञानयोग साक्षात् मोक्ष के साधन नहीं हैं। ये भक्ति के द्वारा ही मोक्ष प्रदान करते हैं। अतएव इनकी सद्धारक मोक्ष-साधनता है। मोक्ष के साक्षात् साधन भक्ति एवं प्रपत्ति ही हैं।

कर्मयोगस्वरूपनिरूपणम्

कर्मयोगो नाम, उपदेशाज्जीवपरयाथार्थ्यज्ञानवता शक्त्यनुसारेण फलसङ्गरहितानिषिद्धकाम्यनित्यनैमित्तिकरूपपरिगृहीतकर्मविशेषः। स तु देवार्चनातपस्तीर्थयात्रादानयज्ञादिभेदभिन्नः। अयं तु जीवगतकल्मषापनयन-द्वारा ज्ञानयोगमुत्पाद्य तद्द्वारा (वा साक्षाद्वा) भक्त्युत्पादको भवति।

अनुवाद—उपदेश के द्वारा जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अपनी शक्ति के अनुसार फालाभिसंधिरहित अनिषिद्ध काम्य, नित्य तथा नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान रूप कर्म-विशेष ही कर्मयोग कहलाता है। देवताओं की अर्चना, तपस्या, तीर्थयात्रा, दान, यज्ञ आदि कर्मयोग के अनेक भेद हैं। कर्मयोग जीवों के पापों को विनष्ट करके ज्ञानयोग को उत्पन्न करता है तथा उसी के द्वारा अथवा साक्षात् भक्ति को उत्पन्न करता है।

कर्मयोग का स्वरूप

भा० प्र०—नियम हैं कि आठ वर्ष के बटु का यज्ञोपवीत करके उसको वेदाध्ययन कराए 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयेत्' वेदाध्ययन प्रारम्भ करने के काल के विषय में मनु कहते हैं—

'श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वा उपाकृत्य यथाविधिः।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान् विप्रोऽर्धपञ्चमान् ॥' (म० स्मृ० ४।९५)

अर्थात् श्रावणी (श्रावण मास की पूर्णिमा), या प्रौष्ठपदी (भाद्रपद अमावास्या) के दिन विधि-विधानपूर्वक उपाकर्म करके अध्ययन के नियमों का पालन करते हुए साढ़े चार मास तक वेदाध्ययन करें।

अध्ययन-प्रकार का निर्णय करते हुए आचार्य रामानुज श्रीभाष्य में कहते हैं—'आचार्योच्चारणानुच्चारणरूपमक्षरराशिग्रहणफलमध्ययनम्' (श्रीभाष्य १।१।१)। आचार्य के उच्चारण के पश्चात् उच्चारण के द्वारा वेद को कण्ठस्थ कर लेने को अध्य-

यन कहते हैं। अध्ययन के पश्चात् आपाततः अर्थ की प्रतीति होने के कारण उन अर्थों का निर्णय करने के लिए श्रवण में प्रवृत्ति होती है। श्रवण-काल में मुमुक्षु आचार्य के सन्निकट में बैठकर प्रयोजन रूप से ज्ञात अर्थों का न्याय एवं मीमांसा के आलोक में निर्णय करता है। पुनः उसकी मननादि में प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार आचार्य की सन्निधि में जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप आदि का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके जब अधिकारी वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान परमात्मा के मुखोल्लासार्थ करता है, तो उसे कर्मयोग कहते हैं। कर्मयोगी कर्मों का अनुष्ठान फलाभिसंधिरहित होकर करता है। जिन कर्मों का निषेध वेदों में किया गया है, उन कर्मों को कर्मयोगी नहीं करता है। वह काम्य कर्मों को भी भगवन्मुखोल्लासार्थ ही करता है। वह नित्य सन्ध्या-वन्दनादि तथा नैमित्तिक जातकर्मेष्टचादि कर्मों का अनुष्ठान करता है। देवताओं की अर्चना, तपस्या करना, तीर्थयात्रा करना, दान करना तथा यज्ञादि करना, ये सबके सब कर्मयोग के अन्तर्गत आते हैं। कर्मयोग के द्वारा जीवों के पाप प्रणष्ट होते हैं तथा अधिकारी के हृदय में ज्ञानयोग का आविर्भाव होता है। तदनन्तर अधिकारी के हृदय में भक्तियोग उत्पन्न होता है। कर्मयोग साक्षात् अधिकारी में भक्तियोग उत्पन्न करता है अथवा वह ज्ञानयोग को उत्पन्न करके उसके माध्यम से अधिकारी में भक्तियोग उत्पन्न करता है।

ज्ञानयोगस्य स्वरूपनिरूपणम्

ज्ञानयोगो नाम, कर्मयोगान्निर्मलान्तःकरणस्येश्वरशेषत्वेन प्रकृतिवियुक्तस्वात्मचिन्ताविशेषः। तस्य साक्षाद्भक्त्युपयोगः। एवं साधनान्तराणामपि (स्वातन्त्र्यम्) भक्त्युपयोगित्वं (च) यथाप्रमाणमूह्यम्।

अनुवाद—कर्मयोग के अनुष्ठान से जिसका अन्तःकरण स्वच्छ हो गया है वह अपने को ईश्वर का शेष समझने लगता है। परमात्मशेषत्व ही जीवात्मा का स्वरूप शास्त्रों में वर्णित है। वह अपने स्वरूप से प्रकृति को वियुक्त रूप से जानने लगता है। इस प्रकार अपनी आत्मा के स्वरूप के चिन्तन को ही ज्ञानयोग कहते हैं। ज्ञानयोग का भक्तियोग में साक्षात् उपयोग होता है। इसी प्रकार मोक्ष के साधन रूप से जो दूसरे साधन बतलाए गये हैं, उनका उपयोग भक्तियोग में ही होता है। वे साक्षात् मोक्ष के साधन नहीं हैं, अपितु उनकी उपयोगिता भक्तियोग की उत्पत्ति में है।

भक्तियोगस्य स्वरूपनिरूपणम्

भक्तियोगो नाम, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपाष्टाङ्गयुक्तस्तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपः। स च विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षरूपसाधनसप्तकजन्यः। तत्र विवेको नाम, जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात्कायशुद्धिः। विमोकः कामानभिष्वङ्गः। अभ्यासः पुनः पुनरालम्बनसंशीलनम्। शक्तितः पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं क्रिया। सत्यार्जवदयादानाहिंसादीनि कल्याणानि। अनवसादो दैन्याभावः।

अनुद्धर्षस्तुष्टयभावः। अतिसन्तोषश्च विरोधीत्यर्थः। एवं साधनसप्तकानुगृहीता भक्तिर्दर्शनसमानाकारा अन्तिमप्रत्ययावधिका च भवति। स चान्तिमप्रत्ययः एतच्छरीरावसाने शरीरान्तरावसाने वा भवति। वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्या च भक्तिः परभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिरूपक्रमवती प्रपत्त्यङ्गिका च। सा द्विविधा—साधनभक्तिफलभक्तिभेदात्। उक्तसाधनजन्या साधनभक्तिः। फलभक्तिस्तु, ईश्वरकृपाजन्या श्रीपराङ्कुशनाथादिनिष्ठा। मद्भक्तजनवात्सल्यमित्यादिषु स्तुतिनमस्कारादिषु च भक्तिशब्दप्रयोग औपचारिकः।

अनुवाद—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि—इन आठ अंगों से युक्त, तेल की धारा के समान, बिना किसी विच्छेद के सतत ध्येय के स्वरूप चिन्तनधारा को भक्तियोग कहते हैं। वह भक्तियोग—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद एवं अनुद्धर्ष—इन सात साधनों से उत्पन्न होता है। जातिदोष, आश्रयदोष एवं निमित्तदोष, इन तीन प्रकार के दोषों से जो दूषित नहीं हुआ है, ऐसे अन्न को खाने से शरीर की शुद्धि करना ही विवेक कहलाता है। कामनाओं की अनासक्ति ही विमोक है। बारम्बार आरम्भण और संशीलन ही अभ्यास है। अपनी शक्ति के अनुसार पञ्चमहायज्ञादि क्रियाओं का अनुष्ठान करना ही क्रिया है। सत्य, आर्जव, दया, दान तथा अहिंसा आदि का पालन ही कल्याण कहलाता है। दीनता के अभाव को अनवसाद कहते हैं। तुष्टि के अभाव को अनुद्धर्ष कहते हैं। अत्यन्त संतोष भक्ति का विरोधी है। इस प्रकार सात साधनों से अनुगृहीत भक्ति ध्येय के साक्षात्कार के सदृश आकार वाली तथा अन्तिम ज्ञान-पर्यन्त तक स्थिर रहने वाली होती है। यह अन्तिम प्रत्यय वर्तमान शरीर के समाप्ति काल में अथवा दूसरे जन्म में होता है। शास्त्रों में इस भक्ति को वेदन, ध्यान, उपासना आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। इस भक्ति के क्रमशः तीन क्रम उत्तरोत्तर होते हैं—परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति। इन तीन क्रमों वाली वह भक्ति प्रपत्ति का अङ्ग बन जाती है।

भक्ति के दो भेद हैं—साधनभक्ति और फलभक्ति। उपर्युक्त साधनों से उत्पन्न होने वाली भक्ति साधनभक्ति है। फलभक्ति तो ईश्वर की कृपा से उत्पन्न होती है तथा वह श्रीशठकोपसूरि एवं श्रीनाथमुनि आदि में पायी जाती है। 'मेरे भक्तों के प्रति वात्सल्य प्रदर्शित करना मेरी भक्ति है' इत्यादि वाक्यों में (भक्तों के प्रति वात्सल्य प्रदर्शन को) तथा स्तुति, नमस्कार आदि को जो भक्ति शब्द से अभिहित किया गया है, वह औपचारिक प्रयोग है।

भा० प्र०—ऊपर कहा जा चुका है भक्ति एवं प्रपत्ति से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ही मुमुक्षु जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं।

भक्तियोग—आचार्यों ने कहा है कि पूज्य व्यक्ति के विषय में होने वाली प्रीति ही भक्ति कहलाती है। श्रीभगवान् ही स्वेतर समस्त जीवों के पूज्य हैं, अतएव भगवद्विषयिणी होने वाली प्रीति ही भक्ति कहलाती है। उस भक्ति के स्वरूप को निरूपित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि ध्येय श्रीभगवान्-विषयक तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तान् ही भक्ति शब्द वाच्य है। उस स्मृतिसन्तान को अष्टाङ्गयोग से समन्वित होना चाहिए। चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।' (यो० सू० १।२)

योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन आठ अङ्गों का समुदाय ही योग कहलाता है। इन योगाङ्गों का संक्षिप्ततम परिचय निम्न प्रकार का है।

(१) **यम**—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।' (यो० सू० २।३०) अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह, ये पाँच यम हैं।

(क) **अहिंसा**—मन, वाणी तथा शरीर से किसी को भी किसी भी प्रकार से कष्ट न पहुँचाने को अहिंसा कहते हैं।

(ख) **सत्य**—प्रत्यक्ष देखकर या सुनकर या अनुमान के द्वारा अनुभूत वस्तु का यथायथ वर्णन करना सत्य है। सत्यवचन दूसरों के लिए हितकारी तथा अनुद्वेगकारी होते हैं। कपटरहित एवं छलरहित व्यवहार सत्य-व्यवहार कहे जाते हैं।

(ग) **अस्तेय**—अनुचित ढंग से किसी दूसरे की वस्तु को अपना बना लेना ही स्तेय (चोरी) है। चोरी के अभाव को ही अस्तेय कहते हैं।

(घ) **ब्रह्मचर्य**—मन, वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। दक्षमुनि ने कहा है—आठ प्रकार के मैथुन का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। आठ प्रकार के मैथुन निम्न हैं—

'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥'

(ङ) **अपरिग्रह**—विषयों में अर्जन-दोष, रक्षण-दोष, क्षय-दोष, संग-दोष तथा हिंसा-दोष देखने से उनका जो अस्वीकार, वह अपरिग्रह कहा जाता है।

इन पाँचों के समूह को यम कहते हैं।

(२) **नियम**—शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' (यो० सू० २।३२)। अर्थात्—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर का ध्यान, ये पाँच नियम कहलाते हैं।

(क) **शौच**—मिट्टी, जल आदि लगाकर स्नान करने तथा मेध्य वस्तुओं का भोजन करने से उत्पन्न बाह्य शुद्धि तथा व्रतोपवासादि के द्वारा चित्त के दोषों के प्रक्षालन जन्य आभ्यन्तर शुद्धि का पालन ही शौच कहलाता है।

(ख) **सन्तोष**—कर्तव्य कर्म का पालन करते हुए उपलब्ध साधनों के द्वारा ही सन्तोषपूर्वक जीवन-निर्वाह ही सन्तोष है।

(ग) **तप**—द्वन्द्वों की सहिष्णुता ही तप है। शीत-उष्ण, सुख-दुःख, मान-अपमान, सम्पत्ति-विपत्ति प्रभृति द्वन्द्वों को समान रूप से स्वीकार करने को तप कहते हैं।

(घ) **स्वाध्याय**—मोक्षप्रद शास्त्रों का अध्ययन अथवा प्रणव के जप को स्वाध्याय कहते हैं।

(ङ) **ईश्वर-प्रणिधान**—'परमात्मा के स्वरूप, रूप, विभूति, ऐश्वर्य आदि का चिन्तन करना ही ईश्वर-प्रणिधान है।

(३) **आसन**—'स्थिरसुखमासनम्' (यो० सू० २।४६)। "आस्यते 'आस्ते' वा अनेन इत्यासनम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा स्थिरता तथा सुखपूर्वक बैठा जा सके, उसे आसन कहते हैं।

(४) **प्राणायाम**—'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' (यो० सू० २।४९)। आसन के सिद्ध हो जाने पर श्वास एवं प्रश्वास की जो स्वाभाविक गति रुक जाती है, उसे प्राणायाम कहते हैं। बाह्य वायु को भीतर प्रवेश कराना श्वास कहलाता है। उदर में स्थित वायु को बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। उन दोनों की स्वाभाविक गति का रुक जाना ही प्राणायाम कहलाता है।

(५) **प्रत्याहार**—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (यो० सू० २।५४)। अर्थात् उक्त प्रकार से प्राणायाम का अभ्यास करते-करते मन और इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाते हैं। उसके पश्चात् इन्द्रियों की बाह्यवृत्ति को सब ओर से समेट कर मन में विलीन करने के अभ्यास का नाम प्रत्याहार है। जब साधनकाल में साधक इन्द्रियों के विषयों का त्याग करके चित्त को अपने ध्येय में लगाता है, उस समय जो इन्द्रियों का विषयों की ओर न जाकर चित्त में विलीन-सा हो जाता है, यह प्रत्याहार सिद्ध होने की पहचान है।

(६) **धारणा**—'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा' (यो० सू० ३।१) अर्थात् हृदय के भीतर के नाभिचक्र, हृदयकमल आदि देशों अथवा सूर्य, चन्द्रमा या कोई देवता आदि बाह्य देशों में चित्त का स्थिर हो जाना ही धारणा है।

(७.) **ध्यान**—'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (यो० सू० ३।२)। ध्येय वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना ही ध्यान है। एकमात्र ध्येय-विषयिणी चित्त की धारा ही ध्यान है।

(८) समाधि—'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः'(यो० सू०३।३)। अर्थात् ध्यान में केवल ध्येय के स्वरूप की प्रतीति होना तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य-सा हो जाना ही समाधि कहलाता है। ध्येय का ध्यान करते-करते जब चित्त स्वयम् ध्येयाकाराकारित हो जाता है, उसमें केवल ध्येय की ही प्रतीति होती है, ध्यान की इसी अवस्था को समाधि कहते हैं।

इस अष्टाङ्गयोग से सम्पन्न अधिकारी जब लगातार ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप का चिन्तन करने लग जाता है, तब उसके चिन्तन काल में मन से बिल्कुल ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप का अपरोक्ष-सा होने लगता है तो उसे ही भक्तियोग कहते हैं। चिन्तन की धारा को तैलधारावदविच्छिन्न कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार तेल की धारा निश्छिद्र होती है, उसी प्रकार ध्याता का मन सदा परमात्मा के स्वरूप के चिन्तन में निरत रहता है, उसमें थोड़ा-सा भी अन्तराल नहीं होता है।

विवेकादि साधन-सप्तक—वह भक्तियोग भी साधनसप्तक जन्य होता है। वे साधनसप्तक निम्न हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष—ये सात साधन हैं। श्रीभाष्य में इन सात साधनों की व्याख्या निम्न प्रकार से की गयी है—

(१) विवेक—अन्न में तीन प्रकार के दोष होते हैं—जाति-दोष, आश्रय-दोष एवं निमित्त-दोष। इन तीनों दोषों से रहित भोज्य पदार्थों का सेवन करने से शरीर की जो शुद्धि होती है, उसे विवेक कहते हैं। 'जात्याश्रयनिमित्तादुष्टादन्नात् कायशुद्धि-र्विवेकः। जातिदुष्ट अन्न-लशुनादि हैं। 'पतितों एवं आततायियों' इत्यादि के घर का अन्न आश्रय-दोष से दूषित होता है। भोजन में बाल का अथवा मक्खी आदि के गिर जाने से भोजन निमित्त-दोष से दूषित हो जाता है। ऐसे अन्न का ग्रहण मुमुक्षु जीव के लिए वर्जित है। अतएव उन्हें ऐसा अन्न नहीं लेना चाहिए। भक्ति में विवेक पर बल देते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः' (छा० उ० ७।२६)। अर्थात् शुद्ध आहार लेने से अन्तःकरण की शुद्धि होती है और अन्तःकरण की शुद्धि होने पर ध्रुवास्मृति अर्थात् भक्तियोग का उदय होता है।

(२) विमोक—काम्य विषयों में अत्यन्त आसक्ति का अभाव ही विमोक कहलाता है। श्रुति भी कहती है—'शान्त उपासीत' (छा० उ० ३।१४।१) अर्थात् विषयों से विरक्त होकर उपासना करनी चाहिए।

(३) अभ्यास—मुमुक्षु जीवों के कल्याण के आश्रयभूत श्रीभगवान् का दिव्य-मङ्गलविग्रह ही ध्यान का आलम्बन अथवा आरम्बण शब्द वाच्य है। उसका बार-बार संशीलन चिन्तन करना ही अभ्यास कहलाता है। 'आरम्बणसंशीलनं पुनः पुनर-भ्यासः'। गीता में स्वयम् भगवान् भी कहते हैं—'सदा तद्भावभावितः' (गी० ८।६)। अर्थात् मुमुक्षु जीव सदा अपने ध्येय परमातमा की भावना से भावित रहता है।

(४) **क्रिया**—अपनी शक्ति के अनुसार सदा पञ्च महायज्ञों का अनुष्ठान ही क्रिया कहलाती है। ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्ययज्ञ, ये पञ्च महायज्ञ कहलाते हैं। इनमें वेदाध्ययन तथा अध्यापन ब्रह्मयज्ञ कहलाता है। पितृतर्पण पितृयज्ञ कहलाता है। होम देवयज्ञ कहलाता है। भूतबलि भूतयज्ञ कहलाता है। अतिथि का पूजन मनुष्ययज्ञ कहलाता है। तथाहि—

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥' (म० स्मृ० ३।७०)

मुमुक्षु के लिए पञ्चमहायज्ञ के अनुष्ठान पर बल देते हुए कहा गया है—'क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।' (मु० उ० ३।१।४) अर्थात् पञ्चमहायज्ञानुष्ठान रूप क्रिया का आचरण करनेवाला ही ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ है। 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन।' (बृ० उ० ६।४।२२) अर्थात् उस पुरुषसूक्त में वर्णित श्रीभगवान् को वेदवाक्यों के अनुसार मुमुक्षु यज्ञ, दान, तपस्या तथा उपवास के द्वारा जानने की इच्छा करते हैं।

(५) **कल्याण**—सत्यभाषण, मन, वाणी तथा शरीर के समान व्यवहार वाला होना, रूप, आर्जव, जीवों पर दया करना, दान देना तथा अहिंसा का पालन, इन सबों का समुदित नाम कल्याण है। मुमुक्षु के लिए कल्याण के पालन पर बल देती हुई श्रुति कहती है—'सत्येन लभ्यः' (मु० उ० ३।१।५)। अर्थात् वह परमात्मा सत्य के द्वारा प्राप्य है।

(६) **अनवसाद**—विपरीत देश एवं काल के कारण तथा शोकप्रद वस्तुओं की याद आ जाने से किसी प्रकार की दीनता का न होना ही अनवसाद कहलाता है। अतएव मुमुक्षु को सर्वदा परमात्मा पर भरोसा रखना चाहिए। कभी दीनता का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। श्रुति भी कहती है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' (मु० उ० ३।२।४)। अर्थात् अवसादग्रस्त बलहीन अधिकारी इस परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता है।

(७) **अनुद्धर्ष**—देशकाल की अनुकूलता तथा प्रियवस्तु के स्मरण से सन्तुष्ट न होने को अनुद्धर्ष कहते हैं। इस अनुद्धर्ष की भी मुमुक्षु के लिए अत्यन्त आवश्यकता होती है। अपनी सांसारिक सम्पन्नता को देखकर संतोष का अनुभव करना मुमुक्षु को भक्ति से पराङ्मुख कर देती है। अतएव अपनी सांसारिक सम्पन्नता के कारण संतोषाधिक्य का अनुभव करना भक्ति का विरोधी है।

इस साधनसप्तक से परिनिष्पन्न भक्ति अपनी काष्ठा का स्पर्श-सी करती हुई दर्शनसमानाकारता को प्राप्त कर लेती है। भक्त को लगता है कि वह अपने ध्येय परमात्मा का जैसे साक्षात्कार कर रहा हो और यह भक्ति तबतक बनी रहती है, जबतक कि अन्तिम प्रत्यय उत्पन्न नहीं हो जाता है। यदि वर्तमान शरीर के पातकाल में प्रारब्ध कर्म की समाप्ति हो जाती है तो यह अन्तिम प्रत्यय इस शरीर के पातकाल

में ही उत्पन्न हो जाता है। यदि प्रारब्ध कर्म समाप्त नहीं हुआ तो वह अन्तिम प्रत्यय दूसरे जन्म में होता है। किन्तु साधनसप्तकानुगृहीत भक्ति विना अन्तिम प्रत्यय उत्पन्न हुए समाप्त नहीं होती है।

शरीर-पातकाल में भी अपने ध्येय श्रीभगवान् के स्वरूप, रूप, ऐश्वर्य तथा संबन्ध आदि का स्मरण होते रहना ही अन्तिम प्रत्यय कहलाता है। अन्तिम प्रत्यय-सम्पन्न योगी ही मोक्षाधिकारी होता है।

भक्ति के तीन पर्व होते हैं—परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति।

परभक्ति—प्रीतिरूप को प्राप्त होने वाला तथा दर्शन के समान आकार वाला मोक्ष का कारणभूत स्मृतिसन्तान ही परभक्ति कहलाता है।

परज्ञान—श्रीभगवान् के विषय में होनेवाला वह परिपूर्ण साक्षात्कार है, जो ऐसे प्रेममय भगवद्ध्यान से—जिससे श्रीभगवान् का साक्षात्कार करने के लिए उत्कट उत्कण्ठा उत्पन्न होकर श्रीभगवान् से ऐसी प्रार्थना होती है कि हे भगवन्! कृपया आप अपने निर्विकारस्वरूप का मुझे दर्शन कराइए—प्रसन्न श्रीभगवान् के अनुग्रह से प्राप्त होता है।

परमभक्ति—इस प्रकार परमभोग्य श्रीभगवान् का साक्षात्कार होने के पश्चात् जो श्रीभगवान् को प्राप्त करने के लिए प्रेममय उत्कट त्वरा होती है, वह परमभक्ति कहलाती है। परमभक्ति ही श्रीभगवान् को साक्षात् प्राप्त कराती है। इन तीन क्रमों वाली भक्ति ही प्रपत्ति का अङ्ग बनती है। भक्ति के दो भेद होते हैं—साधनभक्ति तथा साध्यभक्ति।

साधनभक्ति वह है, जो शमादि साधनों तथा साधनसप्तक के अनुष्ठान से मुमुक्षु जीव में उत्पन्न होती है। मुमुक्षु जीव मोक्ष के साधन से उस भक्ति का अनुष्ठान करते हैं। जैसे—व्यास महर्षि आदि की भक्ति।

साध्यभक्ति वह है, जो श्रीभगवान् की कृपा से उत्पन्न होती है। जैसे श्रीशठ-कोपसूरि की भक्ति। सहस्रगीति में श्रीशठकोपसूरि श्रीभगवान् के वियोग में व्याकुल दिखलायी पड़ते हैं।

भगवच्छास्त्र में आठ प्रकार की भक्तियों का निर्देश किया गया है। तथाहि—

> 'मद्भक्तजनवात्सल्यं पूजायां चानुमोदनम्।
> स्वयमभ्यर्चनं चैव मदर्थं दम्भवर्जनम्॥
> मत्कथाश्रवणे भक्तिः स्वरनेत्राङ्गविक्रिया।
> ममानुस्मरणं नित्यं यश्च मां नोपजीवति।
> भक्तिरष्टविधा ह्येषा ··· ··· ॥'

अर्थात् (१) मेरे भक्त के प्रति वात्सल्य का प्रदर्शन, (२) मेरी पूजा का अनु-मोदन करना, (३) स्वयम् मेरी अर्चना करना, (४) मेरे विषय में किसी प्रकार का दम्भ न करना, (५) मेरी कथा के श्रवण में भक्ति, (६) मेरी कथा को सुन-कर स्वर, नेत्र तथा अङ्ग में विकार पैदा हो जाना, (७) सदा मेरा स्मरण करना

तथा (८) मुझको ही अपनी जीविका का साधन नहीं बनाना, यह मेरी आठ प्रकार की भक्ति है।

अन्यत्र भी **नवधाभक्ति** बतलायी गयी है—

'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥'

अर्थात् श्रीभगवान् का श्रवण करना, कीर्तन करना, स्मरण करना, उनके चरणों की सेवा करना, श्रीभगवान् की अर्चना करना, उनकी वन्दना करना, उनकी दासता करना, उनमें सख्यभाव रखना तथा श्रीभगवान् के लिए अपने को अर्पित कर देना—यही नवधाभक्ति है ।

इन सबों को औपचारिक ढंग से भक्ति कही गयी है । मुख्य रूप से तीन उपर्युक्त ही भक्ति है । श्रवणादि भगवद्भक्ति के जनक हैं, अतएव उनको भी भक्ति कह दिया गया है ।

वेदान्तेषु ध्यानस्यैव विधानमिति प्रतिपादनम्

ननु वेदान्तेषु श्रवणमननयोरपि विधानात्कथं ध्यानमेव विधीयत इति चेत्; उच्यते । अधीतसाङ्गवेदः पुरुषः प्रयोजनवदर्थावबोधित्वदर्शनात् तन्निर्णयाय स्वयमेव श्रवणे प्रवर्तत इति श्रवणस्य प्राप्तत्वादनुवादः । श्रवण-प्रतिष्ठार्थत्वान्मननस्याप्यनुवादः । तस्माद् ध्यानमेव विधीयते इति न विरोधः ।

अनुवाद—प्रश्न उठता है 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' श्रुति में श्रवण एवं मनन का भी विधान किया गया है, अतएव विशिष्टाद्वैती कैसे मानते हैं कि उक्त श्रुति में केवल ध्यान का ही विधान किया गया है ? तो इस शंका का समाधान यह है कि साङ्गवेद का जिसने अध्ययन किया है, वह प्रयोजनों से युक्त वेदवाक्यों का अर्थ बोधकत्व देखकर, उन वाक्यों का अर्थ-निर्णय करने के लिए स्वयम् ही उन वाक्यों के अर्थ-श्रवण में प्रवृत्त होता है । इस प्रकार श्रवण के स्वभावतः प्राप्त होने के कारण श्रुति श्रवण का अनुवाद करती है । श्रुत-अर्थ को मन में स्थिर करने के लिए मनन के आवश्यक होने के कारण वह भी प्राप्त अर्थ है, अतएव 'मन्तव्यः' श्रुति उसका भी अनुवाद ही करती है । अतएव अप्राप्त अर्थ ध्यान का ही श्रुति यहाँ विधान करती है, यह मानने में कोई भी विरोध नहीं है । अतएव 'निदिध्यासितव्यः' श्रुति दर्शनसमानाकारत्वविशिष्ट ध्यान का विधान करती है, विशिष्टाद्वैतियों की यह मान्यता युक्तियुक्त है ।

विद्याभेदाद्भक्तिभेदः

ध्यानशब्दवाच्या भक्तिर्विद्याभेदाद् बहुविधा भवति । ताश्च विद्या द्विविधाः—ऐहिकफला मुक्तिफलाश्चेति । तत्रैहिकफला उद्गीथविद्यादयः ।

मुक्तिफलास्तु, अन्तरिक्षविद्यान्तरादित्यविद्या दहरविद्या भूमविद्या सद्विद्याम-धुविद्योपकोसलविद्याशाण्डिल्यविद्या पुरुषविद्या प्रतर्दनविद्या वैश्वानरविद्या पञ्चाग्निविद्या, इत्यादिका ब्रह्मविद्याः।

अनुवाद—ध्यान शब्द के द्वारा जिसका अभिधान होता है, वह दर्शन समानाकारा भक्ति विद्याओं के भेद के कारण अनेक प्रकार की होती है। वे विद्याएँ दो प्रकार की है—लौकिक फल को प्रदान करने वाली उद्गीथादि विद्याएँ तथा मुक्ति रूपी फल को प्रदान करने वाली विद्याएँ। ऐसी विद्याएँ निम्न हैं—अन्तरिक्षविद्या, अन्तरादित्यविद्या, दहरविद्या, भूमविद्याएँ, सद्विद्या, द्युविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, पुरुषविद्या, प्रतर्दनविद्या, वैश्वानरविद्या तथा पञ्चाग्निविद्या इत्यादि। ये सभी ब्रह्मविद्याएँ हैं।

भा० प्र०—उपनिषदों में दो तरह की विद्याओं का वर्णन उपलब्ध होता है—काम्यविद्याएँ तथा ब्रह्मविद्याएँ। काम्यविद्याओं का फल लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति है।

उपनिषदों की चार काम्यविद्याएँ

काम्यविद्याएँ चार हैं—

(१) **उद्गीथविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुति में इस विद्या का वर्णन किया गया है। इसकी चर्चा महर्षि बादरायण ने 'आदित्यादि मतयश्चाङ्ग उपपत्तेः' (ब्र० सू० ४।१।६) इस सूत्र में की है। प्रश्न उठता है कि 'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' (छा० १।३।१)। अर्थात् वह जो आदित्य चमकता है, उसकी उद्गीथ रूप से उपासना करनी चाहिए। इस श्रुति के अनुसार आदित्यादि में उद्गीथादि की दृष्टि करनी चाहिए, अथवा उद्गीथादि में आदित्यादि की दृष्टि करनी चाहिए? पूर्वपक्षी का कहना है कि उत्कृष्ट उद्गीथादि की दृष्टि आदित्यादि में करनी चाहिए। इस पर सूत्रकार कहते हैं कि नहीं; आदित्यादि की ही दृष्टि उद्गीथादि में करनी चाहिए, क्योंकि आदित्यादि देवताओं की ही आराधना से उद्गीथादि कर्म फलप्रद होते हैं। अतएव उत्कृष्ट आदित्यादि में ही उद्गीथादि की दृष्टि करनी चाहिए।

(२) **नामादिप्रतीकविद्या**—'स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते' (छा० उ० ७।१।५)। इस श्रुति में नामादि प्रतीकविद्या का वर्णन है और इसका फल नाम-प्रतीकविद्या की उपासना करने वाले की नामादि गति-पर्यन्त यथेच्छ गति बतलाया गया है। महर्षि बादरायण ने—'न प्रतीते न हि सः' (ब्र० सू० ४।१।४) इस सूत्र में नामप्रतीकविद्या की चर्चा करते हुए कहा है कि प्रतीक में नामत्व का अनुसंधान करना चाहिए। उपासक की आत्मा प्रतीक नहीं है, अतएव उसमें नामत्वानुसंधान नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म तो वहाँ पर विशेषण मात्र है। ब्रह्म से भिन्न में ब्रह्म की दृष्टि

रखकर उपासना करना ही प्रतीकोपासना कहलाती है। उपासक की आत्मा उपास्य रूप प्रतीक नहीं है, अतएव उसमें नामत्वानुसंधान नहीं करना चाहिए।

(३) **मनश्चित्तादिविद्या**—अग्निरहस्य-ब्राह्मण के तृतीय ब्राह्मण में इस विद्या का वर्णन—'मनश्चितो वाक्चितः, प्राणश्चितः, चक्षुश्चितः, श्रोत्रचितः, कर्मचितोऽग्निचितः' इत्यादि श्रुति के द्वारा किया गया है। महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के पूर्वविकल्पाधिकरण में इसका विस्तृत विचार किया है।

(४) **उद्गीथ में रसतमत्वादि दृष्टिविद्या**—कर्मों के अङ्गभूत उद्गीथ विद्या की चर्चा 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इस श्रुति से प्रारम्भ होती है। प्रश्न है कि उद्गीथोपासना तत्-तत् शाखाओं में भिन्न-भिन्न स्वरों के साथ पढ़ी गयी है। अतएव जिस शाखा में जिस स्वर के साथ उद्गीथोपासना पढ़ी गयी है, उस स्वरवैशिष्ट्य के साथ उसी शाखा के लिए वह उद्गीथोपासना नियत है अथवा उद्गीथ-सामान्य के लिए वह नियत है? इस शंका का समाधान करते हुए महर्षि बादरायण ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के अङ्गावबद्धाधिकरण में बतलाया है कि, सर्वत्र एक ही उद्गीथोपासना वर्णित है। उद्गीथोपासना के अत्यन्त प्रिय होने के कारण उसका सभी शाखाओं में अनुप्रवेश है।

उपनिषदों की बत्तीस ब्रह्मविद्याएँ

इसी प्रकार उपनिषदों में वर्णित ब्रह्मविद्याओं की संख्या बत्तीस हैं। उनका संक्षिप्ततम परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) **सद्विद्या**—छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में सद्विद्या पढी गयी है। इस विद्या में बतलाया गया है कि—सच्छब्दवाच्य परब्रह्म अपने संकल्प से ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बनते हैं। 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६।२।१) श्रुति श्रीभगवान् को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बतलाती है।

(२) **आनन्दविद्या**—तैत्तिरीयोपनिषद् के आनन्दवल्ली में यह विद्या वर्णित है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के आनन्दमयाधिकरण में इसका विस्तृत विचार करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं कि—श्रीभगवान् कल्याणगुणसागर, वैभव-सम्पन्न तथा आनन्दमय हैं। 'तस्माद्वा एतस्मादानन्दमयादन्योन्तर आत्मानन्दमयः' (तै० उ० आ० ब० ५ अनु०) श्रुति उस आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप-निरूपण उपक्रान्त करती है।

(३) **अन्तरादित्यविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की 'य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' (छा० उ० १।६।६-७) श्रुति में अन्तरादित्यविद्या का वर्णन है। इस अन्तरादित्य विद्या का महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के अन्तराधिकरण में विस्तृत विवेचन करते

हुए बतलाया है कि आदित्यमण्डल के भीतर रहकर उनका नियमन करने वाले श्रीभगवान् का दिव्य रूप अत्यन्त मनोज्ञ है, उनकी आँखे विकसित लालकमल के समान अत्यन्त स्पृहणीय हैं।

(४) **आकाशविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की—'अस्य लोकस्य का गतिरिति आकाश इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः एव परायणम्' (छा० उ० १।९।१) इस श्रुति में आकाशविद्या का वर्णन है। ब्रह्मसूत्र के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के आकाशाधिकरण में आकाश शब्द वाच्य के विषय में विस्तृत विवेचन करते हुए महर्षि वादरायण कहते हैं कि यहाँ आकाश शब्द से परमात्मा ही कहे गये हैं। परमात्मा को आकाश शब्द से श्रुति इसलिए कहती है कि वे सबों को प्रकाशित करते हैं तथा वे स्वयं प्रकाशस्वरूप हैं। 'आकाशयति इति आकाशः, अथवा आकाशते इति आकाशः' यह आकाश शब्द की व्युत्पत्ति है। श्रुति से आकाश शब्द का वाच्य महाभूतों में अन्यतम आकाश नहीं हो सकता, क्योंकि महाभूत आकाश सम्पूर्ण जगत् का परायण तथा सम्पूर्ण जगत् का लयस्थान नहीं हो सकता है। इस विद्यामें श्रीभगवान् को निरतिशय प्रकाशमान बतलाया गया है।

(५) **प्राणविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' (छा० उ० १।११।५) इस श्रुति में प्राणविद्या उपक्रान्त की गयी है। इस श्रुति का विस्तृत विवेचन ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के आकाशाधिकरण के 'अत एव प्राणः' (१।१।२४) सूत्र में किया गया है। इस सूत्र में महर्षि बादरायण ने कहा है कि श्रुति सम्पूर्ण जगत् के कारण अखिल-कल्याणगुणसागर ब्रह्म को ही यहाँ पर प्राण शब्द से इसलिए अभिहित करती है कि वे जगत् के भीतर रहकर उसको अनुप्राणित करते हैं। किञ्च उस आकाश शब्द वाच्य को ही जगत् का कारण बतलाया गया है। जगत्कारणत्व परमात्मा का असाधारण धर्म है, अतएव यह श्रुति परमात्मा को चराचर जगत् का प्राण बतलाती है।

(६) **गायत्रीज्योतिर्विद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेषु अनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेषु इदं वाव तद् यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषो ज्योतिः' (छा० उ० ३।१३।७) (अर्थात् इस द्युलोक के ऊपर व्यष्टि एवं समष्टि तत्त्वों से ऊपर उत्तम लोकों में जो ज्योति देदीप्यमान् होकर रहती है; वह यही है कि जो इस शरीर के अन्दर कुक्षिमें रहने वाली ज्योति है।) इस श्रुति से गायत्रीज्योतिर्विद्या का वर्णन उपक्रान्त किया गया है। ब्रह्मसूत्रों के प्रथम अध्याय के प्रथम पाद के ज्योति-अधिकरण में इसका विस्तृत विचार किया गया है। महर्षि बादरायण ने कहा है कि ज्योति शब्द से श्रीभगवान् को ही श्रुति अभिधान करती है। कार्य-साम्य के कारण उन्हें कौक्षेय ज्योति कहा गया है। 'अहं वैश्वा-

नरो भूत्वा' इस वाक्य में भगवान् अपने को जाठराग्नि-शरीरक बतलाते हैं। उस ज्योति को गायत्री कहकर उसे चतुष्पाद इसलिए बतलाया गया है कि जिस प्रकार गायत्री चतुष्पदा होती है, उसी प्रकार 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' श्रुति में ब्रह्म के चार पाद बतलाये गये हैं।

(७) **इन्द्रप्राणविद्या**—इसी को प्रतर्दन विद्या भी कहते हैं। कौषीतकि-ब्राह्मण की—'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिः इन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च' (कौ० ब्रा० उ० ३।१) (अर्थात् दिवोदास का पुत्र प्रतर्दन युद्ध में अपने पौरुषको प्रख्यापित कर इन्द्र के प्रिय धाम में गया है।) इस श्रुति से प्रतर्दन विद्या का उपक्रम किया गया है और इस विद्या में बतलाया गया है कि श्रीभगवान् ही इन्द्र, प्राण आदि चेतनाचेतन के आत्मा हैं।

(८) **शाण्डिल्यविद्या**—इस विद्या का वर्णन छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा अग्निरहस्य उपनिषदों में उपलब्ध होता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषो यथा क्रतुरस्मिन् लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः' (छा० उ० ३।१४।१-२)। अर्थात् यह सब कुछ ब्रह्म ही है, क्योंकि उस ब्रह्म से यह सब कुछ उत्पन्न है, उस ब्रह्म में ही लीन होने वाला है तथा उस ब्रह्म से अनुप्राणित है, इसलिए शान्त होकर ब्रह्म की उपासना करे। यह पुरुष अर्थात् जीव उपासनामय है, इस लोक में पुरुष यादृशप्रकारविशिष्ट ब्रह्म की उपासना करता है, मरने के बाद तादृशप्रकारविशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त करता है तथा उसका अनुभव करता है। यह पुरुष इस प्रकार ब्रह्म की उपासना करे कि वह ब्रह्म मनोमय है अर्थात् परिशुद्ध मन से ग्राह्य है, तथा प्राण-शरीरक है अर्थात् सबका धारक बनने वाला प्राण भी उसका शरीर है। इस विद्या में बतलाया गया है कि ब्रह्म के ही अधीन प्रत्येक पदार्थ की सत्ता, स्थिति एवं लय होते हैं।

(९) **नाचिकेतसविद्या**—इस विद्या का दूसरा नाम 'अत्रिविद्या' भी है। कठोपनिषद् की 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः' (कठो० २।२५) (अर्थात् ब्राह्मण और क्षत्रिय ये दोनों जिसके ओदन हैं अर्थात् भोज्य अन्न हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन अर्थात् व्यंजन है, अर्थात् वह जिस प्रकार से रहता है, उस प्रकार को कौन अच्छी तरह समझ सकता है।) इस श्रुति में नाचिकेतसविद्या वर्णित है। इस विद्या की विस्तृत चर्चा करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—'अत्ता चराचरग्रहणात्' (ब्र० सू० १।२।९)। अर्थात् उपर्युक्त श्रुतिवाक्य में ब्रह्म-क्षत्र रूपी ओदन का जो भोक्ता वर्णित है, वह परमात्मा है; क्योंकि ब्रह्म-क्षत्र शब्दों से चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् ही प्रतिपादित हैं। मृत्यु को व्यञ्जन बनाकर उसकी सहायता से खाया जाने वाला ओदन केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही नहीं है, अपितु उनके द्वारा प्रदर्शित चराचरात्मक सम्पूर्ण जगत् है। इस विद्या में बतलाया गया है कि ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् को लीन कर लेने का सामर्थ्य है।

(१०) **उपकोसलविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की 'य एषोक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति हो वाच एतदमृतमेतदभयमेतद् ब्रह्म' (छा० उ० ४।१५।१) (अर्थात् यह जो नेत्र में पुरुष दिखलायी देता है, यह आत्मा है, ऐसा आचार्य ने कहा, यह अमृत है अर्थात् अत्यन्त भोग्य है; यह अभय है, अर्थात् दुःख से युक्त नहीं है (भय का हेतु दुःख है, भावी दुःख का अनुसन्धान करने पर भय होता है)। यह ब्रह्म है।) इस विद्या में बतलाया गया है कि परमात्मा की स्थिति नेत्रों के भीतर विद्यमान है। 'अन्तर उपपत्तेः' (ब्र० सू० १।२।१३) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि नेत्र के अन्दर विराजमान पुरुष परमात्मा है, क्योंकि संयद्वामत्व इत्यादि कल्याणकारी गुण उनमें ही संगत होते हैं। संयद्वाम का अर्थ है प्रार्थनीय सभी कल्याणकारी गुण।

(११) **अन्तर्यामीविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् की 'यः पृथिव्या तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरम्, यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्यामी अमृतः' (बृ० उ० ५।७) (अर्थात् जो पृथिवी में रहता है, पृथिवी के अन्दर रहता है, जिसे पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी तुम्हारा अमृत आत्मा है।) इत्यादि श्रुति से उपक्रान्त की जाने वाली अन्तर्यामी विद्या में परमात्मा को सम्पूर्ण चेतनाचेतन पदार्थों का अन्तःप्रविश्य नियामक बतलाया गया है। 'अन्तर्याम्यधिदैवाधिलोकादिषु तद्धर्मव्यपदेशात्' (ब्र० सू० १।२।१९) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि 'अधिदैवतम्' 'अधिलोकम्' इत्यादि पदों से युक्त वाक्यों में प्रतिपादित अन्तर्यामी परमात्मा है, क्योंकि सबके अन्दर रहना, सबसे अविदित रहना, सबको शरीर रूप में धारण कर उनकी आत्मा बनना, सबका नियमन करना, सर्वात्मा होना तथा अमृत अर्थात् निर्दोष परमभोग्य बनकर रहना इत्यादि परमात्मा के साधारण धर्मों का यहाँ वर्णन है। इस प्रकार इस विद्या में श्रीभगवान् को सम्पूर्ण जगत् का अन्तःप्रविश्य नियामक बतलाया गया है।

(१२) **अक्षरपरविद्या**—मुण्डकोपनिषत् की—अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० १।१)। 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाशुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।' (मु० २। १।१) अर्थात् अब पराविद्या का निरूपण किया जाता है। परा विद्या वह है, जिससे वह अक्षरब्रह्म ज्ञात होता है। वह ब्रह्म अद्रेश्य (ज्ञानेन्द्रियों का अविषय), अग्राह्य (कर्मेन्द्रियों के द्वारा की जानी वाली क्रियाओं का अविषय), कुलरहित, ब्राह्मण-क्षत्रियादि वर्णों से रहित, चक्षुः-श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियों से रहित, पाणि-पादादि कर्मेन्द्रियों से रहित, नित्य, व्यापक, सर्वान्तर्यामी तथा अत्यन्त सूक्ष्म है। बुद्धिमान लोग उसे सबों का उपादानकारण रूप से साक्षात्कार करते हैं। 'दिव्यो ह्यमूर्तः' श्रुति का अर्थ है कि—दिव्य अर्थात् परमपद में विराजमान, मूर्ति रहित, अजन्मा, सभी वस्तुओं के भीतर-बाहर व्यापक, पुरुष प्राण तथा मन से रहित, शुभ्र निर्विकार अक्षरब्रह्म है,

वह ऐसा है कि अक्षर अर्थात् प्रकृति से भी श्रेष्ठ जीवात्मा से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वह प्रकृति और पुरुष का कारण है। इस विद्या का विवेचन करते हुए 'अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः' (ब्र० सू० १।२।२२) इस सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि अदृश्यत्वादि गुणों से युक्त सम्पूर्ण जगत् का कारण परमात्मा ही अक्षरतत्त्व हैं, क्योंकि परमात्मा को असाधारण सर्वज्ञत्व आदि गुणों से सम्पन्न बतलाया गया है। इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि विराट् रूप की कल्पना में अग्नि आदि ब्रह्म का अङ्ग बनकर रहते हैं।

(१३) **वैश्वानरविद्या**—का वर्णन छान्दोग्योपनिषद् में मिलता है। इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि वैश्वानर ही स्वर्लोक तथा आदित्य आदि के अङ्ग हैं। 'वैश्वानरः साधारणशब्द-विशेषात्' (ब्र० सू० १।२।२५) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि' (छा० उ० ५।११) श्रुति में वैश्वानर शब्द से परमात्मा ही कहे गये हैं। क्योंकि वैश्वानर शब्द के अनेक अर्थों के बतलाने में शक्ति होने पर भी यहाँ वैश्वानर शब्द प्रतिपाद्य अर्थ में सर्वात्मत्व इत्यादि विशेषताओं का वर्णन मिलता है, जो परमात्मा के ही असाधारण धर्म हैं। इस प्रकरण में इन धर्मों से वैश्वानरात्मा को विशेषित किया जाता है।

(१४) **भूमविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् के सातवें अध्याय में इस विद्या का वर्णन उपलब्ध होता है। इस विद्या में परमात्मा को अनन्त ऐश्वर्य-सम्पन्न बतलाया गया है। 'भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्' (ब्र० सू० १।५।७) सूत्र मे महर्षि बादरायण कहते हैं कि 'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमा' (छा० ७।२४)। अर्थात् अत्यन्तानुकूल सुख रूप का दर्शन करते समय मनुष्य दूसरे किसी को भी नहीं देखता है, जिसका श्रवण करता हुआ मनुष्य दूसरे किसी को नहीं जानता है, वही भूमा है, अर्थात् ऊपर उत्कर्षयुक्त स्वरूप है। इस वाक्य में भूमगुणविशिष्ट तत्त्व परब्रह्म ही बतलाया गया है, क्योंकि उसे इस प्रकरण में सम्प्रसाद अर्थात् जीवात्मा से श्रेष्ठ बतलाया गया है। अतएव भूमा परंब्रह्म ही है, क्योंकि उसे अमृतस्वरूप तथा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित बतलाया गया है।

(१५) **गार्ग्यक्षरविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित है। इस विद्यामें श्रीभगवान् को जगत् का नियन्ता बतलाया गया है। 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' (ब्र० सू० १।३।९) सूत्र में इस विषय का विवेचन करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं कि—'एतद्वैतदक्षरं गार्गि' (बृ० उ० ५।८) इस श्रुति में वर्णित अक्षर परमात्मा ही है, क्योंकि अम्बरान्त तत्त्वों का आधार वहीं हो सकता है। वायुयुक्त आकाश को अम्बर कहते हैं। इस अम्बर का अन्तः प्रकृतितत्त्व है। क्योंकि यह अम्बर का कारण है और अम्बर उसका कार्य है। कार्य का अन्त यही है कि वह अपने-अपने कारण में लीन हो जाये। उस अम्बरान्त प्रकृति को धारण करनेवाला परमात्मा है अतः वही अक्षर है।

(१६) **प्रणवोपास्य-परमपुरुषविद्या**—यह विद्या प्रश्नोपनिषद् में वर्णित है। इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि श्रीभगवान् मुक्त पुरुषों के भोग्य हैं। प्रश्नोपनिषत् की 'परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' श्रुति में कहा गया है कि बद्धजीवों से श्रेष्ठ मुक्त जीव उस शरीरान्तर्यामी पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। आगे कहा गया कि—'तमोङ्कारेणैवायनेनान्वेति०' अर्थात् साधक ओंकार रूपी साधन उस परमपुरुष को प्राप्त होता है। उसी को श्रुति में शान्त, अजर, अमृत एवं परपुरुष बतलाया गया है। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ पर ओंकारोपास्य परमात्मा ही है।

(१७) **दहरविद्या**—यह विद्या छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् में चर्चित है। इस विद्या में श्रीभगवान् को सम्पूर्ण जगत् का आधार बतलाया गया है। 'दहर उत्तरेभ्यः' (ब्र० सू० १।३।१४) सूत्रमें महर्षि बादरायण कहते हैं कि छान्दोग्योपनिषद् के 'अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपरे दहरं पुण्डरीकम्' श्रुति के आगे की श्रुति में 'दहराकाशको ही अपहत-पाप्मत्व आदि से विशिष्ट बतलाया गया है। अतएव दहराकाश परमात्मा ही है।

(१८) **अङ्गुष्ठप्रमिताविद्या**—यह विद्या कठोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है। इस विद्या में बतलाया गया है कि श्रीभगवान् सबके हृदय में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान हैं। शारीरक-मीमांसा के प्रथमाध्याय के तृतीय पाद के प्रमिताधिकरण में 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १।३।२३) सूत्र में कहा गया है कि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। ईशानो भूतभव्यस्य' श्रुति में वर्णित अंगुष्ठ परिमाण वाला पुरुष परमात्मा ही है, क्योंकि वहाँ पर 'ईशानो भूतभव्यस्य' शब्द से उसे सम्पूर्ण जगत् का नियन्ता कतलाया गया है, जो परमात्मा का धर्म है।

(१९) **देवोपास्यज्योतिर्विद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि श्रीभगवान् ज्योतिस्वरूप हैं तथा सभी देवताओं के उपास्य हैं। इसविद्या की चर्चा करते हुए देवताधिकरण के 'तदुपर्यापि बादरायणः सम्भवात्' (ब्र० सू० १।३।२५) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि मनुष्यों से ऊपर रहनें वाले देवताओं का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है, क्योंकि उनमें भी विवेकादि साधनसप्तक का होना संभव है।

(२०) **मधुविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि श्रीभगवान् वसु, रुद्र, आदित्य, मरुत् और साध्यों की आत्मा के रूप में उपास्य हैं। इस विद्या की चर्चा महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के प्रथम अध्याय के तीसरे पाद के मधु-अधिकरण में 'मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः' (ब्र० सू० १।३।३०) इत्यादि सूत्रों में की है।

(२१) **संवर्गविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् की इस विद्या का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् अधिकारानुसार सबों के उपास्य हैं। इस विद्या की चर्चा महर्षि बादरायण

ने शारीरक-मीमांसा के अपशूद्राधिकरण के 'शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदा श्रवणात् सूच्यते हि' (ब्र० सू० १।३३) इत्यादि सूत्रों में किया है।

(२२) **अजाशरीरकविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् प्रकृतितत्त्व के नियन्ता हैं। यहाँ पर अजा शब्द से प्रकृति कही गयी है। इस विद्या को 'ज्योतिषां ज्योतिर्विद्या' भी कहते हैं। इस विद्या की चर्चा महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के संख्योपसंग्रहाधिकरण के 'न सङ्ख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च' (ब्र० सू० १।४।११) इत्यादि तीन सूत्रों में की है।

(२३) **बालाकिविद्या**—कौषीतकि-ब्राह्मण तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में चर्चित इस विद्या में इस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् श्रीभगवान् का कार्य है तथा श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् के अभिन्न निमित्तोपादानकारण हैं। महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के जगद्वाचित्वाधिकरण के 'जगद्वाचित्वात्' (ब्र० सू० १।४।१६) इत्यादि तीन सूत्रों में इस ब्रह्मविद्या की विस्तृत चर्चा की है।

(२४) **मैत्रेयीविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् का साक्षात्कार कर लेना मोक्ष का साधन है। शारीरक-मीमांसा के वाक्यान्वयाधिकरण के 'वाक्यान्वयात्' (ब्र० सू० १।४।१९) इत्यादि चार सूत्रों में इस ब्रह्मविद्या की विस्तृत चर्चा महर्षि बादरायण ने की है।

(२५) **द्रुहिणरुद्रादिशरीरकविद्या**—ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के चतुर्थ पाद के अन्तिम सर्वव्याख्यानाधिकरण के 'एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः' (ब्र० सू० १।४।२९) सूत्र में बतलाया गया है कि ब्रह्मा, रुद्र आदि देवताओं के अन्तर्यामी होने के कारण उन देवताओं की उपासना के द्वारा वे प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त सूत्र का अर्थ है कि उदाहृत 'यतो वा इमानि' इत्यादि वाक्यों के विषय में 'जन्माद्यस्य यतः' इत्यादि सूत्रों से वर्णित न्यायसमूहानुसार सभी वेदान्त-वाक्यों की ब्रह्मपरक व्याख्या सम्पन्न हो जाती है। जगत्कारणवादी संदिग्ध वेदान्तवाक्यों की व्याख्या उपर्युक्त न्यायों के अनुसार ब्रह्मपरक ही करनी चाहिए।

(२६) **पञ्चाग्निविद्या**—छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि—श्रीभगवान् के ही अधीन संसार के बन्धन से मुक्ति है। इस विद्या की विस्तृत चर्चा महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के तदन्तरप्रतिपत्त्यधिकरण के 'तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्' (ब्र० सू० ३।१।१) इत्यादि सात सूत्रों में की है।

(२७) **आदित्यस्थाहर्नामकविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि आदित्यमण्डलस्थ श्रीभगवान् ही आदित्यमण्डल के अन्तर्यामी हैं। इस विद्या की चर्चा महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के संबंधाधिकरण के 'सम्बन्धादेवमन्यत्रापि' (ब्र० सू० ३।३।२०) इत्यादि सूत्रों में की है।

(२८) **अक्षिस्थाहन्नामकविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् पुण्डरीकाक्ष हैं। शारीरक-मीमांसा अध्याय तीन के तीसरे पाद के सम्बन्धाधिकरण में महर्षि बादरायण ने इस विद्या की समालोचना की है।

(२९) **पुरुषविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि श्रीभगवान् ही परमपुरुष हैं। शारीरक-मीमांसा के तीसरे अध्याय के तीसरे पाद के पुरुषविद्याधिकरण के 'पुरुषविद्यायामपि चेतरेषामनाम्नानात्' (ब्र० सू० ३।३।२४) सूत्र में महर्षि बादरायण ने इस ब्रह्मविद्या की चर्चा की है।

(३०) **ईशावास्यविद्या**—ईशावास्योपनिषद् में वर्णित इस विद्या का अभिप्राय यह है कि कर्म सहित उपासनात्मक ज्ञान के द्वारा श्रीभगवान् की प्राप्ति होती है। इस ब्रह्मविद्या की चर्चा महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के प्रथम पुरुषार्थाधिकरण में की है।

(३१) **उषस्तिकहोलविद्या**—बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णित इस विद्या का प्रतिपाद्य अर्थ है कि श्रीभगवान् की प्राप्ति के लिए भोजनादि-विषयक नियमों का पालन भी आवश्यक होता है। महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के तृतीय अध्याय के चतुर्थ पाद के सर्वान्नानुमत्यधिकरण में इसका विवेचन किया है।

(३२) **व्याहृतिशरीरकविद्या अथवा न्यासविद्या**—ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के शब्दादिभेदाधिकरण में चर्चित इस विद्या में बतलाया गया है कि श्रीभगवान् व्याहृतियों की आत्मा बनकर मन्त्रमय हैं। इसी विद्या को न्यासविद्या भी कहते हैं। इसका वर्णन महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के 'नानाशब्दादिभेदात्' (३।३।५६) सूत्र में किया है।

न्यासविद्याया वर्णनम्

न्यासविद्या प्रपत्तिः। सा च अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाच्ञा प्रपत्तिश्शरणागतिरित्युक्ता आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्यमित्यङ्गपञ्चकयुक्ता एतद्देहावसाने मोक्षप्रदा। अन्तिमप्रत्ययनिरपेक्षा सकृत्कर्तव्या न्यासश्शरणागतिरित्यादिशब्दवाच्या ज्ञानविशेषरूपा। एषा गुरुमुखाद्रहस्यादिशास्त्रेषु सत्सम्प्रदायपूर्वकं ज्ञातव्येतीह बालबोधनार्थप्रवृत्ते ग्रन्थे न प्रकाश्येति विरम्यते।

अनुवाद—प्रपत्ति को ही न्यासविद्या कहते हैं। प्रपत्ति का स्वरूप निरूपित करते हुए कहा गया है कि प्रपत्ति-व्यतिरिक्त किसी दूसरे साधन से नहीं प्रसन्न होने वाले, अपने अभीष्ट श्रीभगवान् के विषय में महाविश्वासपूर्वक श्रीभगवान् की ही एकमात्र प्राप्ति का साधन मानना तथा उसकी प्राप्ति के लिए श्रीभगवान् से प्रार्थना

करना ही प्रपत्ति कहलाती है, उसे ही शरणागति कहते हैं। शरणागति के पाँच अङ्ग हैं—(१) भगवान् के अनुकूल बने रहने का संकल्प करना। (२) कभी भी भगवान् के प्रतिकूल न होने का निश्चय करना। (३) श्रीभगवान् अवश्य रक्षा करेंगे, इस प्रकार का विश्वास करना। (४) श्रीभगवान् ही एकमात्र हमारे रक्षक हैं, इस प्रकार का दृढ़ विश्वास करना तथा (५) श्रीभगवान् की शरण में अपने को समर्पित कर अपनी दीनता का प्रदर्शन करना। इन पाँच अङ्गों वाली शरणागति इस शरीर-पात के समय में मोक्ष रूपी फल को प्रदान करती है। यह शरणागति ज्ञान-विशेष रूप है। इसे न्यास अथवा शरणागति इत्यादि शब्दों से अभिहित किया जाता है। शरणागति जीवन में केवल एक बार की जाती है। शरणागति मोक्ष प्रदान करने में अन्तिम प्रत्यय की अपेक्षा नहीं रखती है। इस शरणागति को रहस्यादि शास्त्रों में गुरुमुख से सुनना चाहिए, अतएव बालकों के बोधार्थ प्रणीत किये जाने वाले इस ग्रन्थ में उसका प्रकाशन नहीं किया जा रहा है।

न्यासविद्या का महत्त्व

भा० प्र०—उपनिषदों में तीस ब्रह्मविद्याओं का वर्णन है। उनमें एक न्यास-विद्या भी है। इसका वर्णन महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के तृतीय अध्याय के तृतीय पाद के शब्दादिभेदाधिकरण के 'नानाशब्दादिभेदात्' (ब्र० सू० ३।३।५६) सूत्र में किया है। यह न्यासविद्या अन्य भक्तिविद्याओं की अपेक्षा विचित्र है। तैत्ति-रीय नारायण के—'वसुरण्यो विभूरसि प्राणे त्वमसि सङ्घाता ब्रह्मंस्त्वमसि विश्वसृक् तेजोदा त्वमस्यग्नेः वर्चोदास्त्वमसि सूर्यस्य, द्युम्नोदास्त्वमसि चन्द्रमस उपयामगृहीतो-ऽसि ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीतैतद्वै महोपनिषदं देवानां गुह्यं य एवं वेद ब्रह्मणो महिमानमाप्नोति तस्माद् ब्रह्मणो महिमानमित्युपनिषत्' (तै० ना० ७८)। (अर्थात्—हे परमात्मन्! आप सभी वसूपलक्षित देवताओं के उपास्य तथा व्यापक हैं। आप ही सभी कार्यकारणसंघात के संयोजक हैं, सम्पूर्ण जगत् के स्रष्टा हैं, आप ही अग्नि को तेज, सूर्य को ज्योति तथा चन्द्रमा को कान्ति प्रदान करने वाले हैं! दीर्घ-काल के पश्चात् मैंने आपको देखा है। मैं आपकी शरणागति करता हूँ, जिससे कि मैं आपको प्राप्त कर सकूँ। महोपनिषद् में कहा गया है कि भगवच्छेषत्व प्रतिपादक 'ओम्' इस शब्द का उच्चारण करके आत्मसमर्पण करना चाहिए। यह न्यासविद्या देवताओं के लिए भी दुर्विज्ञेय है। जो इस प्रकार से ब्रह्म की महिमा को जानता है, वह मुक्त होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र में न्यास की विधि का वर्णन किया गया है।

न्यासविद्या नामक शरणागति के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीवात्स्य वरदा-चार्य प्रपन्नपारिजात नामक ग्रन्थ के स्वरूप-पद्धति में कहते हैं—

'अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।
तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः॥'

(प्रपन्नपारिजात, स्वरूप-पद्धति–२)

इस श्लोक में प्रपत्ति को ही शरणागति कहा गया है। यह शरणागति याच्ञा रूप है। इसमें प्रार्थना की जाती है कि—हे भगवन् ! आप अपनी ही कृपा से प्राप्त किये जा सकते हैं। आपको प्राप्त करने के लिए आपकी प्रसन्नता से भिन्न अन्य कोई भी उपाय नहीं है। श्रीभगवान् प्रपत्ति द्वारा ही प्रसन्न होते हैं। श्रीभगवान् की प्रसन्नता प्रपत्ति से भिन्न किसी दूसरे साधन से नहीं प्राप्त होती है। श्रीभगवान् की कृपा की प्राप्ति ही जीवों का लक्ष्य है। वही अत्यन्त अभीष्ट है। इस प्रपत्ति के पाँच अङ्ग है। वे अङ्ग ये हैं—(१) आनुकूल्य संकल्प, (२) प्रातिकूल्य का वर्जन, (३) कार्पण्य, (४) महाविश्वास तथा (५) गोप्तृत्ववरण। शरणागति में इन अङ्गों का होना अत्यावश्यक हैं। इनके बिना शरणागति बन ही नहीं सकती है। लोक में भी यह देखा जाता है कि, किसी मनुष्य के पास कोई अनर्घ्य निधि है। वह उसकी रक्षा करने में असमर्थ है। वह जानता है कि अमुक मनुष्य इसकी रक्षा कर सकता है। वह उस मनुष्य के पास जाकर उस रत्न को समर्पित करते हुए निवेदन करता है कि मैं आपका अनुकूल बनकर रहूँगा, मैं आपके प्रतिकूल कभी नहीं होऊँगा, मुझे विश्वास है कि आप इसकी रक्षा कर सकते हैं तथा प्रार्थना किये जाने पर इसकी रक्षा भी करेंगे। मैं इसकी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ। अतः प्रार्थना है कि आप इसके रक्षक बन जायँ। इस प्रकार प्रार्थना करके वह मनुष्य उस वस्तु को उसे समर्पित करके निश्चिन्त हो जाता है। शरणागति में भी 'मैं आपका अनुकूल बनकर रहूँगा' इस प्रकार का संकल्प करना ही आनुकूल्य संकल्प कहलाता है। 'मैं प्रतिकूल नहीं बनूंगा' इस प्रकार का दृढ़ निश्चय होना ही प्रातिकूल्य वर्जन है। मुझे महान् विश्वास है कि 'आप इसकी रक्षा कर सकते हैं तथा प्रार्थना किये जाने पर करेंगे भी' यही कहलाता है महाविश्वास। 'मैं इसकी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ हूँ' यह कार्पण्य है। 'आप रक्षक बन जाइये' यह प्रार्थना गोप्तृत्ववरण कहलाती है। उस अमूल्य रत्न को समर्पण करना ही समर्पण है। इन पाँच अङ्गों के बिना शरणागति नहीं हो सकती है। जो मनुष्य रक्षक के प्रति आनुकूल्य भाव न रखे तथा प्रतिकूलता को न त्यागे तो हो सकता है कि रक्षक उसकी रक्षा के लिए तैयार न हो। असमर्थता को प्रकट किये बिना रक्षक उसकी रक्षा करने के लिए इसलिए तैयार नहीं हो सकता है कि वह सोचेगा कि यह अपनी रक्षा कर सकता है। रक्षक के विषय में सुदृढ़ विश्वास प्रकट किये बिना रक्षक उसकी रक्षा करने के लिए इसलिए तैयार नहीं हो सकता है कि वह सोचेगा कि इसको मेरे रक्षकत्व पर पूर्ण विश्वास नहीं है। रक्षक बनने के लिए यदि प्रार्थना न की जाय तो भी रक्षक रक्षा करने के लिए कटिबद्ध नहीं होगा। अतएव शरणागति में उक्त पाँच अंगों का होना अनिवार्य है। पाँच अङ्गों के होने पर भी यदि कोई रक्षा के भार को समर्पित नहीं करे तो रक्षा का भार न लेने के कारण दूसरे की रक्षा का दायित्व नहीं होता तथा भार समर्पित न होने के कारण शरणागत निर्भय और निश्चिन्त नहीं हो सकता है। अतएव शरणागति में समर्पण का भी होना आवश्यक है।

यह शरणागति भक्ति से भिन्न है। बिना अन्तिम प्रत्यय के भक्ति मोक्ष प्रदान नहीं करती है, किन्तु प्रपत्ति में मोक्ष के लिए अन्तिम प्रत्यय का होना आवश्यक नहीं है। भक्ति के द्वारा वर्तमान शरीरपात के समय ही मोक्ष प्राप्त होना कोई आवश्यक नहीं है, किन्तु प्रपन्न का मोक्ष वर्तमान शरीर के अन्त में ही होता है। भक्ति आजीवन अनुष्ठेय होती है, किन्तु प्रपत्ति जीवन में केवल एक बार की जाती है। इन विषमताओं के रहने पर भी भक्ति और प्रपत्ति, दोनों ज्ञान-विशेष हैं। इन दोनों में विनियोग की भिन्नता के कारण फल की भिन्नता है। प्रपत्ति यद्यपि देखने में अत्यन्त सुकर है, किन्तु इसका तीसरा अङ्ग महाविश्वास का होना अत्यन्त कठिन है।

प्रपत्ति का विस्तृत वर्णन इस यतीन्द्रमतदीपिका में इसलिए नहीं किया गया है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन बालकों को वेदान्ततत्त्व के बोधनार्थ किया गया है। किन्तु शरणागति एक ऐसा विषय है, जिसके रहस्य-ग्रन्थों को आचार्य-मुख से सुनकर ही जाना जा सकता है।

मोक्षोपायविषयकमतान्तरनिरासः

भक्तिप्रपत्त्योरेव मोक्षसाधनत्वेन स्वीकारात् परोक्तोपायनिरासः। यथा वेदबाह्यानां मध्ये केषाञ्चिन्मते देहातिरिक्तात्मनोऽनङ्गीकारात् मोक्षप्रवृत्तिरेव न सम्भवति। अन्येषां मते ज्ञानस्य क्षणिकत्वात्तस्यैवात्मत्वात्कस्य प्रवृत्तिः। सन्तानस्येति चेन्न, अन्यं प्रत्यन्येन हि यत्नो न कार्यः, इति न प्रवृत्तिः। अपरेषां मते (धर्माधर्मा) सत्त्वासत्त्वादि सप्तभङ्गीरीत्यानेकान्तवादान्न प्रवृत्तिः। वैशेषिकादिपक्षे पाषाणकल्पमोक्षे प्रवृत्तिः कस्यापि न सम्भवति। साङ्ख्यादिपक्षेऽपीश्वरानङ्गीकारात् पुरुषस्य वा प्रकृतेर्वा मोक्ष इति संशयान्न प्रवृत्तिः। मायिमते व्यावहारिकवाक्यस्य पारमार्थिकाभेदज्ञानाजनकत्वान्न प्रवृत्तिः। भास्करयादवोक्तकर्मज्ञानसमुच्चयवादोऽप्युक्तन्यायेन निरस्तः। शैवमते तु पशुपतेः प्राप्यत्वस्वीकाराद्वेदविरुद्धभस्मधारणादेः साधनत्वेन स्वीकाराच्च तन्निरासः। एवं मतिर्निरूपिता।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां बुद्धि(धर्मभूतज्ञान)निरूपणं नाम सप्तमोऽवतारः।

अनुवाद—चूंकि सिद्धान्त में भक्ति एवं प्रपत्ति को ही मोक्ष का साधन माना जाता है, अतएव भिन्न-भिन्न वादियों द्वारा उपदिष्ट तत्-तत् मोक्ष के साधनों का मोक्षप्रदत्व खण्डित हो गया। जैसे—अवैदिकों में कुछ ऐसे भी अवैदिक हैं, जो देह को ही आत्मा मानते हैं। उनके मत में देह से भिन्न आत्मा नाम की कोई भी वस्तु

नहीं है, अतएव मोक्षार्थ किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होती है। बौद्ध ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु वह ज्ञान क्षणिक है। क्षणभर के पश्चात् वह विनष्ट हो जाता है, अतएव क्षणान्तर में उसके नहीं रहने के कारण कोई रह ही नहीं जाता है, अतः किसकी मोक्षार्थ प्रवृत्ति होगी ? यदि ज्ञान-संतान की मोक्षार्थ प्रवृत्ति मानें तो यह भी संभव नहीं है; क्योंकि यह कभी संभव नहीं है कि दूसरे के मोक्षार्थ दूसरा प्रयास करे। अतएव उनकी भी मोक्षार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

जैनों के मत में भी मोक्षार्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि जैनमतावलम्बी सप्तभङ्गी नय को स्वीकार करते हैं। उनको हमेशा यह शङ्का बनी रहती है कि मोक्ष है कि नहीं है। अध्यवसाय का अभाव होने के कारण उनके मत में भी मोक्षार्थ प्रवृत्ति असंभव है।

वैशेषिकों तथा नैयायिकों के मत में माना जाता है कि मुक्त जीव मोक्षावस्था में सभी विशेष गुणों से रहित हो जाता है। मोक्षावस्था में जीव पाषाण-कल्प हो जाता है। कोई भी नहीं चाहेगा कि हम पाषाण-कल्प हो जाये। सांख्यों आदि के मत में ईश्वर स्वीकार ही नहीं किया जाता है। अतएव संशय होता है कि मोक्ष किसका होता है, प्रकृति का अथवा पुरुष का ? अद्वैती विद्वानों के मत में किसी की भी मोक्षार्थ प्रवृत्ति इसलिए नहीं हो सकती है कि व्यावहारिक 'तत्त्वमस्यादि' वाक्य पारमार्थिक अभेद ज्ञान के जनक नहीं हो सकते हैं। अतएव अद्वैत मत में भी मोक्षार्थ-प्रवृत्ति अनुपपन्न है। उपर्युक्त प्रकार से ही भास्कराचार्य तथा यादवप्रकाशाचार्य के मत में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का समुच्चय भी मोक्षप्रद नहीं हो सकता है। शैवमत में स्वीकार किया जाता है कि पशुपति ही प्राप्य हैं तथा मोक्ष के साधन भस्मादि का धारण हैं। अतएव विशिष्टाद्वैतदर्शन में उनका मोक्षप्रदत्व नहीं स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार ज्ञान का निरूपण किया गया।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य-प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का बुद्धि(धर्मभूतज्ञान)-निरूपण नामक सातवाँ अवतार समाप्त हुआ।

अथाष्टमोऽवतारः

जीवस्वरूपनिरूपणम्

अथ जीवो निरूप्यते । प्रत्यक्त्वचेतनत्वात्मत्वकर्तृत्वादीनि ईश्वरजीव-साधारणलक्षणानि । प्रत्यक्त्वं नाम स्वस्मै स्वयमेव भासमानत्वम् । चेतनत्वं नाम ज्ञानाश्रयत्वम् । आत्मत्वं शरीरप्रतिसम्बन्धित्वम् । कर्तृत्वं सङ्कल्पज्ञाना-श्रयत्वम् । एवं सामान्यलक्षणलक्षितस्य जीवस्य विशेषलक्षणान्युच्यन्ते । अणुत्वे सति चेतनत्वम्, स्वतः शेषत्वे सति चेतनत्वम् । एवमाधेयत्व-विधेयत्व-पराधीनकर्तृत्व-परतन्त्रत्वादिकमूह्यम् ।

अनुवाद—धर्मभूत ज्ञान के निरूपण के पश्चात् जीव का निरूपण किया जाता है । प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व तथा कर्तृत्व आदि धर्म जीव तथा ईश्वर में समान रूप से पाये जाते हैं । स्वयम् ही (प्रकाशक निरपेक्ष होकर) अपने लिए प्रकाशित होने को प्रत्यक्त्व कहते हैं । ज्ञान का आश्रय होना चेतनत्व कहलाता है । शरीर का प्रति-संबन्धी होना ही आत्मत्व कहलाता है । संकल्प तथा ज्ञान का आश्रय होना ही कर्तृत्व धर्म है । इस प्रकार जीव तथा ईश्वर के सामान्य लक्षण से लक्षित जीव के विशेष लक्षण बतलाये जाते हैं । अणुपरिमाणक होते हुए चेतन होना, स्वभावतः परमात्मा का शेष होते हुए चेतन होना इत्यादि जीव के लक्षण हैं । इसी तरह ईश्वर का आधेय, विधेय होना, पेराधीन कर्ता होना, अथवा परमात्मा का परतन्त्र होना इत्यादि जीव के लक्षणों को भी जानना चाहिए ।

जीव और ईश्वर में कुछ साम्य

भा० प्र०—जीव और ईश्वर दोनों प्रत्यक्तत्त्व हैं । जो द्रव्य अपने लिए प्रका-शित होता है, उसे प्रत्यक् कहते हैं । जीव और ईश्वर दोनों अपने लिए प्रकाशित होते हैं । अपने प्रकाश से होने वाले व्यवहार रूपी फल को स्वयम् प्राप्त करते हैं और ये दोनों अपने ही द्वारा प्रकाशित होते हैं । वे अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक की अपेक्षा नहीं करते हैं । इस प्रकार प्रकाशक निरपेक्ष होकर अपने लिए प्रकाशित होना ही प्रत्यक्त्व कहलाता है । 'चैतन्यमस्त्यस्य इति चेतनः, तस्य भावस्तत्त्वम्' यह चेतनत्व शब्द की व्युत्पत्ति है । इस प्रकार चैतन्य अर्थात् ज्ञान का आश्रय होना ही चेतनत्व कहलाता है । शरीर का प्रतिसंबन्धी होना आत्मत्व कहलाता है । संकल्प तथा ज्ञान का आश्रय होना ही कर्तृत्व कहलाता है । ये चारों धर्म प्रत्यक्त्व, चेतनत्व, आत्मत्व तथा कर्तृत्व, ईश्वर और जीव दोनों मे पाये जाते हैं । क्योंकि जीव तथा ईश्वर अपने प्रकाश से होने वाले व्यवहार रूपी फल को स्वयम् प्राप्त करते हैं तथा

अपने प्रकाश के लिए किसी दूसरे प्रकाशक पदार्थ की अपेक्षा नहीं करते हैं। इसीलिए श्रुतियाँ जीव तथा ईश्वर को 'स्वयं ज्योतिष्' आदि शब्दों से विशेषित करती हैं।

ईश्वर का ज्ञानाश्रयत्व तो श्रुतियों में अत्यन्त प्रख्यात है। ईश्वर की ज्ञानाश्रयता का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' अर्थात् जो परमात्मा सभी वस्तुओं को सामान्य एवं विशेष रूप से जानता है। जीव का तो एक नाम चेतन ही है। उसे चेतन इसलिए माना जाता है कि वह ज्ञानाश्रय है। ज्ञान उसका असाधारण धर्म है, जो उसे ईश्वर-व्यतिरिक्त सभी वस्तुओं से भिन्न सिद्ध करता है।

'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' श्रुति बतलाती है कि ज्ञान एवं बल की क्रिया का कर्तृत्व परमात्मा का स्वाभाविक धर्म है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' श्रुति तो ईश्वर में जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार की क्रिया-कर्तृत्व का प्रतिपादन करती हुई उसके मोक्षप्रदातृत्व रूप क्रिया का प्रतिपादन करती है। कोई भी क्रिया बिना संकल्प एवं ज्ञान के नहीं हो सकती है। किसी भी क्रिया को निर्वर्तित करने के लिए संकल्प का करना आवश्यक है। पुनः उस कार्य में प्रवृत्ति होती है। कर्तृत्व गुण जीव और ईश्वर दोनों में पाया जाता है।

जीव के लक्षण

जीव एवं ईश्वर, दोनों में साम्य को बतलाकर यतीन्द्रमतदीपिकाकार जीव के असाधारण धर्म-निरूपण रूप लक्षणों को बतलाते हैं। वे प्रथम जीव के दो लक्षणों को बतलाते हैं। पहला लक्षण है यह कि जो अल्प परिमाण वाला होते हुए ज्ञाता हो, वह जीव है। इस लक्षण में ईश्वर में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'अणुत्वे सति' यह विशेषण दिया गया है। जड, परमाणु आदि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'चेतनत्वम्' पद का प्रयोग किया गया है। जीव का दूसरा लक्षण है कि जो शेष अर्थात् दूसरे के लिए होते हुए ज्ञाता हो, उसे जीव कहते हैं। जीव का स्वभाव है कि वह ईश्वर के लिए है तथा ज्ञाता भी है। इस लक्षण में ईश्वर में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए 'शेषत्वे सति' इस पद का प्रयोग किया गया है। ईश्वर किसी का भी शेष नहीं है, अपितु वह सबों का शेषी (भोक्ता) है। प्रकृति आदि अचेतन पदार्थों में अतिव्याप्ति को दूर करने के लिए 'चेतनत्वम्' पद का लक्षण में सन्निवेश किया गया है। प्रकृति आदि ईश्वर का शेष तो है, किन्तु वे ज्ञाता नहीं है।

· इसी तरह 'चेतनत्वे सति आधेयत्वम्' 'चेतनत्वे सति विधेयत्वम्' 'चेतनत्वे सति पराधीनकर्तृत्वम्' 'चेतनत्वे सति परतन्त्रत्वम्' इत्यादि भी जीव के लक्षण किये जा सकते हैं। क्योंकि जीव परमात्मा का शरीर है, यह—'य आत्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्' इस श्रुति में श्रुति बतलाती है। अपने आश्रय का आधेय और विधेय होना शरीर का स्वभाव है। जीव भी अपने आत्मभूत परमात्मा का

आधेय और विधेय है, किन्तु इन पाञ्चभौतिक जड-शरीरों से उसकी यह विशेषता है कि जीव ज्ञाता है, जड शरीर ज्ञाता नहीं है, अतएव 'चेतनत्वे सति आधेयत्वम्, विधेयत्वम्' आदि जीव के लक्षण वतलाये जाते हैं। किञ्च शरीर आत्मा के परतन्त्र होता है। आत्मा जिस प्रकार चाहता है, उसी प्रकार शरीर के द्वारा क्रियाएँ की जाती हैं। जीव भी ईश्वर के परतन्त्र रहकर ही सारी क्रियाओं को करता है, अतएव ये सभी लक्षण जीव में उपपन्न होते हैं।

जीवस्य देहेन्द्रियादिभ्यो भिन्नत्वसाधनम्

स च देहेन्द्रियमनःप्राणधीभ्यो विलक्षणः। यथा मम शरीरमिति प्रतीत्या देहाद्व्यावृत्तः। एवं चक्षुषा पश्यामि, श्रोत्रेन्द्रियेण शृणोमि, वाचा वदामीत्यादिप्रत्ययात् बाह्येन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तः। मनसा जानामीति मनसो ज्ञानकरणत्वप्रतीतेः, मम प्राणा इति व्यतिरेकोक्त्या जानाम्यहमिति प्रतीत्या च मनःप्राणज्ञानेभ्यो व्यावृत्तः।

अनुवाद—जीव देह, इन्द्रिय, मन, प्राण एवं ज्ञान से भिन्न है। यह 'मेरा शरीर है' इस प्रतीति से आत्मा देह से भिन्न सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'मैं आँख से देखता हूँ, श्रोत्रेन्द्रिय से सुनता हूँ, वाणी से बोलता हूँ' इत्यादि ज्ञान के द्वारा आत्मा बाह्येन्द्रियों से भिन्न सिद्ध होता है। 'मैं मन से जानता हूँ' इस प्रतीति में मन ज्ञान का साधन प्रतीत होता है, 'मेरे प्राण हैं' इस भेदोक्ति के द्वारा तथा 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति के द्वारा आत्मा मन, प्राण तथा ज्ञान से भिन्न सिद्ध होता है।

भा० प्र०—आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न विचारकों के भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार हैं, अतएव आत्मा के विषय में अनेक प्रकार के वाद हैं। जैसे—देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मन-आत्मवाद, प्राणात्मवाद तथा ज्ञानात्मवाद। इन सभी वादों का संक्षिप्ततम विवेचन नीचे किया जाता है—

देहात्मवाद—सभी वादियों को यह अर्थ मान्य है कि प्रत्येक शरीर में जो पदार्थ 'मैं' 'मैं' इस रूप से अनुभूत होता है, वही आत्मा है। वह आत्मा कौन पदार्थ है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए एक प्रकार के चार्वाक कहते हैं कि देह ही आत्मा है, यह प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध होता है। यह निश्चित है कि आत्मा ज्ञाता है। 'मैं जानता हूँ' इत्यादि अनुभूतियों से पता चलता है कि जो पदार्थ 'मैं' 'मैं' इस शब्द से कहा जाता है, वही आत्मा है। ज्ञान उसका धर्म है। 'मैं' शब्द से शरीर का ही अभिधान होता है, क्योंकि 'मैं मोटा हूँ' 'मैं दुबला हूँ' इत्यादि अनुभवों से पता चलता है कि जो मोटा, दुबला आदि होता है, वही 'मैं' इस शब्द से कहा जाता है। दुबला, मोटा शरीर ही होता है, अतएव शरीर ही आत्मा है। वही अहमर्थ है।

किञ्च देखा जाता है कि घट इत्यादि अचेतन पदार्थ अपनी इच्छा के अनुसार क्रियाओं को नहीं करते हैं और न तो वे इन्द्रियाश्रय ही हैं। किन्तु देखा जाता है कि

शरीर में इच्छानुविधायित्व रूप क्रिया होती रहती है। शरीर इन्द्रियाश्रय भी है। इसलिये भी पता चलता है कि शरीर ही चेतन अहमर्थ आत्मा है। शरीर से भिन्न पदार्थ को आत्मा सिद्ध करने वाले अनुमान प्रत्यक्षप्रमाण से बाधित हो जायेंगे। शरीर को ही आत्मा बतलाते हुए आचार्य बृहस्पति भी कहते हैं—'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।' अर्थात् शरीरारम्भक—पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं। इनके ही विलक्षण संयोग से ज्ञान उसी प्रकार उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मदिरा के आरम्भक द्रव्य किण्वों से मदशक्ति उत्पन्न होती है। इस प्रकार इस विवेचन से सिद्ध होता है कि देह ही आत्मा है।

देहात्मवाद का खण्डन—देहात्मवाद का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि—प्रत्येक मनुष्य अपनी आत्मा को 'मैं' 'मैं' इस रूप से समझता है। आत्मा से भिन्न पदार्थों को वह 'यह' अथवा 'वह' इस रूप से समझता है। अतएव 'मैं', 'यह' एवं 'वह' इन शब्दों से कहे जाने वाले पदार्थ भिन्न-भिन्न हैं। 'मैं' पदार्थ आत्मा है तथा 'यह' एवं 'वह' पदार्थ अनात्मा। आत्मा अपने को सदा 'मैं' इस रूप से ही प्रतीत होती है, किन्तु शरीर 'यह' इस रूप से प्रतीत होता है। जैसे—यह मेरा शरीर है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि जिस प्रकार—'यह मेरी पुस्तक है' 'यह मेरा मकान है' 'यह मेरा खेत है' इत्यादि अनुभवों में 'यह' 'यह' इस रूप से प्रतीत होनेवाले पुस्तक, मकान, खेत इत्यादि अनात्मा हैं, उसी प्रकार 'यह' इस रूप से प्रतीत होने वाला शरीर भी अनात्मा है। वह आत्मा नहीं है। इस प्रकार इन प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर शरीर अनात्मा सिद्ध होता है।

किञ्च चार्वाक शरीर रूपी स्थूल पदार्थ को आत्मा मानते हैं, किन्तु जब मनुष्य ब्राह्येन्द्रियों का नियमन करके तथा मन को सावधान रखकर जब स्वयं को 'मैं' इस रूप से समझता है तो उस समय आत्मा के कर, चरण आदि अवयवों की प्रतीति नहीं होती है। यदि शरीर ही आत्मा होता तो प्रणिधान काल में उसके अवयव कर-चरणादि की भी प्रतीति होती; चूँकि नहीं होती है, अतः सिद्ध होता है कि अवयवी शरीर आत्मा नहीं है। यह तो कभी संभव नहीं है कि अवयवी की प्रतीति हो, किन्तु उसके अवयवों की प्रतीति न हो। इससे सिद्ध होता है कि अहमर्थ आत्मा शरीर से भिन्न है।

किञ्च कुछ चार्वाक अनुमानप्रमाण को भी मानते हैं, उनके समक्ष यह अनुमान भी किया जा सकता है—'मै जानता हूँ' यह प्रतीति शरीर-विषयिणी नहीं, अपितु अर्थान्तर-विषयिणी है, क्योंकि यह प्रतीति प्रणिधान काल में शरीर के अवयवों को प्रकाशित नहीं करती है। शरीर के अवयवों को नहीं प्रकाशित करने वाली प्रतीति शरीर-विषयिणी न होकर अर्थान्तर-विषयिणी ही होती है। जैसे शरीर के अवयवों को नहीं प्रकाशित करने वाली 'यह घट है' यह प्रतीति। चक्षुरिन्द्रिय से होने वाली शरीर-विषयिणी प्रतीति शरीर के इन्द्रियादि को प्रकाशित करती है, यह सभी वादी स्वीकार भी करते हैं।

किञ्च शरीर 'अहम्' प्रतीति का विषय नहीं हो सकता है, क्योंकि वह चक्षुरिन्द्रिय ग्राह्य है तथा 'यह' इस शब्द से अभिहित किया जाता है। 'यह' इस शब्द से अभिहित किये जाने वाले तथा चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य घट के समान। जिस प्रकार घट कभी भी 'अहम्' शब्द से अभिहित नहीं किया जाता है, उसी प्रकार शरीर भी 'अहम्' शब्द से अभिहित नहीं किया जाता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अहम्प्रतीति का विषय शरीर नहीं है।

किञ्च ज्ञान शरीर का कार्य नहीं हो सकता है, क्योंकि 'कारणगुणाः कार्यगुणानारभन्ते' इस नियम के अनुसार जिस प्रकार मदिरा के आरम्भक द्रव्यों के प्रत्येक परमाणु में मदशक्ति विद्यमान पायी जाती है, उसी प्रकार शरीरारम्भक प्रत्येक परमाणुओं में ज्ञान पाया जाता, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता है, अतएव ज्ञान शरीर का कार्य नहीं है, यह सिद्ध होता है।

किञ्च सुख, दुःख, इच्छा इत्यादि शरीर के गुण नहीं है, क्योंकि देखा जाता है कि मर जाने के बाद शरीर तो पड़ा ही रहता है, किन्तु उसमें सुख, दुःख इत्यादि नहीं रह जाते हैं। अतः सिद्ध होता है कि शरीर के गुण इच्छादि नहीं हैं। यदि वे उसके गुण होते तो वे शरीर के गुण रूपादि के समान तब तक उस शरीर में रहते, जब तक कि शरीर रहता।

अतएव शरीर से भिन्न पदार्थ को ही आत्मा अहमर्थ मानना चहिए।

इन्द्रियात्मवाद का प्रतिपादन—कुछ ऐसे भी चार्वाक मतानुयायी हैं, जो इन्द्रियों के ही आत्मत्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि—भले ही देह को आत्मा न माना जाय, किन्तु इन्द्रियों को आत्मा मानने में कोई दोष नहीं है। 'यह' 'यह' इस रूप से प्रतीत होने वाले शरीर को आत्मा से भिन्न माना जाय, यह उचित ही है। किन्तु इन्द्रियों की 'यह' 'यह' इस रूप से प्रतीति नहीं होती है, अतएव उनको अहमर्थ आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है। रूपादि गुणयुक्त स्थूल सावयव शरीर को आत्मा मानने में यह दोष होता है कि अहम्-प्रतीति में शरीर के भासित होते समय उसके उद्भूत रूपादि गुण और अवयवों को भी भासित होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता है, परन्तु इन्द्रियों को आत्मा मानने में यह दोष नहीं होता है, क्योंकि इन्द्रियाँ उद्भूत रूपादि गुणों से युक्त नहीं हैं तथा स्थूल भी नहीं हैं। अतएव इन्द्रियों को आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, उनका इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है। अतएव उनकी 'अहम्' इस रूप से प्रतीति कैसे हो सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि चक्षुरादि इन्द्रियों से होने वाले रूपादि पदार्थ के ज्ञान का आधार चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही हैं। चक्षुरादि के होने पर ही रूपादि का ज्ञान होता है; इनके न होने पर इनका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार जो रूपादि ज्ञान चक्षुरादि से अन्वय-व्यतिरेक रखते हैं, वे ज्ञान चक्षुरादि को ही होते हैं तथा चक्षुरादि में ही रहते हैं। यह

मानने में लाघव है। उन रूपादि ज्ञानों का आश्रय चक्षुरादि से भिन्न पदार्थ को मानने में गौरवदोष है। लोक में देखा जाता है कि जिसके व्यापार से जो फल उत्पन्न होता है, वह फल उस व्यापार के आश्रय बनने वाले पदार्थ में ही रहता है। जैसे—स्नान से होने वाला मालिन्य निवृत्ति रूप फल स्नान करने वाले को प्राप्त होता है तथा अध्ययन रूपी व्यापार से होने वाला अक्षरराशिग्रहण रूपी फल अध्ययन करने वाले को प्राप्त होता हैं, उसी प्रकार इन्द्रियों के व्यापार-सन्निकर्ष से होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी फल भी इन्द्रियों को ही प्राप्त होता है। इस प्रकार इन्द्रिय ज्ञानाधार अहमर्थ जब बनते हैं, तब उनको अतीन्द्रिय एवं अप्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है? इन्द्रिय 'मैं' 'मै' इस रूप से प्रत्यक्ष होने वाले पदार्थ हैं। अतः इनको आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि रूपादि ज्ञान यदि चक्षुरादि इन्द्रियों को होता तो वैसी उसकी अनुभूति होती, किन्तु नहीं होती हैं, अतः चक्षुरादि के रूपादि ज्ञान का आश्रय होने में कोई भी प्रमाण नहीं है? तो यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि 'चक्षु देखता है' 'कान सुनता है' इत्यादि अनुभवों के अनुसार दर्शन एवं श्रवण क्रिया का आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही प्रतीत होती हैं। वराहपुराण के सत्यतपा महर्षि ने भी कहा है—चक्षुरिन्द्रिय देखती है, बोलती नहीं; वागिन्द्रिय बोलती है, देखती नहीं। किञ्च लोक में भी लोग कहते हैं, यह वायु त्वगिन्द्रिय को सुख देती है, यह शब्द श्रोत्रेन्द्रिय को दुःख दे रहा है। इन प्रयोगों से भी इन्द्रियाँ सुख-दुःख आदि का आश्रय प्रतीत होती हैं। अतएव इन्द्रियाँ ही सुखादि को भोगने वाली आत्मा प्रतीत होती हैं।

किञ्च इन्द्रियों के धर्म आत्मा में विद्यमान प्रतीत होते हैं, इससे भी सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आत्मा है। यहाँ ये अनुभव ध्यान देने योग्य हैं कि लोग इन्द्रिय-विकल होने पर समझते हैं कि हम विकल हो गये। इन्द्रियों के अच्छे होने पर वे समझते हैं कि हम अच्छे हैं। इस प्रकार इन्द्रियगत विकलत्व और सकलत्व इत्यादि धर्मों का जो यह अनुभव होता है कि ये धर्म अहमर्थगत हैं, इससे प्रमाणित होता है कि इन्द्रिय ही आत्मा है।

इन्द्रियात्मवाद की समालोचना—इन्द्रियात्मवाद की समालोचना करते हुए विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं—यदि इन्द्रियाँ ही अहमर्थ आत्मा हैं तो जो इन्द्रिय अनुभव करती है, उसीको स्मरण होना चाहिए, दूसरे को नहीं। लोक में देखा जाता है कि यौवनावस्था में देखने की क्षमता रखने वाले मनुष्य वृद्धावस्था में चक्षुरिन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर भी यह स्मरण करते हैं कि 'जो मैं पहले देखा था, वही मैं अब स्पर्श करके जानता हूँ'। इन्द्रियात्मवादी को यहाँ यह मानना होगा कि एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभूत अर्थ का दूसरी इन्द्रिय स्मरण करती है। यह अनुभव इन्द्रियात्मवाद में उपपन्न नहीं हो सकता, क्योंकि जिसने अनुभव किया है, उसको ही स्मरण होना चाहिए; दूसरे को उसका स्मरण असंभव है।

किञ्च प्रश्न उठता है कि इन्द्रियाँ तो अनेक हैं। वे सभी इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् आत्मा हैं अथवा सब मिलकर एक आत्मा हैं? यदि सभी इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् आत्मा हैं तो इन्द्रियान्तर से अनुभूत अर्थ का स्मरण इन्द्रियान्तर के द्वारा असंभव है। किन्तु 'जिसको मैंने जवानी में देखा था उसको मैं स्पर्श कर के जान रहा हूँ' यह स्मरण होता है। किञ्च एक ही शरीर में अनेक आत्माओं के होने का भी प्रसंग होगा।

यदि सम्पूर्ण इन्द्रियों के समूह को मिलाकर एक आत्मा मानें तो भी उचित नहीं होगा। सभी इन्द्रियाँ मिलकर किसी एक वस्तु का अनुभव करती हों, ऐसा देखा नहीं जाता है। और न तो सभी मिलकर किसी एक वस्तु का स्मरण ही करती हैं। किञ्च इन्द्रियों का गुण ज्ञान को मानने पर जो इन्द्रिय विनष्ट हो गयी, उसके द्वारा अनुभूत अर्थ का स्मरण भी इन्द्रियात्मवाद में अनुपपन्न होता है। किञ्च—'द्रष्टुश्चक्षुषो-र्नास्ति जिह्वा' इस सत्यतपा महर्षि के वाक्य का अभिप्राय यह नहीं है कि इन्द्रियाँ रूपादि ज्ञानों का आश्रय हैं, अपितु ऋषि इस प्रकार की वक्रोक्ति इसलिए कहते हैं कि नहीं बोलने पर क्षुत्क्षाम व्याध का परिवार भूखों मर जायेगा। यदि सत्य-सत्य बतला देते हैं तो शरणागत वाराह के वध का पाप लगेगा। अत एव इन्द्रियात्मवाद सर्वथा अनुपपन्न है।

मन-आत्मवाद का प्रतिपादन—तीसरे प्रकार के चार्वाकों का कहना है कि मन को ही आत्मा मानना चाहिए। इस पक्ष में उपर्युक्त दोष नहीं होते हैं। देह के अवयव-समुदायात्मक होने से उसको आत्मा मानने पर उसके विषय में यह विकल्प उपस्थित हुआ कि क्या देह के प्रत्येक अवयव में चैतन्य है अथवा समुदाय में चैतन्य है? दोनों पक्षों में दोष उपस्थित होने से देहात्मवाद को छोड़ना पड़ा। परन्तु मन अवयवसमुदायात्मक् नहीं है। अतः उसको आत्मा मानने पर उपर्युक्त विकल्प स्थान नहीं पाता है। मन-आत्मवाद में उपर्युक्त दोष नहीं लगते। इन्द्रिय-आत्मवाद में यह विकल्प उपस्थित हुआ कि क्या प्रत्येक इन्द्रियाँ आत्मा है अथवा सभी मिलकर आत्मा है? दोनों पक्षों में दोष उपस्थित होने से इन्द्रियात्मवाद छोड़ना पड़ा। किञ्च एक इन्द्रिय के द्वारा अनुभूत अर्थ के विषय में दूसरे इन्द्रिय का स्मरण भी अनुपपन्न होने के कारण इन्द्रियात्मवाद को त्यागना पड़ा। किन्तु मन-आत्मवाद में इस प्रकार का कोई भी दोष नहीं है, क्योंकि मन एक है, अवयवसमुदायात्मक भी नहीं है। वह सभी इन्द्रियों का अधिपति है। वह नष्ट भी नहीं होता, अतएव एक इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी दूसरी इन्द्रिय के द्वारा उसका स्मरण उपपन्न हो जाता है। मन-आत्मवाद के अनुसार—मन ने ही पहले उस इन्द्रिय के द्वारा अनुभव किया तथा इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी विद्यमान मन उस पूर्वानुभूत अर्थ का स्मरण करता है। अतः मन को आत्मा मानने में कोई भी दोष नहीं है।

मन-आत्मवाद का खण्डन—मन-आत्मवाद का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि—मन को आत्मा मानना इसलिए उचित नहीं है कि इस वाद में

अनेक दोष हैं। 'मेरा मन है' इस प्रकार का अनुभव सबको होता है। इस अनुभव से मन और अहमर्थ आत्मा दोनों भिन्न-भिन्न सिद्ध होते हैं। इस अनुभव से मन-आत्मवाद का विरोध होता है। किञ्च आत्मा स्मरणादि क्रियायों का कर्ता है और मन उनका करण है। कर्ता और करण दोनों भिन्न होते हैं। जिस प्रकार करण होने के कारण चक्षुरादि इन्द्रियाँ कर्ता आत्मा नहीं हो सकती हैं, उसी प्रकार करण मन भी स्मरणादि क्रियाओं का कर्ता नहीं हो सकता है। जिस प्रमाण के द्वारा मन की सिद्धि होती है, उसी प्रमाण से मन के करणत्व की भी सिद्धि होती है। बाह्य तथा आभ्यन्तर सभी प्रकार के विषयों के ज्ञान होने में मन का साधकतमत्व रूप करणत्व अपेक्षित होता है। मन से ही वे सब ज्ञान उत्पन्न होते हैं। सब लोगों को यह अनुभव होता है कि सभी बाह्येन्द्रियों के अपने-अपने विषय से सम्बद्ध रहने पर भी सभी इन्द्रियों से उन सभी विषयों का ज्ञान एक साथ नहीं होता है, अपितु वे सभी ज्ञान क्रमशः उत्पन्न होते हैं। ऐसा क्यों होता है ? इसका कारण है कि ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षुरादि इन्द्रियों से भिन्न एक दूसरा भी कारण है। वह जिस इन्द्रिय की सहायता करता है, उसी इन्द्रिय से ज्ञान उत्पन्न होता है। वह क्रम से ही इन्द्रियों की सहायता करता है। समकाल में ही वह सभी इन्द्रियों की सहायता नहीं कर सकता है। अणु-परिमाणक होने के कारण वह एक काल में एक ही इन्द्रिय से संबन्ध रख पाता है। जिस इन्द्रिय से वह संबन्ध रखता है, उसी इन्द्रिय के द्वारा ज्ञान होता है। इन्द्रियों का सहायक तथा उनसे संबन्ध रखने वाला वह साधन मन है। इस प्रकार मन ज्ञान का साधन है, कर्ता नहीं।

किञ्च जिस प्रकार रूपादि ज्ञान का साधन चक्षुरादि इन्द्रियाँ है, उसी प्रकार सुख-दुःख इत्यादि के ज्ञान का साधन भी कोई होना चाहिए। वह साधन मन ही है। मन के द्वारा ही सुखादि के ज्ञान एवं स्मरण होते हैं। जिस प्रकार छेदनादि क्रियाओं के साधकतम कुठारादि हैं, उसी प्रकार ज्ञान रूप क्रियाओं की भी उत्पत्ति किसी करण से होनी चाहिए; वह ज्ञानोत्पादक करण मन ही है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि मन ज्ञान का करण है, कर्ता नहीं।

किञ्च मन-आत्मवादियों से प्रष्टव्य है कि क्या वे स्मरणादि क्रियाओं के साधकतम मन का, स्मरणादि क्रियाओं के कर्ता आत्मा से अभेद मानते हैं अथवा स्मरणादि क्रिया के कर्ता आत्मा को स्मरणादि के साधकतम मन से अभिन्न मानते हैं ? इन दोनों पक्षों में दोष हैं। करण मन को कर्ता आत्मा से अभिन्न मानना असङ्गत है। क्योंकि अनुमान तथा शास्त्र प्रमाण के द्वारा मन ज्ञान क्रिया के करण रूप से ही सिद्ध होता है। अतएव करण-मन को कर्ता-आत्मा मानने पर मन के साधक मूल प्रमाण से ही विरोध होगा। कर्ता और करण में भेद होने से वह द्वितीय पक्ष भी— जिसमें कर्ता आत्मा का करण मन से अभेद कहा गया है— खण्डित हो जाता है। क्योंकि स्मरण आदि का कर्ता आत्मा स्वयं ही स्मरण आदि का करण बनता है, इसमें कोई भी प्रमाण नहीं है।

किञ्च—'मैं जानता हूँ' इस प्रकार ज्ञाता अहमर्थ प्रसिद्ध है । उसका निषेध नहीं हो सकता है । उस ज्ञाता आत्मा को मानना ही होगा । उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है । उस ज्ञाता अहमर्थ को ज्ञानक्रिया को उत्पन्न करने में करण-कारक की अपेक्षा है । करण के रूप में मन का अनुमान किया जाता है । इस प्रकार अनुमान से सिद्ध होनेवाले मन को मानकर ज्ञाता आत्मा का अपलाप नहीं किया जा सकता है । अनुमेय पदार्थ के बल से प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ का अपलाप नहीं हो सकता । यदि यह कहो कि ज्ञाता आत्मा को मान लिया जाय, करण को त्याग दिया जाय, तब तो मन का आत्मत्व सिद्ध नहीं होगा, किन्तु मन का अभाव ही सिद्ध हो जायेगा । मन का अभाव मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि मन को सिद्ध करनेवाले अनुमान और शब्द प्रमाण विद्यमान है । इस विवेचन से सिद्ध होता है कि ज्ञाता आत्मा को मानकर करण मन का अपलाप नहीं किया जा सकता तथा करण मन को मानकर कर्ता आत्मा का अपलाप नहीं किया जा सकता है । ज्ञान का आश्रय अहमर्थ आत्मा तथा करण मन, इन दोनों पदार्थों को मानना ही होगा । करण और कर्ता दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ होते हैं । अतएव ज्ञान का करण बनने वाला मन ज्ञान का आश्रय आत्मा नहीं हो सकता ।

प्राणात्मवाद का प्रतिपादन—एक अन्य प्रकार के चार्वाक प्राण को आत्मा मानते हैं । प्राण को आत्मा सिद्ध करते हुए उनका कहना है कि निम्नलिखित प्रमाणों एवं तर्कों से प्राण आत्मा सिद्ध होता है । शरीर में जब प्राण रहता है, तब शरीर को सात्मक समझा जाता है; शरीर से प्राण के निकल जाने पर उसे निरात्मक समझा जाता है । इस अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है । किञ्च यह सर्वसम्मत अर्थ है कि आत्मा देहादि को तत्-तत् कार्यों में प्रवृत्त करता है । देह, इन्द्रिय और मन की प्रवृत्ति प्राण के अधीन देखी जाती है, इससे भी सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है । किञ्च प्राण को आत्मा शब्द से तथा आत्मा को प्राण शब्द से अभिहित किया जाता है । इसलिये भी प्राण एवं आत्मा में अभेद की सिद्धि होती है । किञ्च देखा जाता है कि जबतक शरीर में प्राण रहते हैं, तबतक कहा जाता है कि जीवित है और प्राण के निकल जाने पर कहा जाता है कि मर गया । ये जीवन और मरण आत्मा की स्थिति और आत्मा के अभाव को लेकर व्यवहृत होते हैं । इससे भी सिद्ध होता है कि प्राण ही आत्मा है । किञ्च—वैदिक आत्मा की इस शरीर से उत्क्रान्ति, लोकान्तर में गमन तथा लोकान्तर से आगमन तभी उपपन्न हो सकता है जब कि प्राण को आत्मा माना जाय । क्योंकि प्राण गतिशील है, अतएव उसके शरीर से उत्क्रमण करने, लोकान्तर में जाने तथा लोकान्तर से आकर पुनः शरीर धारण करने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है । इन सब हेतुओं से प्राण आत्मा सिद्ध होता है । अतः प्राणात्मवाद संग्राह्य है ।

प्राणात्मवाद का खण्डन—विशिष्टाद्वैती दार्शनिक प्राणात्मवाद का खण्डन करते हैं । वे कहते हैं कि प्राण भी वायु-विशेष है । वह प्राण जब नासिका से बाहर निक-

लता है तब स्पर्श करने पर स्पष्ट रूप से वायु-विशेष प्रतीत होता है। जिस प्रकार बाह्य वायु अचेतन है, उसी प्रकार प्राण भी अचेतन ही है। नासिका से निकलने वाला वह प्राण छुए जाने पर घटादि के समान अचेतन तथा अनात्मा उपलब्ध होता है, उसे आत्मा नहीं माना जा सकता है। किञ्च सबको यह अनुभव है कि सुषुप्तिकाल में आत्मा निर्व्यापार होकर रहता है, उस समय भी प्राण अपना व्यापार करता रहता है। प्राण व्यापार के प्रभाव से ही सुप्त पुरुष का अन्न सप्तधातु रूप में परिणत होता है तथा श्वास एवं प्रश्वास चलते रहते हैं। सव्यापार प्राण और निर्व्यापार आत्मा एक पदार्थ नहीं बन सकते। किञ्च सुषुप्तिकाल में प्राण जाग्रत होकर जब इतना कार्य करता रहता है तब उसको बोध क्यों नहीं होता है ? जाग्रत होकर इतना कार्य करे और उसको बोध बिल्कुल न हो, यह महान् आश्चर्य है !! इससे पता चलता है कि श्वास-प्रश्वास आदि कार्यों को करने वाला प्राण आत्मा से भिन्न है। आत्मा और प्राण दोनों को एक नहीं माना जा सकता है।

किञ्च यह सबको अनुभव होता है कि 'ये मेरे प्राण है।' इस अनुभव से आत्मा अहमर्थ से प्राण भिन्न सिद्ध होता है। किञ्च जिस प्रकार शरीर संघातस्वरूप है, उसी प्रकार प्राण भी संघात रूप है, क्योंकि वह प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—इन दस प्रकारों का होता है। शरीर के विषय में वर्णित विकल्प प्राण के विषय में भी इस प्रकार प्रवृत्त होता है कि प्राण, अपान इत्यादि दस प्राणों में क्या प्रत्येक वायु आत्मा है या इनका समुदाय आत्मा है, दोनों ही पक्ष देहात्मवाद की परीक्षा में 'वर्णित' रीति से दोष-दूषित है। अतएव प्राण आत्मा नहीं है।

किञ्च प्राण को आत्मा सिद्ध करने के लिए जितने कारण प्रदर्शित किये गये हैं, वे सब अन्यथासिद्ध हैं। आत्मा प्राण के साथ शरीर में रहता है तथा प्राण के साथ शरीर से बाहर निकलता है। अतएव प्राण के रहने पर शरीर को सात्मक तथा प्राण के नहीं रहने पर शरीर को निरात्मक मानना युक्तियुक्त है। तथा प्राण की स्थिति में जीवन का व्यवहार तथा प्राण के निकलने पर मरण का व्यवहार भी प्राणातिरिक्तात्मवाद में संगत होता है। यह कथन कि—देहादि के व्यापार का कारण होने से प्राण को आत्मा मानना चाहिए—समीचीन नहीं है, क्योंकि ज्ञान और इच्छा आदि भी देहादि के व्यापार का कारण हैं, परन्तु वे आत्मा नहीं हैं। अनेकार्थक होने के कारण प्राण के लिए आत्मा शब्द का तथा आत्मा के लिए प्राण शब्द का प्रयोग होता है। अतएव प्राण एवं आत्मा में अभेद की सिद्धि नहीं हो सकती है। किञ्च सिद्धान्त में यह माना जाता है कि जिस प्रकार स्पर्शशून्य अणु मन को प्रयत्न और अदृष्ट की प्रेरणा से शरीर से उत्क्रमण, गमन और आगमन इत्यादि होते हैं, उसी प्रकार स्पर्शरहित अणु-आत्मा के भी अदृष्ट की प्रेरणा से शरीर से निर्गमन, परलोक गमन तथा आगमन इत्यादि सम्पन्न होते हैं। अतएव उत्क्रान्ति, गति एवं आगति की सिद्धि के लिए प्राण को आत्मा मानने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। अतः

प्राणात्मवाद साधक हेतुओं के अभाव तथा बाधक हेतुओं के सद्भाव के द्वारा सर्वथा अनुपपन्न है।

बौद्ध तथा अद्वैती विद्वान् लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं। वे ज्ञान-व्यतिरिक्त किसी पदार्थ को आत्मा नहीं मानते हैं।

बौद्धाभिमत ज्ञानात्मवाद का प्रतिपादन—बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है। ज्ञान प्रतिक्षण उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं। एक ज्ञान के बाद दूसरा ज्ञान, उसके बाद तीसरा ज्ञान, इस प्रकार ज्ञान की धारा बनी रहती है। वह धारा ही सन्तान है। वह ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है। क्योंकि ज्ञान अजड़ है। वह आत्मा माना जाता है। लोक में देखा जाता है कि जितने घटादि अनात्मा पदार्थ हैं, वे सब जड़ हैं; ज्ञान अजड़ हैं। अतः इसे आत्मा मानना चाहिए। ज्ञान अजड़ है, क्योंकि वह स्वयम् प्रकाश पदार्थ है। ज्ञान रहते समय में सदा प्रकाशक निरपेक्ष होकर प्रकाशित होता रहता है। ज्ञान को स्वयम् प्रकाश इसलिए भी मानना चाहिए कि ज्ञान के सम्बन्ध के कारण ही घटादि पदार्थों का प्रकाश होता है तथा 'घट प्रकाशित होता है' यह व्यवहार भी होता है। लोक में यह व्याप्ति देखने में आती है कि जिस पदार्थ के संबन्ध से दूसरे पदार्थों के विषय में जो व्यवहार होता है, यदि वैसा धर्म और व्यवहार उस पदार्थ के विषय में अनुभूत होता हो तो मानना होगा कि उस पदार्थस्वरूप के कारण ही उस पदार्थ में वह धर्म तथा व्यवहार होता है। यह नहीं कि उस पदार्थ के संबन्ध के कारण वैसा होता हो। जैसे रूप के संबन्ध के कारण घटादि पदार्थों में चाक्षुषत्व धर्म माना जाता है, क्योंकि रूप वाला होने के क रण ही घटादि पदार्थों के विषय में यह व्यवहार होता है कि घटादि चाक्षुष् हैं। यह चाक्षुषत्व धर्म और चाक्षुषत्व व्यवहार रूप के विषय में संगत होते हैं। क्योंकि रूप भी चाक्षुष् होते हैं। रूप के विषय में होने वाले चाक्षुषत्व धर्म और चाक्षुषत्व व्यवहार क्या रूप के किसी दूसरे रूप से संबद्ध होने के कारण होते हैं ? 'नहीं'। क्योंकि रूप दूसरे रूप से सम्बन्ध नहीं रखता है, किन्तु रूप स्वरूप के कारण ही रूप में चाक्षुषत्व धर्म तथा चाक्षुषत्व व्यवहार होता है। यह उचित ही है कि दूसरों में चाक्षुषत्व धर्म और चाक्षुषत्व व्यवहार का निर्वाहक रूप अपने में चाक्षुषत्व धर्म और चाक्षुषत्व व्यवहार का निर्वाहक हो। इसी प्रकार अपने सम्बन्ध के कारण दूसरे घटादि पदार्थों में प्रकाशधर्म के तथा प्रकाशत्व व्यवहार को सम्पन्न करने वाला ज्ञान अपने में प्रकाशधर्म और प्रकाशमानत्व व्यवहार को स्वयं सम्भाल लें। अतः सिद्ध है कि ज्ञान में प्रकाश स्वरूपप्रयुक्त है, वह ज्ञानान्तर के सम्बन्ध के कारण उत्पन्न नहीं होता है। स्वरूपप्रयुक्त प्रकाश के कारण ज्ञान स्वयम् प्रकाश सिद्ध होता है।

इस स्वयम् प्रकाश ज्ञान को आत्मा मानना चाहिए, क्योंकि वह अजड़ है। इस ज्ञान से व्यतिरिक्त दूसरे पदार्थ ज्ञाता को आत्मा मानने में गौरव-दोष है, क्योंकि ज्ञाता को आत्मा मानने वालों को भी ज्ञान को मानना होगा। अतएव उभयवादी-सम्मत ज्ञान को ही आत्मा मानना चाहिए।

किञ्च अहमर्थ जो ज्ञान के आश्रय रूप में प्रतीत होता है, उसका दूसरा कारण भी है। वह यह है कि ज्ञान क्षणिक है, वह प्रतिक्षण उत्पन्न एवं विनष्ट होता है। इस ज्ञान-सन्तान में दो प्रकार के ज्ञान होते हैं—(१) आलयविज्ञान और (२) प्रवृत्तिविज्ञान। 'मैं' इस रूप में प्रतीत होने वाले ज्ञान आलयविज्ञान कहलाते हैं। नीलादि पदार्थों का उल्लेख करने वाले विज्ञान प्रवृत्तिविज्ञान कहलाते हैं। आलय-विज्ञान प्रवृत्ति-विज्ञान का कारण होने से, 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने वाला आलय-विज्ञान, नीलज्ञान और पीतज्ञान इत्यादि प्रवृत्ति विज्ञानों के आश्रय रूप में भासित होता है। वस्तुतः आश्रयाश्रयिभाव इत्यादि कुछ भी नहीं है। प्राचीन वासना अथवा अविद्या के कारण ही ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय ऐसे अवास्तविक रूपों का उल्लेख करने वाला जो स्वयम्प्रकाश ज्ञान है, वही सत्य है, वही आत्मा है। बौद्धों ने कहा भी है—

'अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥'

अर्थात् बुद्धि रूप आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता से अभिन्न होने पर भी विपरीत ज्ञान में फँसे हुए भ्रान्त पुरुषों को ऐसा प्रतीत होता है कि वह ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञान, ऐसे भेदों से युक्त हो। वास्तव में वैसा भेद है नहीं।

बौद्धाभिमत ज्ञानात्मवाद का खण्डन—बौद्धाभिमत ज्ञानात्मवाद का खण्डन करते हुए विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि—यह जो कहा गया है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की नियम से साथ-साथ प्रतीति होती है, अतः इनमें अभेद मानना चाहिए। यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञेय भिन्न-भिन्न हैं, ज्ञान भी प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न ही उत्पन्न होता है। इसमें किसी भी ज्ञान की ज्ञाता और ज्ञेय के साथ नियमतः प्रतीति नहीं होती है। ज्ञान कभी इस ज्ञान के साथ प्रतीत होता है और कभी दूसरे ज्ञान के साथ। एक ज्ञान के साथ ही ज्ञाता और ज्ञेय प्रतीत होते हों, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान-सामान्य के साथ ज्ञाता और ज्ञेय सदा भासित होते हैं; ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि बौद्धों के मत में व्यक्तियों से व्यतिरिक्त सामान्य रूपी जाति मानी ही नहीं जाती है। उनके द्वारा स्वीकृत अपोह तत्तद् व्यक्ति रूप ही है। किञ्च साहित्य सदा दो वस्तुओं में होता है, ज्ञाता और ज्ञेय की ज्ञान के साथ प्रतीति होती है, इस प्रकार साहित्य के वर्णन से उनमें भेद ही सिद्ध होता है। इस प्रकार अबाधित प्रतीति सिद्ध ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

किञ्च पहले कहा जा चुका है कि 'मैं जानता हूँ' इस प्रतीति के अनुसार ज्ञान अहमर्थ का धर्म तथा अहमर्थ ज्ञान का आश्रय प्रतीत होता है। ज्ञान अहमर्थ के लिए प्रकाशित होता है, क्योंकि ज्ञान से होने वाला व्यवहार रूपी फल अहमर्थ को ही प्राप्त होता है। अतएव ज्ञान परार्थ होता है। उस परार्थ ज्ञान को आत्मा मानना उचित नहीं है। अनन्यार्थ अहमर्थ को ही आत्मा मानना चाहिए।

किञ्च बौद्ध यद्यपि 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रतीत होने वाले ज्ञान को ही आत्मा मानते हैं, फिर भी वे अहमर्थ में ज्ञानाश्रयता को अवास्तविक मानते हैं। किन्तु यह उनकी भूल है, उन्हें ज्ञान, ज्ञाता एवं ज्ञेय तीनों को समान रूप से सत्य मानना चाहिए। अहमर्थ में ज्ञानाश्रयत्व उसी प्रकार सत्य है, जिस प्रकार ज्ञान सत्य है। अतएव ज्ञाता अहमर्थ ही आत्मा है, यह मानना चाहिए।

अद्वैति-सम्मत ज्ञानात्मवाद का प्रतिपादन—अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि विषय-प्रकाशक ज्ञान स्वपरनिर्वाहक न्याय से स्वयम् प्रकाशित है। यह ज्ञान अनित्य नहीं अपितु नित्य है। नित्य होने के कारण ही वह निर्विकार, एक और निर्धर्मक है। इस प्रकार एक, भेद-रहित, निर्धर्मक, निर्विकार, कूटस्थ तथा नित्यप्रकाशैकस्वरूप जो ज्ञान है, वही आत्मा एवं परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा उससे भिन्न नहीं हैं। यह ज्ञान ही वेदान्त-वाक्यों के तात्पर्य का विषय है। इसे ही बतलाने के लिए वेदान्त-वाक्य प्रवृत्त होते हैं। यहाँ पर अद्वैती विद्वानों के ये कथन ध्यान देने योग्य हैं। इष्ट-सिद्धिकार मंगलाचरण में कहते हैं—

'याऽनुभूतिरजाऽमेयाऽनन्तात्माऽऽनन्दविग्रहा।
महदादिजगन्माया चित्रभित्ति नमामि ताम् ॥'

अर्थात् अनुभूति (ज्ञान) अनुभूति होने से ही स्वयं प्रकाश है, स्वयं प्रकाश होने से ही वह अजा अर्थात् नित्य है, अमेय अर्थात् ज्ञान का अविषय है, वह अनुभूति अनन्त है, आत्मा है तथा आनन्दस्वरूप है। इस प्रकार की अनुभूति ही महत्तत्त्व इत्यादि इस जगत् रूपी मायाचित्र की भित्ति है। जिस प्रकार भित्ति में चित्र लिखा जाता है, उसी प्रकार अनुभूति में ही सम्पूर्ण जगत् अध्यारोपित है।

अद्वैति-सम्मत ज्ञानात्मवाद का खण्डन – विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि उपर्युक्त बौद्धाभिमत ज्ञानात्मवाद के खण्डन से ही अद्वैति-सम्मत ज्ञानात्मवाद का भी खण्डन हो जाता है। बौद्धों के ज्ञानात्मवाद को अद्वैती विद्वानों ने वैदिक रूप दे दिया है। यद्यपि बौद्धों के ज्ञानात्मवाद और अद्वैतियों के ज्ञानात्मवाद में यह अन्तर है कि बौद्ध क्षणिक ज्ञान को आत्मा मानते हैं और अद्वैती स्थिर ज्ञान को आत्मा मानते हैं; फिर जो दोष बौद्ध-सम्मत ज्ञानात्मवाद में आते हैं, वे सभी दोष अद्वैति-सम्मत ज्ञानात्मवाद में भी आते हैं। इसके अतिरिक्त अद्वैती विद्वानों के ज्ञानात्मवाद में यह दोष है कि वे ज्ञान को निर्धर्मक मानते हैं। किन्तु कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं होता, जो विषय और आश्रय से रहित हो। अतएव अद्वैति-सम्मत निर्धर्मक ज्ञान अप्रामाणिक है। फलतः वह अहम् प्रतीति रूप आत्मा नहीं हो सकता है। किञ्च आत्मा ज्ञाता है, ज्ञानमात्र नहीं; इस बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—'ज्ञोऽत एव' (ब्र० सू० २।३।१९) इस सूत्र में तीन पद हैं, 'ज्ञः' 'अतः' 'एव'। यहाँ एव पद का ज्ञः एवं अतः इन दोनों पदों से संबन्ध होता है। ज्ञः के साथ एवकार अन्ययोग-व्यावर्तक रूप से अन्वित होता है तथा एव के साथ वह अयोग-

व्यावर्तक रूप से अन्वित होता है। सूत्र का 'अतः' पद पूर्ववर्ती 'नात्मा श्रुतेः' (ब्र० सू० २।३।१८) सूत्र के 'श्रुतेः' पद का परामर्शक है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ है कि आत्मा ज्ञानवान् ही है, ज्ञानमात्र नहीं, यह ज्ञ एव का अर्थ हुआ। 'अतएव' का अर्थ हुआ कि आत्मा के ज्ञातृत्व की सिद्धि श्रुतियाँ करती हैं। क्योंकि छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में जहाँ मुक्तजीवों तथा अमुक्तजीवों के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वहाँ पर यह कहा गया है कि—'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा' (छा० उ० ८।१२।४)। अर्थात् जो यह जानता है कि मैं सूँघता हूँ वही आत्मा है। 'अतएव' का अयोग-व्यावर्तक एवकार बतलाता है कि युक्ति के द्वारा भी आत्मा के ज्ञातृत्व धर्म की सिद्धि होती है।

आत्मा को ज्ञातृत्वधर्मावच्छिन्न सिद्ध करते हुए इस सूत्र के ज्ञः पद के शाङ्करभाष्य में भी कहा गया है—'ज्ञो नित्यचैतन्योऽयमात्मात एव।' अर्थात् अतएव आत्मा नित्यचैतन्यरूपी गुणवाला है। 'नित्यं चैतन्यं यस्याऽसौ' यह 'नित्यचैतन्यः' इस पुंल्लिङ्ग पद का विग्रह है। इस प्रकार अद्वैति-सम्मत ज्ञानमात्र जब आत्मा नहीं हो हो सकता है तो फिर उसके निर्विकारत्व आदि की परीक्षा प्रकृत में अनावश्यक है।

आत्मनः अणुपरिमाणकत्वसमर्थनम्

स चाणुपरिमाणः। उत्क्रान्त्यादिश्रवणात्प्रमाणानुसाराच्च। अणुत्वे युगपदनेकविषयानुभवः कथमिति न शङ्कनीयम्। धर्मभूतज्ञानव्याप्त्योपपत्तेः। एतेनैव सौभरिप्रभृतीनां मुक्तानां च युगपदनेकशरीरपरिग्रहोऽपि सम्भवति।

अनुवाद—उस आत्मा का अणु परिमाण है, क्योंकि आत्मा के उत्क्रान्ति आदि सुने जाते हैं तथा श्रुतियाँ उसके अणुपरिमाणकत्व का समर्थन करती हैं। यहाँ पर यह शंका नहीं की जा सकती है कि यदि आत्मा अणु है तो समकाल में ही वह अनेक विषयों का अनुभव कैसे करता है ? क्योंकि जीवो का धर्मभूतज्ञान व्यापक है। इसीलिए सौभरी आदि का तथा मुक्तजीवों का समकाल में ही अनेक शरीरों का ग्रहण भी सम्भव है।

आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन

भा० प्र०—आत्मा के परिमाण के विषय में भी दार्शनिकों का मतभेद है। विशिष्टाद्वैती मानते हैं कि यह आत्मा अणुपरिमाण वाला है। 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश' (मु० उ० ३।१।९) श्रुति बतलाती है कि यह आत्मा अणुपरिमाण वाला तथा परिशुद्ध मन के द्वारा जानने योग्य है, जिसमें प्राण पाँच प्रकार से संबद्ध है। इस श्रुति में आत्मा को साक्षात् अणु शब्द से अभिहित करके उसके परिमाण को बतलाया गया है। 'स्वशब्दोन्मानाभ्यान्च' (ब्र० सू० २।३।२३) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि श्रुति साक्षात् अणु शब्द से आत्मा को अभिहित करती है। किञ्च उन्मान के द्वारा भी आत्मा अणुपरिमाण

वाला सिद्ध होता है। जहाँ पर किसी (अणुपरिमाण वाले) वस्तु का दृष्टान्त देकर किसी वस्तु को उसी के सदृश बतलाया जाये तो उसे उन्मान कहते हैं। श्रुति भी अणु-परिमाण वाली वस्तु का दृष्टान्त देकर जीव को भी अणुपरिमाण वाला बतलाती है। जैसे 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय:' (श्वे० ५।९)। अर्थात् बाल के अग्रभाग को सौ खण्डों में विभक्त करने पर उसका एक खण्ड जो हो उसके सौवें भाग के सदृश सूक्ष्म परिमाण जीव का परिमाण हो सकता है। 'आराग्रमात्रोऽह्य वरोऽपि दृष्ट:' (श्वे० ५।८) श्रुति बतलाती है कि अवर अर्थात् जीवात्मा का भी आरा (चमड़े को सीनेवाली अत्यन्त छोटी और तीक्ष्ण सूई) के अग्रभाग के सदृश ही समाधिकाल में साक्षात्कार किया जाता है।

आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन करते हुए महर्षि बादरायण 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' (ब्र० सू० २।३।२०) सूत्र में कहते हैं कि श्रुतियाँ बतलाती हैं कि यह आत्मा शरीर-त्याग काल में इस शरीर से उत्क्रमण करता है तथा वह धूमयान अथवा देव-यान आदि मार्गों से तत्तत् लोकों में गमन करता है। वहाँ वह अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार सुकृत एवं दुष्कृतरूपी फलों का भोग करके पञ्चाग्नि आदि के माध्यम से पुन: इस लोक में आता है। आत्मा के इस शरीर से उत्क्रमण का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—'तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्य:' (बृ० उ० ६।४।२)। अर्थात् हृदय में होनेवाले प्रकाश के द्वारा नाड़ी को जान कर नाड़ी के द्वारा यह जीवात्मा शरीर का त्याग करते समय नेत्रों से या शिरोभाग से या शरीर के किसी अन्य देश से निकलता है। जीव के लोकान्तर गमन का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—'ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति' (कौषी० उ० १।२)। अर्थात् जो भी जीव शरीर का त्याग करके इस लोक से प्रयाण करते हैं वे सभी चन्द्रलोक में ही जाते हैं। जीव के इस लोक में आगमन का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है कि—'तस्माल्लोकात् पुनरेत्यास्मै लोकाय कर्मणे' (बृ० उ० ६।४।६)। अर्थात् स्वर्गलोक से पुन: वह जीव इस लोक में कर्मों को करने तथा कर्मों का फल भोगने के लिए लौट आता है। यदि जीव को वैशेषिकों के समान विभु माना जाये तो जीव की उत्क्रान्ति, गति एवं आगति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों से विरोध होगा; अतएव आत्मा को अणुपरिमाण वाला ही मानना चाहिए।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि आत्मा अणुपरिमाण वाला है तो फिर वह सम-काल में ही अनेक विषयों का अनुभव कैसे कर सकता है, क्योंकि सुख-दु:ख इत्यादि का अनुभव तो आत्मा को ही होता है। वह यदि अणुपरिमाण वाला है तो वह शरीर के जिस अंश में रहेगा, उसी अंश में होनेवाले वेदनादि का अनुभव कर पायेगा। उसे यह अनुभव नहीं हो सकता कि मेरे हाथ में तो सौख्य है, किन्तु मेरे शिर में वेदना है? इस शंका का समाधान महर्षि बादरायण ने अनेक प्रकार से किया है। 'अवि-रोधश्चन्दनवत्' (ब्र० सू० ४।३।२४) सूत्र में वे कहते हैं कि जिस प्रकार हरिचन्दन

का एक बिन्दु देह के किसी एक अंग में लगाये जाने पर सम्पूर्ण शरीर में वह आह्लाद उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार शरीर के एकदेश में भी रहकर अणुपरिमाणक आत्मा सम्पूर्ण शरीर में व्यापक वेदना आदि का अनुभव करती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

किन्तु यह समाधान बादरायण को स्वाभिमत नहीं है। वे स्वसिद्धान्तानुसार उपर्युक्त शंका का समाधान करते हैं—'गुणाद् वाऽलोकवत्' (ब्र० सू० २।३।२६)। अर्थात् शरीर के हृदय-प्रदेश में रहकर भी आत्मा अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्यापक सुख-दुःख आदि का अनुभव उसी प्रकार से करता है, जिस प्रकार आकाशादि एकदेश में रहकर भी सूर्य, मणि एवं प्रदीप आदि दूर-दूर तक की वस्तुओं को अपने प्रकाश के द्वारा प्रकाशित करते हैं। सूत्र का 'वा' शब्द मतान्तर का व्यावर्तक है। शरीर के एकदेश में भी रहनेवाली आत्मा अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण शरीर को अपना व्याप्य बनाकर रहती है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार को भी यही समाधान अभिमत है। धर्मभूत ज्ञान के व्यापक होने के ही कारण सौभरि महर्षि ने पचास शरीरों को धारण करके तत्-तत् शरीरों से तत्-तत् विषयों का अनुभव किया। इसी प्रकार मुक्तजीव भी मुक्तावस्था में अनेक शरीरों को धारण करके अपने व्यापक धर्मभूत ज्ञान के द्वारा तत्तत् विषयों का अनुभव करते हैं।

जीवानां नित्यत्वसाधनम्

स च नित्यः। पूर्वानुभूतार्थप्रतिसन्धानात्। नित्यश्चेज्जीव उत्पन्नो जीवो नष्ट इति प्रतीतिः कथमिति चेन्न, जीवस्य देहसम्बन्ध उत्पत्तिः। तद्वियोगो नाश इति प्रतिपादनात्। जीवस्वरूपं नित्यमेव।

अनुवाद—वह जीव नित्य हैं, क्योंकि वह पूर्वकाल में अनुभूत विषयों का स्मरण करता है। यहाँ शंका होती है कि यदि जीव नित्य है तो फिर वह उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया इत्यादि प्रकार की प्रतीति कैसे होती है? तो यह शंका इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि मैं पहले ही प्रतिपादित कर चुका हूँ कि जीव का शरीर से होने वाले संबन्ध को उसकी उत्पत्ति कहा जाता है और शरीर से होनेवाले वियोग को जीव का विनाश कहा जाता है। अतएव जीव नित्य ही है।

जीवों की नित्यता का प्रतिपादन

भा० प्र०—जीवों के नित्यत्वानित्यत्व के विषय में दार्शनिकों का मतभेद है। बौद्ध दार्शनिक क्षणिक ज्ञान को आत्मा मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञानात्मा क्षणमात्र स्थायी है। चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं, अतएव उनका कहना है कि जब तक शरीर में आत्मा स्थित रहती है उतने ही काल तक आत्मा जीवित रहती है। ब्रह्मदेव आदि मानते हैं कि जीव प्राकृत-प्रलय-पर्यन्त स्थायी है। औडुलोमी का सिद्धान्त है कि जब तक मोक्ष नहीं हो जाता तब तक जीव रहता है। विशिष्टाद्वैती आत्मा को

नित्य मानते हैं। विशिष्टाद्वैतियों की यह मान्यता श्रुतियों पर आधारित है। वे कहते हैं कि आत्मा नित्य है। इसका नाश नहीं होता है। महर्षि बादरायण—'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' (ब्र० सू० २।३।१८) सूत्र में कहते हैं कि आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि श्रुतियाँ उसके जन्म का अभाव बतलाकर उसको नित्य बतलाती हैं। आत्मा के नित्यत्व का प्रतिपादन करती हुई श्रुति कहती है—'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' (कठो० २।१८)। अर्थात् आत्मा न तो जन्म लेती है और न तो मरती है। 'ज्ञाज्ञौ द्वावजौ' (श्वे० उ० १।९) श्रुति कहती है कि ज्ञ परमात्मा और अज्ञ जीवात्मा दोनों अजन्मा हैं। यह श्रुति जीवों की उत्पत्ति का निषेध करती है। 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे० उ० ६।१३) श्रुति कहती है कि नित्य जीवों से भी नित्य तथा चेतन जीवों से भी श्रेष्ठ चेतन अकेला परमात्मा अनेक जीवों की कामनाओं को पूर्ण करता है। 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे' (कठो० २।१८) श्रुति बतलाती है कि जीवात्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा प्राचीनतम है। इस शरीर के विनष्ट हो जाने पर भी वह विनष्ट नहीं होता है।

यदि कोई कहे कि जीव यदि नित्य है तो जीव के जन्म और मृत्यु का अभिधान कैसे किया जाता है ? तो इसका उत्तर है कि जीव का जो शरीर से सम्बन्ध होता है उसी को लोक में उसकी उत्पत्ति कही जाती है तथा जीव का जो शरीर से वियोग होता है उसे ही लोक में जीव की मृत्यु कहा जाता है। अतएव जीव की नित्यता ही श्रुति-सम्मत है।

जीवानामनेकत्वादिसाधनम्

स च प्रतिशरीरं भिन्नः। एकपरिमाणेषु सर्वेषु घटेष्वेको घट इति प्रतीतिवद् व्रीहिराशौ चैको व्रीहिरिति प्रतीतिवच्च ज्ञानैकाकारतया एकत्व-व्यवहारः, न तु स्वरूपैक्यम्। प्रमाणविरोधात्। स्वतस्सुखी उपाधिवशा-त्संसारः। अयं च कर्ता भोक्ता शरीरी शरीरं च भवति। प्रकृत्यपेक्षया शरीरी। ईश्वरापेक्षया शरीरं च। अस्य प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां स्वयम्प्रकाशत्वं च सिद्धम्। प्रयोगश्च, आत्मा स्वयम्प्रकाशः, ज्ञानत्वात्। धर्मभूतज्ञानवदिति। ज्ञानत्वाणुत्वामलत्वादय एतस्य स्वरूपनिरूपकधर्माः।

अनुवाद—वह जीव प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है। जैसे समान परिमाण वाले घटों में जैसे एक घट है, इस प्रकार की प्रतीति होती है तथा धान-समूह में जैसे एक धान की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सभी जीवों के एकमात्र ज्ञानस्वरूप होने के कारण उनके एकत्व का व्यपदेश होता है। इन सभी जीवों में आकार की एकता होती है, स्वरूप की एकता नहीं होती। क्योंकि स्वरूप की एकता मानने पर जीवों के नानात्व का प्रतिपादन करने वाली ('नित्यो नित्यानाम्' इत्यादि) श्रुति-प्रमाणों से विरोध होगा। जीवात्मा स्वभावतः सुखी है, कर्मोपाधि के कारण उसको संसार प्राप्त होता है।

यह जीव कर्ता, भोक्ता, शरीरवान् तथा परमात्मा का शरीर है। जीवात्मा की प्रकृति शरीर होती है तथा परमात्मा का जीव शरीर होता है। जीवात्मा के स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि प्रत्यक्षप्रमाण तथा श्रुति-प्रमाण के द्वारा होती है। आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व का अनुमान भी होता है—आत्मा ज्ञान स्वरूप होने के कारण धर्मभूत ज्ञान के समान स्वयम्प्रकाश है। ज्ञानत्व, अणुत्व तथा अमलत्व आदि आत्मा के स्वरूप निरूपक धर्म हैं।

भा० प्र०—(क) आत्मा के अनेकत्व की सिद्धि—आत्मा के एकत्व तथा अनेकत्व को लेकर दार्शनिकों में मतभेद है। विशिष्टाद्वैत दर्शन की मान्यता है कि जीव अनेक हैं। प्रत्येक शरीर में रहने वाली आत्मा भिन्न-भिन्न हैं। सौभरी आदि के शरीरों को छोड़कर अन्यान्य प्रत्येक शरीर में अलग-अलग जीव रहते हैं। सौभरी इत्यादि योगियों के अनेक शरीर में एक ही जीव रहता है, क्योंकि वहाँ योगबल से एक ही जीव अनेक शरीरों को धारण करता है। यह अपवाद का विषय है। सामान्यतया प्रत्येक शरीर में जीव अलग-अलग ही रहते हैं। यह इसलिए मानना पड़ता है कि प्रत्येक शरीर में स्मृति, अनुभव, सुख-दुःख, इन्द्रिय एवं प्रयत्न इत्यादि व्यवस्थित रहते हैं। एक शरीर में एक ही जीव के लिए स्मृति, अनुभव, सुख-दुःख, इन्द्रिय और प्रयत्न इत्यादि होते हैं; उस शरीर में रहने वाले जीव को ही इनका अनुभव होता है। एक शरीर में होने वाले सुख-दुःख को दूसरे शरीरों में रहने वाले जीव नहीं समझते। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में जीव भिन्न-भिन्न रहते हैं। उन-उन शरीरों में होने वाले सुख-दुःख इत्यादि का अनुभव उन-उन शरीरों में रहने वाले जीवों को ही होता है। न्यायसूत्र में 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इस सूत्र से सिद्ध किया गया है कि सुख-दुःख आदि की व्यवस्था से आत्मा अनेक सिद्ध होते हैं। सांख्यकारों ने—

> 'जनन-मरण-करणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
> पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव।'

इस कारिका में कहा है कि जन्म, मरण तथा इन्द्रियों में यह व्यवस्था देखने में आती है कि ये सभी पुरुषों के लिए पृथक्-पृथक् हुआ करते हैं। इसी व्यवस्था से पुरुषों में बहुत्व की सिद्धि होती है। यदि सभी पुरुष एक ही व्यक्ति होते तो यह व्यवस्था नहीं होती। क्योंकि उस पक्ष में एक पुरुष के जन्म लेते समय सभी का जन्म हो जाता, एक पुरुष के मरते ही सभी पुरुष मर जाते, एक पुरुष के अन्धा होने पर सभी पुरुष अन्धे हो जाते। किन्तु देखा जाता है कि जब एक पुरुष जन्म लेता है तो दूसरा पुरुष मरता है, तीसरा हँसता एवं आनन्द मनाता है तो चौथा दुःखी होता है और रोता है इत्यादि। और यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष होता तो उसके एक शरीर में कार्यार्थ चेष्टा करने पर सभी शरीरों में समान रूप से चेष्टा होने लगती, किन्तु ऐसा नहीं होता है इसलिए भी प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न पुरुष को स्वीकार करना पड़ता है। किञ्च लोक में यह जो देखा जाता है कि कुछ लोग अधिक सात्त्विक, कुछ

अधिक तामस तथा कुछ लोग अधिक राजस् प्रकृति के होते हैं, ऐसा एकपुरुषवाद में संभव नहीं है। यह वैषम्य अनेक-पुरुषवाद को ही स्वीकारने पर संभव हो पायेगा।

शास्त्रों में अनेक वचन ऐसे मिलते हैं, जो जीवाद्वैत के प्रतिपादक हैं। जैसे—

'यद्यन्योऽस्ति परः कोऽपि मत्तः पार्थिवसत्तम।
तदैषोऽहमयं चान्यो वक्तुमेवमपीष्यते ॥
तस्यात्मपरदेहेषु सतोऽप्येकमयं हि यत्।
विज्ञानं परमार्थो हि द्वैतिनोऽतथ्यदर्शिनः ॥'

विष्णुपुराण के इस वचन का तात्पर्य जीवों का स्वरूपैक्य बतलाना नहीं है, अपितु उनका तात्पर्य सभी जीवों के प्रकार की एकता के प्रतिपादन में है। स्वरूपतः भिन्न-भिन्न होकर भी सभी जीव प्रकारतः ज्ञानस्वरूप हैं। उपर्युक्त वचन का तात्पर्य यह है कि यदि मुझसे भिन्न कोई भी जीव विलक्षण आकार वाला होता तो, हे राजवर्य ! यह कहा जा सकता था कि मैं ऐसा हूँ और दूसरा इस प्रकार का है, किन्तु सभी जीव ज्ञानैकाकार वाले हैं। उनमें स्वरूपतः भेद होने पर भी आकारतः कोई भी भेद नहीं है। अपनी देह तथा दूसरे देहों में रहने वाले जीवात्मा ज्ञानाकार वाले हैं, सभी जीवों का स्वाभाविक रूप उनकी ज्ञानाकारता है, देव-मनुष्य आदि विभिन्न शरीरों के सम्बन्ध के कारण होने वाला भेद तो औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। देवादि आकारों को ही आत्मा का स्वरूप समझने वाले लोग भ्रान्त तथा अतथ्यदर्शी हैं। इन वाक्यों का तात्पर्य जीवों के प्रकार की एकता के बतलाने में है। प्रकार की एकता होने पर भी एक शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे समान आकार वाले घटों को दिखलाता हुआ पुरुष कहता है कि यह एक घट है। एक प्रकार की धान्यराशि को दिखलाता हुआ पुरुष कहता है कि यह एक धान है। घनिष्ठ मित्रता को भी लेकर कहे गये एक शब्द का प्रयोग होता है, जैसे—'रामसुग्रीवयोरैक्यम्।' अर्थात् हे देवि ! राम और सुग्रीव में इस प्रकार से एकता हुई। एक शब्द का व्यवहार अनेक कारणों से होता है। तथा हि—

'अविरोधान्तरङ्गत्वजातिभोगाद्यभेदतः ।
एकोक्तिरपृथक्सिद्धेः देशकालदशादिभिः ॥'

अर्थात्—विरोध का अभाव होने पर, अन्तरङ्गता के बढ़ने पर, जाति की एकता होने पर, भोग की एकता होने पर, देश की एकता होने पर, काल की एकता होने पर, दशा आदि की एकता होने पर तथा अपृथक् सिद्धि होने पर एक शब्द का प्रयोग होता है। इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि प्रत्येक शरीर में जीव पृथक्-पृथक् हैं, सभी शरीरों में एक ही जीव नहीं है।

(ख) जीवों का स्वतः सुखित्व प्रतिपादन—यह जीवात्मा ब्रह्मानन्द रूपी महान् सुख का अनुभव करने के लिए स्वतः अधिकृत है। उस सुख का अनुभव करने का सभी जीवों का उसी प्रकार से अधिकार है जिस प्रकार पिता की सम्पत्ति पर सभी

पुत्रों का समान रूप से अधिकार होता है। ब्रह्मानन्द का अनुभव करना जीव का स्वाभाविक धर्म है। जीव स्वभावतः सभी कर्म के बन्धनों से रहित है। 'एष आत्मा-ऽपहतपाप्माविजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।' यह छान्दोग्य-श्रुति बतलाती है कि जीव स्वभावतः सभी कर्मों के बन्धनों से रहित, जरा-जन्म आदि षड्विकारों से रहित, भूख-प्यास आदि षडूर्मियों से रहित है। वह सत्यकाम है अर्थात् जो चाहता है वह उसे उपलब्ध होता है तथा उसके सभी संकल्प पूरे होते हैं। छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में ही मुक्तजीवों का वर्णन करती हुई श्रुति बतलाती है कि मुक्तजीव के संकल्प करते ही उसके पूर्व जन्म के सभी पितृगण तथा मातृगण उसके समक्ष उपस्थित हो जाते हैं। मुक्तावस्था ही जीव की स्वाभाविक अवस्था है। संसार तो औपाधिक है। संसार का बन्धन तो कर्म-जन्य है।

(ग) जीवों के कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि की स्वाभाविकता—जीव स्वभावतः कर्ता एवं भोक्ता है। उसके ज्ञान-क्रिया-कर्तृत्व की स्वाभाविकता का प्रतिपादन करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—'ज्ञोऽत एव' (ब्र० सू० २।३।१९) अर्थात् जीव स्वभावतः ज्ञान का आश्रय है। कर्तृत्व ही भोक्तृत्व का कारण है। 'कर्त्ता शास्त्रार्थ-वत्त्वात्' (ब्र० सू० २।३।३३) सूत्र में महर्षि बादरायण कहते हैं कि स्वर्ग एवं मोक्ष प्राप्ति के साधनों के अनुष्ठान का विधान करने वाले शास्त्र तभी सफल होंगे जबकि उन अनुष्ठानों के कर्ता जीवों को स्वभावतः कर्ता माना जाय। 'यजेत स्वर्ग-कामः' श्रुति बतलाती है कि स्वर्ग को चाहने वाले को अश्वमेध यज्ञ से परमात्मा का भजन करना चाहिए। 'मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत' श्रुति कहती है कि मोक्ष को चाहने वाले को चाहिए कि वह ब्रह्म की उपासना करे। कर्ता होने के कारण ही जीव भोक्ता है। देव, मनुष्य, तिर्यक्, सरीसृप आदि शरीरों को धारण करने के कारण जीवात्मा शरीर वाला है तथा परमात्मा उसकी आत्मा रूप से भीतर प्रवेश करके उसका नियमन करते हैं, अतएव वह परमात्मा का शरीर भी है। श्रुति कहती है—'य आत्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।' अर्थात् 'जो परमात्मा तुम्हारी आत्मा के भीतर प्रविष्ट होने के कारण आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, आत्मा जिसे जान नहीं पाती, आत्मा जिसका शरीर है, वही अन्तर्यामी अमृत परमात्मा तुम्हारी आत्मा है।' यह महर्षि का उपदेश है।

(घ) आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व का प्रतिपादन—विशिष्टाद्वैत-दर्शन में आत्मा को स्वयम्प्रकाश माना जाता है। स्वयम्प्रकाश का अर्थ है, जो प्रकाशकान्तर निरपेक्ष होकर अपने लिए प्रकाशित होता है। आत्मा भी सदा प्रकाशक-निरपेक्ष रहकर अपने लिए ही सदा 'मैं' 'मैं' इस रूप से प्रकाशित होता है, अतएव आत्मा का स्वयम्प्रकाशत्व प्रत्यक्षसिद्ध है। श्रुतियाँ भी आत्मा को स्वयम्प्रकाश सिद्ध करती हैं। 'अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।' अर्थात् यहाँ पर जीवात्मा स्वयं ज्योति अर्थात् स्वयम् प्रकाश होकर रहता है। 'कतमः आत्मा, योऽयं विज्ञानमयः

प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।' इस श्रुति में पहले प्रश्न किया गया है कि आत्मा कौन है ? इस प्रश्न का समाधान किया गया है कि जो प्राण अर्थात् इन्द्रियों के बीच में रहने वाला तथा हृदय के अन्दर ज्योतिरूप में रहने वाला ज्ञानमय वस्तु है, वही आत्मा है। इन श्रौतवचनों के आलोक में ज्ञान का स्वयम्प्रकाशत्व स्वाभाविक रूप से सिद्ध हो जाता है।

अनुमानप्रमाण के द्वारा भी आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व की सिद्धि होती है। आचार्य श्रीविष्णुचित्त ने ज्ञान के स्वयम्प्रकाशत्व का साधक निम्न अनुमान बतलाया है। तथाहि—आत्मा स्वयम्प्रकाश है, क्योंकि वह ज्ञान है। जिस प्रकार घटादि ज्ञान ज्ञान होने से स्वयम्प्रकाश है, उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप होने के कारण आत्मा भी स्वयम्प्रकाश है, यह मानना उचित है। विष्णुमिश्र ने आत्मा के स्वयम्प्रकाशत्व का अनुमान इस प्रकार से किया है—आत्मा स्वयं प्रकाशित होने वाला पदार्थ है, क्योंकि वह ज्ञान का कर्मकारक बने बिना ही प्रकाशित होता है। जो पदार्थ ज्ञान का कर्मकारक बने बिना ही प्रकाशित होता है, वह स्वयं प्रकाशित होता है। जैसे धर्मभूत ज्ञान। धर्मभूत ज्ञान ज्ञान का कर्मकारक न होकर भी प्रकाशित होता है। आत्मा भी ज्ञान का कर्तृकारक है और ज्ञान का कर्मकारक हुए बिना ही प्रकाशित होता है। अतएव वह स्वयम्प्रकाश सिद्ध होता है।

आत्मा के ज्ञानत्व, अणुत्व एवं अमलत्व आदि स्वरूप-निरूपक धर्म हैं। ज्ञानत्व आत्मा का स्वरूप-निरूपक धर्म है। 'सत्यं ज्ञानम् ।' श्रुति में भी ज्ञानं पद ज्ञानत्वावच्छिन्न का वाचक है, ज्ञान मात्र का नहीं। क्योंकि वहाँ ज्ञानं पद अन्तोदात्त पढ़ा गया है। 'ज्ञानम् अस्यास्ति' इस अर्थ में व्याकरणानुसार 'अर्श आद्यच्' प्रत्यय करने पर 'चितः' सूत्र से अन्तोदात्त स्वर होता है और ज्ञानं पद का अर्थ होता है—ज्ञानवान्। 'ज्ञोऽत एव' सूत्र में आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व प्रतिपादित किया गया है। इसकी चर्चा हम पीछे कर चुके हैं ? आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन पहले ही किया जा चुका है। 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' श्रुति आत्मा को कर्मबन्ध से निसर्गतः रहित बतलाती है। अतएव ये सभी धर्म आत्मा के स्वरूप-निरूपक धर्म हैं।

आत्मविषये मतान्तरनिरासः

एतेन ज्ञानस्य (क्षणिकत्वात्) क्षणिकसन्तानरूप आत्मेति बौद्धपक्षः, भूतचतुष्टयात्मकत्वाद्देहस्य देहावधिक आत्मेति चार्वाकपक्षः, गजदेहे गजपरिमाणः पिपीलिकादेहे पिपीलिकापरिमाणः, अतो देहपरिमाण आत्मेति जैनपक्षः, कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिकं प्रकृतेरेव, न तु पुरुषस्येति साङ्ख्यपक्षः, ब्रह्मांशो जीव इति यादवपक्षः, सोपाधिकब्रह्मखण्डो जीव इति भास्करपक्षः, अविद्यापरिकल्पितैकजीववादपक्षः, अन्तःकरणावच्छिन्नानेकजीववादपक्षः, इत्येवमादयो विरुद्धपक्षा निरस्ताः। विभुत्ववादपक्षोऽपि।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रतिपादन से ही ज्ञान के क्षणिक होने के कारण ज्ञान-सन्तान ही आत्मा है, यह बौद्धों का पक्ष; शरीर के पृथिवी, जल, तेज एवं वायु, इन चार भूतों का संघात रूप होने के कारण जब तक देह रहता है तब तक आत्मा रहती है, यह चार्वाकों का पक्ष; हाथी के शरीर में हाथी के परिमाण वाली तथा चींटी के शरीर में चींटी के परिमाण वाली आत्मा रहती है, यह जैनों का पक्ष; कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं, यह सांख्यों का पक्ष; जीव ब्रह्म का एक अंश (टुकड़ा) है, यह यादवप्रकाशाचार्य का मत; सोपाधिक ब्रह्म का एक खण्ड ही जीव कहलाता है, यह भास्कराचार्य का पक्ष; जीव अविद्या-परिकल्पित है तथा एक है, यह अद्वैती विद्वानों का पक्ष; अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य के अनेक होने के कारण जीव अनेक हैं, यह वाचस्पति मिश्र का पक्ष; इत्यादि सभी विरुद्ध पक्षों का खण्डन हो गया। आत्मा को विभु मानने वालों का भी पक्ष खण्डित हो गया।

भा० प्र०—आत्मा के स्वरूप आदि के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों के विचार भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। बौद्ध क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानते हैं। इस क्षणिक विज्ञानात्मवाद की समालोचना पीछे की जा चुकी है। चार्वाक देह को ही आत्मा मानते हैं। वे कहते हैं कि पृथिवी, जल, तेज एवं वायु, ये चार ही तत्त्व हैं। इनका ही संघात रूप शरीर है। शरीर ही आत्मा है। शरीर-पर्यन्त ही आत्मा स्थायी है। देहात्मवादी की भी समालोचना हम पीछे कर चुके हैं।

देहसमपरिमाणात्मवाद—जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो शरीर जितना ही बड़ा होता है, उस शरीर में उतनी ही बड़ी आत्मा होती है। हाथी के शरीर में आत्मा हाथी के आकार की होती है तथा चींटी के शरीर में आत्मा चींटी के आकार की होती है। देहसमपरिमाणात्मवाद का समर्थन करते हुए वे कहते हैं कि—'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि प्रतीतियों से सिद्ध होता है कि देह का जैसा परिमाण होता है, वैसा ही परिमाण आत्मा का भी होता है। देह जितना ही स्थूल एवं कृश होता है उतना ही स्थूल एवं कृश बनकर शरीर के भीतर आत्मा भी रहती है। इस प्रकार कर्मानुसार विविध शरीरों को धारण करने वाली आत्मा भी तत्-तत् शरीरों के अनुसार परिमाण वाली बन जाती है।

देहसमपरिमाणात्मवाद का खण्डन—किन्तु जैनों का आत्मपरिमाण-विषयक विचार समीचीन नहीं है। जैनों का यह वाद चार्वाकों के देहात्मवाद का अनुसरण करता है। यह दूसरी बात है कि चार्वाक 'मैं स्थूल हूँ' 'मैं कृश हूँ' इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर देह को ही आत्मा मानते हैं, किन्तु जैन भी उन्हीं प्रतीतियों के आधार पर देहसमपरिमाणात्मवाद का समर्थन देह से भिन्न आत्मा को मानकर भी करते ही हैं। इस प्रकार वे भी चार्वाकों के ही समान देहात्माभिमानी हैं। इस देहात्माभिमान के ही कारण वे देहगत परिमाण का आरोप आत्मा में करते हैं, अतएव देहात्माभिमानमूलक देहसमपरिमाणात्मवाद अमान्य है; क्योंकि देह के परिमाण के अनुसार

यदि आत्मा का परिमाण माना जाय तो देह के ही रंग-रूप के समान आत्मा का रंग-रूप भी मानना चाहिए। उन्हें काले शरीर में काली आत्मा तथा गोरे शरीर में गोरी आत्मा स्वीकारना चाहिए। किन्तु जैन विद्वान् ऐसा नहीं मानते हैं; क्यों ? ब्रह्म-सूत्रकार ने 'एवं चात्मा कात्स्न्र्यम्' इत्यादि तीन सूत्रों में देहसमपरिमाणात्मवाद का खण्डन किया है। उन सूत्रों का अर्थ है कि—आत्मा को देह के समान परिमाण वाला मानने पर यह दोष उपस्थित होता है कि हाथी इत्यादि के उतने स्थूल शरीरों में रहने वाली तथा उनके समान परिमाण वाली आत्माओं का उनसे छोटे पिपीलिका इत्यादि शरीर में प्रवेश होने पर वे आत्माएँ पूर्ण रूप से उन शरीरों में अँट नहीं पायेगी, अतएव उन शरीरों में वे आत्माएँ अधूरी ही रहेगी। यदि यह कहें कि गज-शरीर में रहने वाली आत्मा को जब पिपीलिका-शरीर में प्रवेश करना होता है तो वह संकुचित होकर पिपीलिका के ही आकार की हो जाती है। किन्तु ऐसा मानना इस-लिए उचित नहीं है कि आत्मा में संकोच-विकास रूप अवस्थाओं को मानने पर आत्मा को विकार तथा अनित्य मानना होगा। जीवात्मा को अन्त में मोक्षावस्था में जो परिमाण प्राप्त होता है, वही स्थायी परिमाण है, क्योंकि मुक्त होने पर आत्मा को पुनः शरीरान्तर नहीं धारण करना पड़ता है। मुक्त होने पर आत्मा तथा उसका परिमाण सदा एकरूप रहते हैं। ऐसी स्थिति में यही मानना चाहिए कि जीवात्मा का जो परिमाण मोक्षावस्था में होता है, वही परिमाण स्वाभाविक है। संसार में भी जीव का वही परिमाण होना चाहिए, उसमें कोई भी अन्तर नहीं हो सकता है। अत एव जीवात्मा को संसार में देह के समान परिमाण वाली मानना ठीक नहीं है।

सांख्यमत का प्रत्याख्यान—सांख्यमतावलम्बी आत्मा के गुण कर्तृत्व, भोक्तृत्व इत्यादि नहीं मानते हैं। वे कहते हैं कि पुरुष असंग है, अतएव वह निर्विकार एवं कूटस्थ है। कर्तृत्व इत्यादि तो प्रकृति के गुण हैं। आत्मा तो साक्षी मात्र है। जिस प्रकार साक्षी पुरुष उदासीन होने के कारण किसी कार्य को नहीं करता है, वह द्रष्टा-मात्र होता है। उसी प्रकार पुरुष भी द्रष्टा मात्र है। सारे बन्ध एवं मोक्ष तो प्रकृति के होते हैं। अतएव कर्तृत्व इत्यादि प्रकृति के गुण हैं, आत्मा के नहीं। किन्तु सांख्यों का यह मत इसलिए उचित नहीं है कि महर्षि बादरायण ने शारीरक-मीमांसा के द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद के 'कर्ता शास्त्रार्थवत्वात्' सूत्र में जीव के कर्तृत्व गुण की स्वाभाविकता बतलाया है। यदि जीवों को कर्ता न माना जाय तो स्वर्गादि के साधन रूप से तत्-तत् साधनों के अनुष्ठान का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे। यही उक्त सूत्र का अभिप्राय है। कर्तृत्व ही भोक्तृत्व का प्रयोजन है। कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व दोनों परस्पर सम्बद्ध गुण हैं और ये दोनों जीवों के स्वरूप-निरूपक धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

यादवाभिमत ब्रह्मांश-जीववाद की समालोचना—यादवप्रकाशाचार्य के मत में जीव ब्रह्म का अंश है। जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक रूप से भेद तथा अभेद दोनों

स्वीकार किया जाता है। उनके मत में ब्रह्म अंशी है और जीव उसका अंश है। किन्तु यह मत इसलिए समीचीन नहीं है कि इस मत के अनुसार ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त हुआ है। किन्तु ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए उनके मतानुसार ईश्वर को सदा यह अनुभव होगा कि मैं ही अनन्त जीवभाव को प्राप्त हुआ हूँ। जीवों को होने वाले दुःख आदि दोष मुझे ही हो रहे हैं। यहाँ पर यह नहीं कहा जा सकता है कि जीवों के शरीर भिन्न-भिन्न हैं, शरीर-भेद के कारण दूसरे शरीरों में होने वाले सुखादि का पता ईश्वर को नहीं रहता है। अतएव ईश्वर में दोष नहीं लगते हैं; क्योंकि यदि समझने वाला आत्मा एक है तो शरीर का भेद उस ज्ञान को रोक नहीं सकता है। किसी भी शरीर में रहकर आत्मा उससे भिन्न शरीरों में होने वाले सुखादि का अनुभव करेगा ही। सौभरी ने पचास शरीर को धारण करके तत्-तत् शरीरों से होने वाले सुखादि का अनुभव किया। शरीर-भेद उनके सुखादि अनुसन्धान को रोक नहीं सका। किञ्च ईश्वर भी तत्-तत् अवतारों में तत्-तत् शरीरों को धारण करके भी उससे भिन्न अवतारों में अपने किये हुए कार्यों का अनुसंधान करता ही रहा। अतएव इस द्वैताद्वैतवाद में यह दोष है कि सर्वज्ञ ईश्वर को यह सर्वदा अनुसन्धान बना रहेगा कि हम ही विविध शरीरों में विविध प्रकार के सुखादि का अनुभव कर रहे हैं तथा इस संसार में संसरण कर रहे हैं। इस प्रकार ईश्वर में जीव के सभी दोषों के लग जाने के कारण यादवाभिमत ब्रह्मांशजीववाद ठीक नहीं है।

भास्कराभिमत सोपाधिकब्रह्मखण्डजीववाद की समालोचना—भास्कराचार्य के मत में उपाधि और ब्रह्म को छोड़कर तीसरी कोई वस्तु स्वीकार नहीं की जाती है। जिस प्रकार महाकाश घट, पट आदि उपाधियों का संबन्ध पाकर घटाकाश, पटाकाश आदि बन जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म अन्तःकरण इत्यादि जड़ उपाधियों का सम्बन्ध पाकर विविध जीव बन जाता है। इस मत में प्रपञ्च और संसार इत्यादि सत्य हैं। यद्यपि इस मत में शाङ्कर-मत में होने वाले दोष नहीं लगते हैं, किन्तु इस मत में भी जीव और ब्रह्म में स्वरूप की एकता स्वीकारी जाती है। अतएव जीव-ब्रह्मैक्य मानने वालों के मत में होने वाले सभी दोष इस मत में संक्रान्त हो जाते हैं। इस मत के अनुसार उपाधि का सम्बन्ध पाकर ब्रह्म ही जीव बन जाता है। उपाधि-सम्बन्ध के कारण जीव में होने वाले दुःख इत्यादि दोषों के विषय में मानना पड़ेगा कि ये दोष ब्रह्म में भी होते हैं। ऐसी स्थिति में ब्रह्म में अपहतपाप्मत्वादि गुणों का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों का बाध होगा, यह इस मत का सबसे बड़ा दोष है।

उक्त दोष का निराकरण करते हुए यदि द्वैताद्वैतवादी यह कहें कि जिस प्रकार लोक में घटाकाश, मठाकाश आदि परिच्छिन्न होते हैं, किन्तु इन उपाधियों से असंबद्ध महाकाश अपरिच्छिन्न रहता है। घटाकाश और महाकाश में जिस प्रकार का भेद है उसी प्रकार का भेद जीव और ब्रह्म में है। जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश आदि भी परस्पर में भिन्न होते हैं, उसी प्रकार जीव भी परस्पर में भिन्न हैं। जिस प्रकार

घटाकाश, मठाकाश आदि के दोष, गुण आदि का संबन्ध महाकाश से नहीं होता, उसी प्रकार जीवों के दोष इत्यादि से ब्रह्म का सम्बन्ध नहीं होता। जीव कहे जाने वाले उपाधि-सम्बद्ध ब्रह्मप्रदेश पाप एवं दुःख इत्यादि दोषों का भाजन है, उपाधि-संबन्ध रहित ब्रह्मप्रदेश निर्दोष है। उसी ब्रह्म का निर्दोषत्व श्रुति प्रतिपादित करती है। अतः इस मत में श्रुति-विरोध का प्रसंग नहीं है।

किन्तु भास्करमतावलम्बियों द्वारा निर्दिष्ट यह समाधान उसी वस्तु में संगत हो सकता है, जो पदार्थ सावयव हो; निरवयव पदार्थ में यह समाधान संगत नहीं हो सकता है। ब्रह्म निरवयव पदार्थ है। शरीर सावयव पदार्थ है। सभी अंग इसके अवयव हैं अथवा अवयव कहे जा सकते हैं। अंगुलि में सर्पदंश होने पर यदि अंगुलि को काटकर फेंक दिया जाय तो दोष अंगुलि में ही रह जायेगा। अवशिष्ट शरीर उस दोष से बच जायेगा। इसी प्रकार यदि उपाधियुक्त प्रदेश ब्रह्म से अलग किया जा सके तो उपर्युक्त व्यवस्था बन सकती है, किन्तु उपाधियुक्त ब्रह्म-प्रदेश को ब्रह्म से अलग नहीं किया जा सकता है। क्योंकि ब्रह्म निरवयव पदार्थ है। जिस प्रकार आकाश निरवयव पदार्थ हैं, घट एवं पट आदि उपाधियों द्वारा आकाश को काटकर टुकड़ा नहीं किया जाता है, किन्तु वे उपाधि अच्छेद्य आकाश से संयुक्त होते हैं। काटने योग्य अवयव न होने से आकाश सदा निरवयव होकर रहता है। उपाधि-संबन्ध से होने वाले दोष-गुण आकाश में माने जाते हैं। इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिए। ब्रह्म निरवयव पदार्थ है। उसमें कटने योग्य कोई भी अवयव नहीं हैं, अतएव उपाधि उसे काटकर टुकड़े-टुकड़े नहीं कर सकती है, अपितु उपाधि उस अच्छेद्य निरवयव ब्रह्म से बद्ध रहती हैं। उपाधि-संबन्ध से होनेवाले गुण-दोष ब्रह्म में होते हैं। अतएव औपाधिक भेदाभेदवादियों का मत समीचीन नहीं है।

शाङ्कराभिमत अविद्या-कल्पित जीवैक्यवाद की समालोचना—अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म-व्यतिरिक्त सम्पूर्ण जगत् अविद्या-परिकल्पित है। अविद्योपहित चैतन्य को जीव कहा जाता है; यह इस सिद्धान्त की मान्यता है। स्वप्नकाल में दिखलायी देनेवाले जीव जिस प्रकार मिथ्या होते हैं, क्योंकि जगने के बाद उनका बोध हो जाता है। उसी प्रकार तत्त्वमस्यादि जन्य अपरोक्ष ज्ञान हो जाने पर इस प्रपञ्च भ्रम का बाध हो जाता है। जिस प्रकार स्वापकाल में सोनेवाला पुरुष जो स्वप्न देखता है, वही सत्य होता है; उसके अतिरिक्त दिखलायी देनेवाली सभी वस्तुएँ मिथ्या होती हैं, उसी प्रकार वह अविद्योपहित चैतन्य जिस शरीर के भीतर रहकर यह स्वप्न-जगत् देख रहा है वही वास्तविक जीव है, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च मिथ्या है। एक वही आत्मा है, वह निर्विशेष है, किन्तु अद्वैती विद्वानों के मत में यह दोष है कि उनके मत में बन्ध और मोक्ष में कोई अन्तर ही नहीं है। उनसे कहा जाय कि मोक्ष किसे कहते हैं? इसके उत्तर में यदि वे यह कहें कि, वस्तुतः अविद्या का न होना ही मोक्ष है; तब तो उनके मत में बन्धावस्था में भी मोक्ष होगा,

क्योंकि उनके मत में ब्रह्म-व्यतिरिक्त होने के कारण अविद्या भी मिथ्या है। यदि वे यह कहें कि अविद्या का व्यवहार न होना ही मोक्ष है और बन्धदशा मे ही अविद्या का व्यवहार होता है, मोक्ष में अविद्या का व्यवहार नहीं होता है ? तो उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि बन्धदशा में होनेवाला अविद्या का व्यवहार भी उनके मत में अतात्त्विक है। उनके मत में अविद्या का अतात्त्विक व्यवहार मोक्षदशा में भी होता है। इसीलिए तो शुक, वामदेव आदि के मुक्त होने पर भी जगत् में संसार का व्यवहार चलता ही रहता है। उनके मुक्त होने पर भी संसार का व्यवहार बन्द हो गया हो, ऐसी बात तो नहीं है। इस प्रकार अविद्योपकल्पित जीवात्मैक्यवाद में बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था उपपन्न नहीं हो पाती है।

अन्तःकरणावच्छिन्न अनेकजीववाद की समालोचना—श्रीवाचस्पति मिश्र का कहना है कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य ही जीव कहलाता है। अतएव अनन्तानन्त अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित होने के कारण अनन्तानन्त जीवों की उपपत्ति होती है। जीवों की अनन्तता के ही कारण बन्धमोक्ष की व्यवस्था भी अद्वैतवाद में उत्पन्न हो जाती है। वे कहते हैं—ब्रह्म अकेला है। उस अकेले ही ब्रह्म के सभी जीव प्रतिबिम्बभूत हैं। ब्रह्म उन सबों का बिम्बस्थानी है। सुख-दुःखादि जीवों में ही होते हैं, भिन्न-भिन्न जीवों के सुखित्व, दुःखित्व इत्यादि की व्यवस्था उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार एक ही मुख के मणि, कृपाण और दर्पण आदि उपाधियों में जब प्रतिबिम्ब पड़ते हैं तो उन प्रतिबिम्बों में महत्त्व, अल्पत्व, मलिनत्व आदि दोष आते हैं, किन्तु मुख में कोई भी विकार नहीं आता। वह ज्यों का त्यों रहता है। इसी प्रकार सुखित्व, दुःखित्व प्रतिबिम्बभूत जीवों के ही धर्म हैं, ब्रह्म में ऐसा कोई भी धर्म नहीं होता है। यद्यपि जीव और ब्रह्म में कोई भी भेद वास्तविक नहीं है, किन्तु यह जो बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव की व्यवस्था है, वह काल्पनिक है।

इस पर प्रश्न उठता है कि इस व्यवस्था का कल्पक कौन है ? ब्रह्म को इसलिए नही माना जा सकता कि वह निर्विशेष एवं निर्विकार है। जीवों को कल्पक इसलिए नहीं माना जा सकता है कि जीवभाव की प्राप्ति होने पर ही कल्पना होगी और कल्पना के होने पर ही जीवभाव की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होगा। किञ्च जीवाज्ञानवाद का समाश्रयण बन्धमोक्ष की व्यवस्था के कारण ही स्वीकार की जाती है, किन्तु इस मत में भी बन्धमोक्ष की व्यवस्था उपपन्न नहीं हो सकती है; क्योंकि अविद्या का विनाश ही मोक्ष कहलाता है। यदि एक जीव भी मुक्त हो गया तो उसी के साथ अविद्या का विनाश हो जाने से सभी जीव समकाल में ही मुक्त हो जायेंगे। यदि यह कहें कि चूँकि सबों की मुक्ति समकाल में ही नहीं देखी जाती है, अतएव पता चलता है कि अविद्या विनष्ट नहीं होती है ? तो फिर मानना होगा कि आपके मत में किसी की भी मुक्ति नहीं होती; क्योंकि अविद्या का विनाश हुए बिना किसी की भी मुक्ति कैसे होगी ?

यदि यह कहें कि सभी जीवों की अविद्या अलग-अलग होती है तो यहाँ प्रश्न उठता है कि जिस जीव-भेद को स्वीकार करके आप कहते हैं कि प्रत्येक जीव की अविद्या पृथक्-पृथक् होती है; वह जीवों का भेद स्वाभाविक है अथवा अविद्या के द्वारा कल्पित है ? उसे अद्वैती विद्वान् स्वाभाविक नहीं मानते हैं, क्योंकि भेद की सिद्धि के लिए अविद्या की कल्पना करना व्यर्थ होगा। यदि जीवभेद को अविद्या-कल्पित मानें तो प्रश्न उठता है कि यह अविद्या किसकी है ? ब्रह्म की अथवा जीव की ? यदि ब्रह्म को मानें तो फिर जीवाज्ञानवादी भी ब्रह्माज्ञान को स्वीकार कर ही लिए। फलतः जिस प्रकार ब्रह्माज्ञानवाद में बन्धमोक्ष की व्यवस्था अनुपपन्न है, उसी प्रकार इस बाद में भी बन्धमोक्ष की व्यवस्था अनुपपन्न है। भेदकल्पिका अविद्या जीवों की इसलिए नहीं मानी जा सकती है कि वे अविद्या को जीवभेद की सिद्धि के लिए ही स्वीकार करते हैं। जीवभेद की कल्पिका अविद्या जीवों की कल्पना करने से पूर्व जीवों की कैसे हो सकती है ? अतएव जीवाज्ञानवाद में भी बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था अनुपपन्न होने के कारण जीवाज्ञानवाद असमीचीन है।

किञ्च पहले कहा जा चुका है कि जीव का अणुत्व ही श्रुतिप्रमाण-सम्मत है, अतएव जीवों को विभु मानने वाले नैयायिक एवं वैशेषिकों का मत समीचीन नहीं है।

अणूनामपि जीवानामदृष्टजनितदेशान्तरफलोपलब्धेः प्रतिपादनम्

ननु जीवस्य विभुत्वानङ्गीकारेऽदृष्टजनितदेशान्तरफलोपलब्धिः कथमिति चेन्न, जीवस्य सम्बन्धाभावेऽपि अदृष्टवशा(दुपपत्तेः)दुपपद्यते। अदृष्टं नाम, भगवत्प्रीतिजनकजीवकर्तृककर्मविशेषजन्यो ज्ञानविशेषः। स विशेषो भगवत्सङ्कल्प एव विभुस्वरूपं भगवन्तमाश्रितः। अतः फलोपलब्धिरिति न विरोधः।

अनु०—प्रश्न उठता है कि यदि जीव को विभु स्वीकार न किया जाय तो अदृष्टजन्य देशान्तर में होनेवाले फल की उपलब्धि कैसे होगी ? तो यह शंका करना उचित नहीं है, क्योंकि जीवों का उस देश से संबन्ध नहीं होने पर अदृष्ट के कारण उन फलों की उपलब्धि हो जाती है। जीवों द्वारा किये गये कर्म-विशेष से उत्पन्न उस ज्ञानविशेष को अदृष्ट कहते हैं, जिससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। वह ज्ञान-विशेष भगवान् के सत्यसंकल्प रूप है और वह व्यापक स्वरूप वाले श्रीभगवान् के अधीन हैं। अत एव देशान्तर में होनेवाले फल की उपलब्धि होती है, इसमें कोई भी विरोध नहीं है।

अणुपरिमाणक जीवों की देशान्तर में भी फलोपलब्धि का प्रतिपादन

भा० प्र०—नैयायिक एवं वैशेषिक आत्मा को विभु मानते हैं, किन्तु सिद्धान्त में आत्मा को अणुपरिमाण वाला माना जाता है। श्रुतियाँ भी आत्मा को अणुपरिमाणक बतलाती हैं। यहाँ नैयायिक आदि प्रश्न उठाते हैं कि यदि आत्मा अणुस्वरूप

है तो वह किसी देश-विशेष में ही रहेगा। ऐसी स्थिति में देशान्तर में किये गये कर्मों के फलस्वरूप जो अदृष्ट होता है, उससे तत्-तत् फलों की उपलब्धि उसे कैसे होगी ? क्योंकि जीव जिस देश में कर्म करेगा, उसी देश में अदृष्ट उत्पन्न होगा। यदि उस देश से जीव का सम्बन्ध नहीं होगा तो फिर उस जीव को उस कर्मजन्य फल की उपलब्धि कैसे होगी ? तो इस शंका का समाधान यह है कि यद्यपि अणु-परिमाणक जीव का उस देश से सम्बन्ध नहीं होता है, फिर भी उस जीव को देशान्तर में किये गये कर्मजन्य अदृष्टजन्य फल की उपलब्धि होगी ही। क्योंकि जीवों को फल की उपलब्धि साक्षात् कर्म से तो होती नहीं है। सम्पादित करने के अनन्तर क्षण में ही कर्म समाप्त हो जाते हैं। उन कर्मों को करने से एक अदृष्ट पैदा होता है, जो तब तक स्थायी होता है जब तक कि वह उस किये गये कर्म का फल जीव को प्रदान न कर दें। उस अदृष्ट के द्वारा जीव को उसी प्रदेश में फल की उपलब्धि हो जाती है, जिस प्रदेश में जीव रहता है। यदि यह कहें कि देशान्तर में किये गये कर्म से जन्य अदृष्ट देशान्तर-स्थित जीव को कैसे फल प्रदान कर सकता है ? तो इसका उत्तर है कि अदृष्ट एक प्रकार का ज्ञान-विशेष होता है, जो जीवों द्वारा किये गये कर्मों से उत्पन्न होता है तथा श्रीभगवान् की प्रसन्नता को उत्पन्न करता है। वह ज्ञान-विशेष भगवत्संकल्प रूप है। श्रीभगवान् स्वरूपतः सर्वव्यापक हैं। सर्वत्र व्यापक श्रीभगवान् सत्यसंकल्प करते हैं कि अमुक जीव को अमुक प्रकार का फल प्राप्त हो जाय। श्रीभगवान् का इस प्रकार का सत्यसंकल्प होते ही उस जीव को वह फल प्राप्त हो जाता है। फल की प्राप्ति के लिए उस जीव का उस देश से सम्बन्ध होना अन्यथासिद्ध है। अतः जीव के अणुत्व का फलोपलब्धि में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

जीवविभागः

स जीवस्त्रिविधः—बद्धमुक्तनित्यभेदात्।

अनुवाद—जीव तीन प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुक्त एवं नित्य।

बद्धजीवनिरूपणम्

तत्र बद्धा नाम, अनुवृत्तसंसाराश्चतुर्दशभुवनाण्डकटाहवर्तिनो ब्रह्मादि-कीटपर्यन्ताश्चेतनविशेषाः। श्रीमतो नारायणस्य नाभिकमलादुत्पन्नो ब्रह्मा। ब्रह्मणो रुद्रः, पुनर्ब्रह्मणो सनकादियोगिनो नारदादिदेवर्षयो वसिष्ठादि-ब्रह्मर्षयः पुलस्त्यमरीचिदक्षकश्यपादिनवप्रजापतयश्च बभूवुः। तेभ्यो देवा दिक्पालकाश्चतुर्दशेन्द्राश्चतुर्दशमनवोऽसुराः पितरस्सिद्धगन्धर्वकिन्नर-किम्पुरुषविद्याधरादयो वसवो रुद्रा आदित्या अश्विनौ दानवयक्षराक्षस-पिशाचगुह्यकादयश्च। एवं देवयोनयो बहुविधाः। मनुष्या अपि ब्राह्मण-क्षत्रियवैश्यशूद्रादिजातिभेदाद् बहुविधाः। तिर्यञ्चोऽपि पशुमृगपक्षिसरीसृप-

पतङ्गकीटादिभेदाद् बहुविधाः। स्थावरा अपि वृक्षगुल्मलतावीरुत्तृणादिभेदाद् बहुविधाः। वृक्षादीनां जलाहरणाद्युपयुक्तकिञ्चिज्ज्ञानसम्बन्धोऽस्त्येव। अप्राणवत्सु स्वल्पा सेत्युक्तत्वात्। अतो देवमनुष्यतिर्यक्स्थावरभेदभिन्ना बद्धाः। एते पुनर्जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाश्च भवन्ति। देवमनुष्या जरायुजाः। तेषु ब्रह्मरुद्रादयस्सनकादयश्च सीताद्रौपदीधृष्टद्युम्नप्रभृतयो भूतवेतालादयश्चायोनिजाः। तिर्यगादयश्च जरायुजा अण्डजास्स्वेदजाश्च भवन्ति। स्थावरादय उद्भिज्जाः। एवम्भूता बद्धा बीजाङ्कुरन्यायेन विषमप्रवाहतयाऽनादिकालप्रवृत्ताविद्याकर्मवासनारुचिप्रकृतिसम्बन्धैश्चक्रवत्परिवर्तमानैर्गर्भजन्मबाल्ययौवनजागरस्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छाजरामरणस्वर्गनरकगमनादिविविधविचित्रावस्थावन्तोऽनाद्यनन्तप्रकारातिदुस्सहतापत्रयाभितप्ताः स्वतः प्राप्तभगवदनुभवविच्छेदवन्तश्च।

अनुवाद—बद्धजीव वे चेतन-विशेष हैं, जिनका संसार अनुवर्तित होता रहता है। ये जीव चौदह भुवनात्मक अण्डकटाह के अन्तर्गत निवास करते हैं। ऐसे जीव ब्रह्मा से लेकर एक कीट-पर्यन्त हैं। श्रीमन्नारायण के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा से रुद्र उत्पन्न हुए। पुनः ब्रह्मा से सनकादि योगीगण, नारदादि देवर्षिगण, वसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षिगण तथा पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष एवं कश्यप आदि नव प्रजापतिगण उत्पन्न हुए। उन सबों से देवता, दिक्पाल, चौदह इन्द्र, चौदह मनु, असुर, पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष तथा विद्याधर आदि वसुगण, रुद्रगण, आदित्यगण, दोनों अश्विनीकुमार, दानव, यक्ष, राक्षस तथा गुह्यक आदि उत्पन्न हुए। इस प्रकार देवताओं की योनियाँ अनेक प्रकार की होती है। मनुष्य भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र आदि जाति के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। तिर्यक्योनि के जीव भी पशु, मृग, पक्षि, सरीसृप (सरक कर चलने वाले जीव सर्प इत्यादि), पतङ्ग (उड़ने वाले कीड़े), कीट आदि के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। स्थावर जीव भी वृक्ष, गुल्म, लता, वीरुध तथा तृण आदि के भेद से अनेक प्रकार के होते हैं। वृक्ष आदि में भी जल सोखने आदि के अनुकूल कुछ ज्ञान का सम्बन्ध है ही; क्योंकि कहा गया है कि प्राणरहित जीव में अत्यन्त अल्पज्ञान रहता है। इस प्रकार बद्धजीवों के चार भेद हैं—देव, मनुष्य, तिर्यक् एवं स्थावर। बद्धजीवों के दूसरे प्रकार से भी चार भेद किये जाते हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज एवं स्वेदज। इनमें देवता एवं मनुष्य जरायुज हैं। उनमें भी ब्रह्मा, रुद्र आदि देवता, सनकादि योगिगण, सीता-द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न आदि मनुष्य तथा भूत, वेताल आदि देवयोनियाँ अयोनिज हैं। तिर्यग् आदि तो जरायुज, अण्डज तथा स्वेदज भी होते हैं। स्थावर आदि उद्भिज होते हैं। इस प्रकार के बद्धजीव बीजाङ्कुर न्याय से विषम प्रवाह के रूप में अनादि काल से प्रवृत्त अविद्या जन्य सदा परिवर्तित होते रहने वाले कर्म-वासना तथा रुचि, प्रकृति तथा सम्बन्धों के द्वारा गर्भ, जन्म, बाल्य, यौवन, जागर, स्वप्न,

सुषुप्ति, मूर्च्छा, जरा, मरण, स्वर्गगमन, नर्कगमन आदि अनेक प्रकार की विचित्र अवस्थाओं से युक्त होकर, अनादि काल से अनन्त प्रकार के अत्यन्त दुःसह तापत्रय से संतप्त रहते हैं तथा स्वभावतः प्राप्त भगवदनुभव से पराङ्मुख रहते हैं।

भा० प्र०—जीवों के सामान्यतया तीन भेद बतलाए जा चुके हैं। वे भेद हैं—बद्धजीव, मुक्तजीव एवं नित्यमुक्तजीव।

बद्धजीव—बद्धजीव वे हैं, जिनका प्रकृति से संसर्ग बना हुआ है। प्रकृति से सम्बन्ध होने पर ही जीव संसार में संसरण करते हैं। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण ही वह पाप-पुण्य रूप कर्मों को करता है। इन पाप-पुण्य रूप कर्मों को करने के कारण ही उन जीवों का—'एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' (छा० उ० ८।१।५ तथा मैत्रायणी उ० ७।७) (अर्थात् यह आत्मा स्वभावतः कर्मबन्ध विनिर्मुक्त, जरा, मृत्यु, शोक, बुभुक्षा तथा पिपासा रहित एवं सत्यकाम तथा सत्यसंकल्पों वाला है।) इस श्रुति में वर्णित स्वाभाविक स्वरूप तिरोहित हो जाता है। इसीलिए वह संकुचित ज्ञान वाला होकर संसार के आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक नामक तापत्रय रूपी क्लेश, कर्म, कर्मों के परिणाम तथा उनकी वासना से दूषित अन्तःकरण वाला बनकर, अपने किये हुए कर्मों के परिणामस्वरूप सुख, दुःख आदि का अनुभव करता है। प्रकृति के सम्बन्ध के ही कारण वह अनात्मा देहादि को आत्मा समझने लगता है। अनात्मीय वस्तुओं को भी अपना लेना चाहता है। यह संसार चक्राकार है। प्रकृति के सम्बन्ध से संसार होता है। संसार जन्य कर्मों से देह का सम्बन्ध होता है। देह के सम्बन्ध से मिथ्याज्ञान होता है। मिथ्याज्ञान से कर्म होते हैं। उस कर्म से पुनः देह सम्बन्ध होता है। इस प्रकार का संसार-चक्र अनादि है। बद्धजीवों का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः' (मु० उ० ३।१।२ तथा श्वे० ४।७)। अर्थात् शरीररूपी एक ही वृक्ष में विद्यमान जीव नियाम्या माया के द्वारा ग्रस्त होकर, अप्रिय संयोग तथा प्रियजन विप्रयोग रूप शोकों का अनुभव करता है। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वादवत्यनश्नन् चान्यः अभिचाकशीति' (ऋ० अ० २।३।१७; मु० ३।१।१; श्वे० ४।६; ना० उ० ता० १।१; भव सं० २।२)। अर्थात् सदा साथ-साथ रहने वाले, परस्पर में सुहृद् आत्मा एवं परमात्मा रूपी दो सुपर्ण (पक्षी) एक ही इस शरीर रूपी वृक्ष पर निवास करते हैं। उनमें एक (जीवात्मा) उस कर्मजन्य शरीर रूपी वृक्ष के फलों का भोग करता है और दूसरा परमात्मा उन कर्मों से सदा असंपृक्त रहकर सदा हृष्ट-पुष्ट एवं देदीप्यमान रहता है।

बद्धजीव अपने पूर्वकृत पुण्य-पाप रूपी कर्मों के अनुसार अनेक प्रकार की विचित्र अच्छी-बुरी योनियों को प्राप्त करता है। श्रुति भी कहती है—'साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा पापः पापेन' (बृ० उ० ४।४।५)। अर्थात्

अच्छे कर्मों को करने वाला ब्राह्मणादि अच्छे शरीरों को प्राप्त करता है और पापकर्मों को करने वाला जीव चाण्डालादि कुत्सित योनियों को प्राप्त करता है। श्रुति कहती है कि पवित्र कर्मों को करने वाला जीव पुण्यात्मा होता है तथा वेद-निषिद्ध पापकर्मों को करने वाला जीव पापी होता है। तथा हि—'तद् य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयाँ योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा, अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्, श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा' (छा० उ० ५।१०।७)। अर्थात् उन अनुशयी जीवों में परलोक से इस लोक में आने के लिए उपयोगी भुक्तशिष्ट परिपक्व सुकृत कर्मयुक्त होता है तो वह जीव, ब्राह्मणयोनि, या क्षत्रिययोनि अथवा वैश्ययोनि को प्राप्त करता है। जो परलोक से इस लोक में आने वाला अनुशयी भुक्तशिष्ट परिपक्व कुत्सित कर्मयुक्त होता है तो वह कुत्ते की योनि को अथवा शूकर की योनि को अथवा चाण्डाल की योनि को प्राप्त करता है। बद्धजीवों के अन्तर्गत ब्रह्मा से लेकर एक तृण-पर्यन्त आते हैं।

बद्धजीव जिन शरीरों को प्राप्त करते हैं, उन शरीरों को चार भागों में विभक्त किया जाता है—१. देव शरीर, २. मनुष्य शरीर, ३. तिर्यक् शरीर तथा ४. स्थावर शरीर।

देवसृष्टि का वर्णन—भगवान् नारायण के नाभिकमल से सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। ब्रह्मा से रुद्र की उत्पत्ति होती है। पुनः ब्रह्मा से सनक आदि योनियों की उत्पत्ति होती है। सनकादि योगी चार हैं—सनक, सनन्दन, सनत् तथा कुमार। ब्रह्मा से ही नारद आदि देवर्षि तथा वसिष्ठ आदि ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए तथा ब्रह्मा से ही नव प्रजापतियों की भी उत्पत्ति हुई।

नव प्रजापति—१. भृगु, २. पुलस्त्य, ३. पुलह, ४. क्रतु, ५. अंगिरा, ६. मरीचि, ७. दक्ष, ८. अत्रि तथा ९. वसिष्ठ—ये नव प्रजापति हैं। पुराणों में इनको नव ब्रह्मा कहा गया है—

> 'भृगुं पुलस्त्यं पुलहं क्रतुमङ्गिरसं तथा।
> मरीचिं दक्षमत्रिञ्च वसिष्ठं चैव मानसान्॥
> नव ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः।' (वि० पु० १।७।५–६)

दश दिक्पाल—उन्हीं से देवताओं और दश दिक्पालों की उत्पत्ति हुई—१. इन्द्र, २. अग्नि, ३. यम, ४. निर्ऋति, ५. वरुण, ६. वायु, ७. कुबेर, ८. शङ्कर (ईशान), ९ अनन्त और १० ब्रह्मा—ये दश दिक्पाल हैं।

चौदह मनु—चौदह मनु और चौदह इन्द्र भी इन प्रजापतियों से ही उत्पन्न होते हैं—१. स्वायम्भुव मनु, २. स्वारोचिष् मनु, ३. उत्तम मनु, ४. तामस मनु, ५. रैवत मनु, ६. चाक्षुष मनु, ७. वैवस्वत मनु, ८. सावर्णि मनु, ९. दक्षसावर्णि मनु, १०. ब्रह्मसावर्णि मनु, ११. धर्मसावर्णि मनु, १२. रुद्रपुत्र सावर्णि मनु, १३. रुचि मनु तथा १४. भौम मनु—ये चौदह मनु हैं।

चौदह इन्द्र—प्रत्येक मनुओं के काल में भिन्न इन्द्र भी होते हैं। इस प्रकार मन्वन्तर-भेद से इन्द्रों की संख्या भी चौदह हो जाती है। वे इन्द्र ये हैं—१. इन्द्र, २. विपश्चित् इन्द्र, ३. सुशान्ति इन्द्र, ४. शिव इन्द्र, ५. विभु इन्द्र, ६. मनोजव इन्द्र, ७. पुरन्दर इन्द्र, ८. बलि इन्द्र, ९. अद्‌भुत इन्द्र, १०. शान्ति इन्द्र, ११. वृष इन्द्र, १२. ऋतुधामा इन्द्र, १३. दिवस्पति इन्द्र और १४. शुचि इन्द्र।

असुर, पितृगण, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर आदि देवयोनियाँ ब्रह्मा के मानस पुत्रों से उत्पन्न होती हैं। उनसे ही वसुगण उत्पन्न होते हैं।

एकादश रुद्र—एकादश रुद्रों की भी उत्पत्ति ब्रह्मा के मानस पुत्रों से ही होती है—१. मन्यु, २. मनु, ३. महिम्नस्, ४. महाशिव, ५. क्रतुध्वज, ६. उग्ररेता, ७. भव, ८. काल, ९. वामदेव तथा १०. धृतव्रत, ११. रुद्र—ये एकादश रुद्र हैं।

द्वादशादित्य—आदित्यों की संख्या बारह हैं—१. धाता, २. अर्यमा, ३. मित्र, ४. वरुण, ५. इन्द्र, ६. विवस्वान्, ७. पूषा, ८. पर्जन्य, ९. अंश, १०. भग, ११. त्वष्टा और १२. विष्णु—ये द्वादशादित्य अथवा सूर्य कहलाते हैं।

अश्विनीकुमार दो है, इन्हें देवताओं का वैद्य कहा जाता है। दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच एवं गुह्यकों की भी उत्पत्ति ब्रह्मा के मानसपुत्रों से होती है। इस प्रकार देवताओं की अनेक प्रकार की योनियाँ हैं।

मनुष्ययोनि के जीवों को सामान्यतया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, इन चार भागों में विभक्त किया गया है। तिर्यक्‌योनि के भी जीवों के पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप, पतंग, कीट आदि अनेक भेद हैं। स्थावर जीवों के भी वृक्ष, गुल्म, लता, विरुध, तृण आदि अनेक भेद हैं।

प्रश्न उठता है कि वृक्ष इत्यादि को जीव कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि वे चैतन्य शून्य हैं और जीव के लक्षण में चेतनत्व धर्म भी अन्तःप्रविष्ट है। अतएव अचेतन वृक्षादि को जीव नहीं कहना चाहिए? इसका उत्तर देते हुए यतीन्द्रमत-दीपिकाकार कहते हैं कि स्थावर वृक्षादि को जीव मानने में कोई भी आपत्ति इसलिए नहीं है कि वे भी चेतन हैं। चैतन्याश्रय होना ही चेतनत्व कहलाता है। वृक्षादि में भी ज्ञान है, उसी के द्वारा वे जल इत्यादि का शोषण किया करते हैं। यह दूसरी बात है कि स्थावरों में ज्ञान अत्यल्प मात्रा में रहता है। कहा भी गया है कि—'अप्राणवत्सु स्वल्पा सा' अर्थात् प्राणरहित स्थावर जीवों में ज्ञान की मात्रा अत्यन्त अल्प हुआ करती है।

जीवों का प्रकारान्तर से भी चार भेद किये जाते हैं—जरायुज, अण्डज, उद्भिज एवं स्वेदज। जरायु से उत्पन्न होने वाले जीव जरायुज कहलाते हैं। गर्भ के ऊपर अत्यन्त पतले चमड़े की जो एक झिल्ली पड़ी रहती है, उसे जरायुज कहते हैं। अतएव वे सभी जीव, जो गर्भ से उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं। देवता एवं मनुष्य जरायुज जीवों के अन्तर्गत हैं। इनमें भी कुछ ऐसे जीव हैं, जो माँ की योनि से नहीं

उत्पन्न हैं। जैसे—देवताओं में ब्रह्मा, रुद्र तथा सनकादि अयोनिज हैं। मनुष्यों में भी सीता, द्रौपदी तथा धृष्टद्युम्न इत्यादि अयोनिज हैं। भूत-वेताल आदि भी अयोनिज होते हैं। इनकी उत्पत्ति किसी माँ के गर्भ से नहीं हुई है।

तिर्यग् जीवों में कुछ तो जरायुज होते हैं, जैसे—पशु, मृग आदि तथा कुछ अण्डज होते हैं, जैसे—पक्षी, सरीसृप आदि। कुछ स्वेदज भी होते हैं, जैसे—यूका आदि।

स्थावर जीवों को उद्भिज इसलिए कहा जाता है कि ये पृथिवी को फाड़कर उत्पन्न होते हैं।

ये सभी जीव बद्ध कोटि में हैं। इनका संसार सदा अनुवर्तित होता रहता है। अनादिकाल से प्रवृत्त अविद्या के वशवर्ती बनकर ये तापत्रय का अनुभव करते रहते हैं। तापत्रय तीन प्रकार के दुःख हैं, जिन्हें सभी संसारी जीवों को अभनुव करना पड़ता है। ये तापत्रय निम्न हैं—

(१) **आध्यात्मिक दुःख**—शरीर में होने वाले दुःखों को आध्यात्मिक दुःख कहते हैं। ये दुःख दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और मानसिक।

वात, पित्त एवं कफ की विषमता के कारण होने वाले ज्वर, व्रण, कफ आदि रोगजन्य दुःख शारीरिक दुःख हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा ईर्ष्या जन्य एवं अभिलषित रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द की अप्राप्ति जन्य दुःख मानस दुःख हैं।

(२) **आधिभौतिक दुःख**—वे हैं, जो दूसरे मनुष्यों, पशु, पक्षी, सरीसृप आदि से प्राप्त होते हैं।

(३) **आधिदैविक दुःख**—वे हैं, जो यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि का आवेश हो जाने के कारण प्राप्त होते हैं।

संसार में कोई ऐसा जीव नहीं है, जो इनमें से किसी न किसी प्रकार के दुःख से ग्रस्त न हो।

बद्धजीव स्वभावतः प्राप्त परमात्मानुभव से प्रायः पराङ्मुख रहा करते हैं।

शास्त्रवश्यजीवानां विभागः

ते द्विविधाः—शास्त्रवश्यास्तदवश्याश्च। तयोर्मध्ये करणायत्तज्ञानानां बद्धानां शास्त्रवश्यतास्ति। तिर्यक्स्थावरादीनां तन्नास्ति। शास्त्रवश्या द्विविधाः—बुभुक्षवो मुमुक्षवश्चेति। तत्र, बुभुक्षवस्त्रैवर्गिकपुरुषार्थनिष्ठाः। ते च द्विविधाः—अर्थकामपरा धर्मपराश्चेति। केवलार्थकामपरा देहात्माभिमानिनः। धर्मपराश्च अलौकिकश्रेयस्साधनं धर्मः, चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति धर्मलक्षणलक्षितयज्ञदानतपस्तीर्थयात्रादिनिष्ठाः। ते च देहातिरिक्तात्माभिमानिनः परलोकोऽस्तीति ज्ञानवन्तः। धर्मपरा द्विविधाः—देवतान्तरपरा भगवत्पराश्चेति। देवतान्तरपरा ब्रह्मरुद्राग्नीन्द्राद्याराधनपराः। भग-

वत्परास्तु आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थीत्युक्ताधिकारिणः। आर्तो भ्रष्टैश्वर्यकामः। अर्थार्थी अपूर्वैश्वर्यकामः। मुमुक्षवो द्विविधाः—कैवल्यपरा मोक्षपराश्चेति। कैवल्यं नाम ज्ञानयोगात्प्रकृतिवियुक्तस्वात्मानुभवरूपम्। सोऽनुभवोऽर्चिरादिमार्गेण परमपद गतवत एव क्वचित्कोणे पति(वियु)त्यक्तपत्नीन्यायेन भगवदनुभवव्यतिरिक्तस्वात्मानुभव इत्याहुः। केचित् अर्चिराबिमार्गेण गतस्यापुनरावृत्तिश्रवणात् प्रकृतिमण्डल एव क्वचिद्देशे स्वात्मानुभव इत्याहुः।

अनुवाद—बद्धजीवों के दो भेद होते हैं—शास्त्रपरतन्त्र तथा शास्त्र-अपरतन्त्र। जिन जीवों को इन्द्रियों के अधीन ज्ञान होते हैं, वे जीव शास्त्रवश्य कहलाते हैं। तिर्यक् एवं स्थावर जीवों को इन्द्रियाधीन ज्ञान नहीं होते हैं, अतएव वे शास्त्रवश्य नहीं है। शास्त्रपरतन्त्र जीव दो प्रकार के होते हैं—बुभुक्षु एवं मुमुक्षु। बुभुक्षु जीवों की त्रिवर्ग पुरुषार्थ में निष्ठा रहती है। बुभुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—१. अर्थ एवं कामपरायण तथा २. धर्मपरायण। जो बुभुक्षु जीव केवल अर्थ एवं काम को चाहते हैं, वे देहात्माभिमानी होते हैं। धर्मपरायण बुभुक्षु जीव मानते हैं कि—धर्म के द्वारा अलौकिक कल्याण की प्राप्ति होती है। जिन कार्यों को करने के लिए वैदिक वाक्य प्रेरणा देते हैं, वे ही कर्म धर्म कहलाते हैं। यह जानकर वे यज्ञ, दान, तपस्या तथा तीर्थयात्रा किया करते हैं। वे देह को आत्मा न मानकर यह मानते हैं कि देह से भिन्न पदार्थ ही आत्मा है। उनको यह ज्ञान रहता है कि परलोक है।

धर्मपरायण बुभुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—देवतान्तर में श्रद्धा रखने वाले तथा श्रीभगवान् में श्रद्धा रखने वाले। देवतान्तरपरायण जीव ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि तथा इन्द्र आदि की आराधना करते हैं।

भगवत्परायण जीव तो—आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी हुआ करते हैं। अपने विनष्ट ऐश्वर्य को पुनः प्राप्त करने की इच्छा वाले जीव आर्त हैं। अपूर्व ऐश्वर्य को चाहने वाले जीव अर्थार्थी कहलाते हैं।

मुमुक्षु जीव दो प्रकार के होते हैं—१. कैवल्य को चाहने वाले और २. मोक्ष को चाहने वाले। ज्ञानयोग के द्वारा प्रकृति-वियुक्त अपनी आत्मा का अनुभव करना ही कैवल्य कहलाता है। इस प्रकार का आत्मानुभव उसी पुरुष को होता है, जो अर्चिरादि मार्ग से परमपद को जाता है। अपने पति से अलग होकर किसी कोने में बैठकर अपने सौन्दर्य को देखकर प्रसन्न होने वाली पत्नी के समान ही भगवान् के अनुभव से रहित वह स्वात्मानुभव नीरस है, ऐसा आचार्यों का कहना है। कुछ लोगों का कहना है कि कैवल्यार्थी पुरुष प्रकृतिमण्डल में ही रहकर अपनी आत्मा का अनुभव करता है, क्योंकि श्रुतियाँ बतलाती हैं कि अर्चिरादि मार्ग से गया हुआ जीव पुनः इस संसार में नहीं आता है।

भा० प्र०—इस अनुच्छेद में यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि बद्धजीवों का भेद प्रकारान्तर से भी दो प्रकार का होता है—(१) शास्त्रवश्य जीव तथा (२) शास्त्रावश्य जीव। शास्त्रवश्य जीव वे हैं, जिनके कल्याण के लिए शास्त्र अनेक प्रकार के कर्मों का विधान करता है। शास्त्र उन्हीं लोगों के जीवनोन्नयन के साधनों का विधान करता है, जिन जीवों को इन्द्रियों के माध्यम से रूप-रसादि तत्-तत् विषयों का ज्ञान होता है। ऐसे जीवों में देव एवं मनुष्य आते हैं। वास्तविकता यह है कि शास्त्र मनुष्यों के लिए ही उनके जीवनोन्नयन के विभिन्न साधनों का विधान करता है। अतएव शास्त्रवश्य जीवों की कोटि में मुख्य रूप से मनुष्य ही आते हैं। तिर्यक् कोटि अथवा स्थावर कोटि के जीव शास्त्रवश्य नहीं हैं? उनके लिए शास्त्र किसी भी प्रकार का विधान नहीं करता है। वे तो भोगयोनियाँ हैं। शास्त्रवश्य जीवों के दो भेद हैं—बुभुक्षु तथा मुमुक्षु।

बुभुक्षु जीवों का स्वरूप तथा भेद—बुभुक्षु जीव वे हैं, जो भोगों को चाहते हैं। 'भोक्तुमिच्छुः' यह बुभुक्षु शब्द की व्युत्पत्ति है। मुमुक्षु जीव वे हैं, जो मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं। पुरुषार्थ चार हैं—अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष। इनमें धर्म, अर्थ एवं काम, इन तीन पुरुषार्थों का समुदित नाम त्रिवर्ग है। 'त्रयाणाम्—धर्मार्थकामानां वर्गः—समुदायः त्रिवर्गः' है। बुभुक्षु जीवों की निष्ठा इस त्रिवर्ग की ही प्राप्ति में रहती है। वे इनको ही प्राप्त करना चाहते हैं। ये बुभुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं—१. काम एवं अर्थ परायण—ऐसे लोग किसी न किसी प्रकार सम्पत्ति प्राप्त करके अपनी कामनाओं को पूर्ण करना चाहते हैं। काम एवं अर्थ की प्राप्ति के लिए धर्माधर्म का विचार नहीं रखते हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य होता है धन कमाना और अपनी अधिक से अधिक इच्छाओं की पूर्ति करना। ऐसे लोग देहात्माभिमानी होते हैं। देह ही आत्मा है। इस शरीर से जितना आराम कर लो, उतनी ही जीवन की सफलता है। देह को छोड़कर कोई न तो आत्मा नामक पदार्थ है और न कोई लोक-परलोक है। धर्माधर्म कुछ भी नहीं होता, इस प्रकार की ही धारणा ऐसे लोगों की होती है। २. दूसरे प्रकार के बुभुक्षु जीव वे हैं, जो धर्मपरायण होते हैं। वे भी धन एवं काम का सेवन करते हैं, किन्तु शास्त्र-विहित मार्ग से ही सम्पत्ति का अर्जन करके शास्त्र-विहित मर्यादा का पालन करते हुए वे काम का सेवन करते हैं। उनको हर कार्य को करने के पूर्व धार्मिक मर्यादा का सर्वप्रथम ध्यान रहता है। शास्त्रों में तत्-तत् पुरुषों के लिए वर्ण एवं आश्रम के अनुसार जीवन-यापनार्थ तत्-तत् कर्तव्य कर्मों का निर्देश किया गया है। वे निर्दिष्ट कर्तव्य ही धर्म हैं। उनका पालन करना प्रत्येक मनुष्य के लोक एवं परलोक दोनों में कल्याणकारी होता है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि पारलौकिक कल्याण का साधन ही धर्म कहलाता है। धर्म का लक्षण करते हुए महर्षि जैमिनि कहते हैं कि शास्त्र जिन कार्यों को कर्तव्य रूप से करने के लिए प्रेरित करते हैं, उन कार्यों का अनुष्ठान ही धर्म है। शास्त्र यज्ञ, दान, तपस्या तथा तीर्थयात्रा को करने का विधान करते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

'यज्ञदानतपः कार्यं न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।' अर्थात् यज्ञ, दान एवं तपस्या, इन कार्यों का अनुष्ठान आजीवन करना चाहिए, इनको कभी भी नहीं त्यागना चाहिए। ये कर्म मनुष्यों को पवित्र बना देते हैं। 'पावनानि मनीषिणाम् ।' धर्मपरायण जीव इन कर्मों का अनुष्ठान पारलौकिक कल्याण की प्राप्ति की कामना से करते हैं। ये लोग मानते हैं कि इन शरीरादि से भिन्न आत्मा है। अतएव इन शरीरादि के विनष्ट हो जाने पर वह आत्मा बनी रहती है, जो स्वर्गादि सुखों को अथवा नारकीय दुःखों को भोगती है। हम जो यज्ञ, दान आदि करते हैं, उन कर्मों का फल हम इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में अथवा स्वर्गादि लोकों में प्राप्त करते हैं। किये हुए कर्मों का फल अवश्य भोगता पड़ता है। अतएव जीवनोन्नयनकामियों को शास्त्रनिषिद्ध कर्मों का आचारण कभी भी नहीं करना चाहिए।

धर्मपरायण जीवों के भी दो भेद किये जाते हैं—१. देवतान्तर की आराधना करने वाले तथा २. भगवान् की आराधना करने वाले। देवातान्तरपरायण जीव ब्रह्मा, रुद्र, अग्नि तथा इन्द्र आदि देवताओं की आराधना करके अपना पारलौकिक कल्याण करना चाहते हैं तथा लौकिक काम्य वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं। किन्तु भगवत्परायण जीव तो सभी प्रकार के फलों की प्राप्ति श्रीभगवान् की ही आराधना से प्राप्त करना चाहते हैं। वे जानते हैं कि देवतान्तरों की आराधना करने पर भी श्रीभगवान् ही उन-उन देवताओं के माध्यम से तत्-तत् फलों को प्रदान किया करते हैं। श्रीभगवान् ही सम्पूर्ण देवताओं के स्वामी हैं। श्रीभगवान् की ही आराधना से सभी प्रकार के फलों की प्राप्ति की जा सकती है।

भगवत्परायण जीव तीन प्रकार के होते हैं—आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी। आर्त जीव वे हैं, जो अपने पूर्व के विनष्ट ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए श्रीभगवान् की आराधना करते हैं। अर्थार्थी जीव वे हैं, जिनको पहले से कोई भी ऐश्वर्य प्राप्त नहीं था, किन्तु श्रीभगवान् की आराधना करके वे पूर्व में अप्राप्त ऐश्वर्य को प्राप्त करना चाहते हैं। आर्त तथा अर्थार्थी, इन दोनों प्रकार के अधिकारियों में नाममात्र का भेद है। दोनों अधिकारी ऐश्वर्य प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं, अतएव दोनों में समानता है। जिज्ञासु जीव वे हैं, जो श्रीभगवान् की आराधना करके प्रकृति से वियुक्त अर्थात् परिशुद्ध आत्मा के स्वरूप को जानना चाहते हैं।

मुमुक्षु जीवों का स्वरूप तथा भेद—शास्त्रवश्य जीवों का दूसरा भेद मुमुक्षु है। मुमुक्षु जीव वे हैं, जो त्रिवर्ग से पराङ्मुख रहकर मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ को प्राप्त करना चाहते हैं और उसी की प्राप्ति के लिए तत्-तत् साधनों का अनुष्ठान करते हैं। मुमुक्षु जीवों के दो भेद हैं—कैवल्य को चाहने वाले तथा मोक्ष को चाहने वाले।

कैवल्यपरायण जीव—ज्ञानयोग के उत्पन्न हो जाने से प्राकृतिक सम्बन्ध से रहित जो ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप आत्मा का स्वरूप है, उसका अनुभव करना ही कैवल्य है। 'केवलस्य भावः कैवल्यम्' यह कैवल्य शब्द की व्युत्पत्ति है। कैवल्य को

प्राप्त करने की इच्छा वाले जीव अपने उसी परिशुद्ध रूप का अनुभव करने की कामना से तत्-तत् साधनों का अनुष्ठान करते हैं।

कैवल्यानुभव के मार्ग—इस कैवल्यानुभव के मार्ग के विषय में विचारकों के दो प्रकार के विचार हैं—प्रथम प्रकार के विचारकों का कहना है कि कैवल्यपरायण जीव भी अर्चिरादि मार्ग से ही परमपद में जाकर अपने ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा का स्वयम् अनुभव करता है। किन्तु यह स्वात्मानन्दानुभव उसी प्रकार से नीरस माना जाता है, जिस प्रकार कोई अत्यन्त कमनीया सुन्दरी पति से बिल्कुल दूर रहकर घर के किसी कोने में एकान्त में बैठकर अपने सौन्दर्य का अवलोकन करके प्रसन्नता का अनुभव करे। किन्तु उसकी यह प्रसन्नता का अनुभव सीमित है। पत्नी अपने अनिन्द्य सौन्दर्यातिशय के सर्वातिशायी आनन्द का अनुभव तो तब कर सकती है; जब कि उसके साथ उसका पति भी विद्यमान हो। पति-संश्लिष्ट पत्नी को अपने सौख्य का सर्वातिशायी आनन्द प्राप्त होता है। सभी जीवों के परमप्राप्य श्रीभगवान् ही है; अतएव सभी जीवों के एकमात्र पति श्रीभगवान् ही हैं। महर्षि बादरायण भी 'अत एव चानन्याधिपतिः' (ब्र० सू० ४।४।९) सूत्र में इस भाव को अभिव्यक्त करते हैं। इस सूत्र का यह भी अभिप्राय है कि मुक्तावस्था में जीवों के श्रीभगवान् को छोड़-कर कोई भी पति नही रह जाता है। 'नास्ति अन्यः—परमात्मव्यतिरिक्तः अधिपति-र्यस्यासौ' यही अनन्याधिपति शब्द की व्युत्पत्ति है। 'नास्ति अधिपतिर्यस्य' ऐसा विग्रह करने पर तो 'अनधिपतिः' शब्द बनेगा। अतएव जीवों के स्वाभाविक अधिपति श्रीभगवान् ही हैं। अपने अधिपति के अनुभव के साथ ही अपने स्वरूप का अनुभव सर्वातिशायी सुखावह होता है। कैवल्यानुभव में भगवदनुभव नहीं होता है, अतएव यह आत्मा का अनुभव नीरस-सा है।

अर्चिरादि मार्ग—अर्चिरादि मार्ग का वर्णन करते हुए श्रीवात्स्य वरदाचार्य कहते हैं—

'मुक्तोऽर्चिर्दिनपूर्वपक्षषडुदङ्मासाब्दवातांशुमान्
ग्लौर्विद्युद्वरुणेन्द्रधातृमहितः सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः।
श्रीवैकुण्ठमुपेत्यनित्यमजडस्तस्मिन् परब्रह्मणः,
सायुज्यं समवाप्य नन्दति चिरं तेनैव धन्यः पुमान्॥'

अर्थात् इस शरीर से उत्क्रमण करने वाला मुक्तजीव चन्द्रलोक के बाद श्रीवैकुण्ठ-लोक के मार्ग में विरजा नदी के पार करने से पूर्व द्वादश आतिवाहिकों के द्वारा समा-दृत होता है। वे आतिवाहिक-गण क्रमशः ये हैं—१. अर्च्यभिमानी देवता, २. दिना-भिमानी देवता, ३. पूर्वपक्ष (शुक्लपक्ष) के अभिमानी देवता, ४. उत्तरायणा-भिमानी देवता, ५. वर्षाभिमानी देवता, ६. वायु के अभिमानी देवता, ७. सूर्या-भिमानी देवता, ८. चन्द्राभिमानी देवता, ९. विद्युत् के अभिमानी देवता, १०. वरुणाभिमानी देवता, ११. इन्द्राभिमानी देवता तथा १२. ब्रह्माभिमानी देवता।

बारह पर्वों वाले वैकुण्ठमार्ग में तत्-तत् लोकों के अभिमानी देवता ही आतिवाहिक रूप में उस मुक्तजीव का सम्मान करते हैं। इसके पश्चात् प्रकृतिमण्डल की सीमा-भूमि पर विद्यमान दिव्य विरजा नदी को पार करके जीव अमानव-कर से स्पृष्ट होकर आविर्भूत गुणाष्टक अपने परिशुद्ध रूप से सामाम्नान करता हुआ श्रीवैकुण्ठलोक में पहुँचकर श्रीभगवान् का सान्निध्य प्राप्त करके तथा उनके द्वारा अभिनंदित होकर कृतकृत्य हो जाता है।

गीता में इस अर्चिरादि मार्ग का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

'अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥' (गी० ८।२४)

अर्थात् अग्नि, ज्योति,- दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण के छह महीने में गये हुए (शरीरपात किये हुए) ब्रह्मवेत्ता जन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं। यहाँ अग्नि रूप ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के छह महीने श्रुति-प्रोक्त संवत्सर आदि के प्रदर्शक हैं। छान्दोग्योपनिषद् की 'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति अर्चिषोऽरहरह्न आपूर्यमाण-पक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासास्तान् मासेभ्यस्संवत्सरम्' (छा० ५।१०।१) इत्यादि श्रुति में भी अर्चिरादि मार्ग का स्पष्ट रूप से वर्णन है।

आतिवाहिकों का निर्देश करते हुए वरदाचार्य ने भी कहा है—

'अर्चिरहस्सितपक्षान् उदगयनाव्दमरुदर्केन्दून्।
अपि वैद्युद्वरुणेन्द्रप्रजापतीन् आतिवाहिकान् प्राहुः ॥'

कैवल्यमार्ग के विषय में कुछ एकदेशी विचारकों का मत है कि कैवल्यार्थी जीव प्रकृतिमण्डल के ही किसी एकदेश में रहकर अपने परिशुद्धस्वरूप का अनुभव करता है, क्योंकि अर्चिरादि मार्ग से जाकर श्रीवैकुण्ठ में पहुँचने वाले जीव का स्वभाव होता है कि वह श्रीभगवान् के साथ ही सभी काम्य पदार्थों का अनुभव करता है।

मोक्षपराणां मुमुक्षूणां भेदाः

मोक्षपराश्च द्विविधाः—भक्ताः प्रपन्नाश्चेति। भक्ताः पुनरधीतसाङ्ग-सशिरस्कवेदाः पूर्वोत्तरमीमांसापरिचयाच्चिदचिद्विलक्षणानवधिकातिशया-नन्दरूपं निखिलहेयप्रत्यनीकं समस्तकल्याणगुणात्मकं ब्रह्मावधार्य तत्प्राप्त्यु-पायभूतां साङ्गां भक्तिं स्वीकृत्य तया मोक्षं प्राप्तुकामाः। भक्तावधिकारः त्रैवर्णिकानामेव। देवादीनामप्यस्ति। अर्थित्वसामर्थ्ययोस्सम्भवात्। न शूद्रा-णामधिकारः। अपशूद्राधिकरणविरोधात्। भक्तिस्वरूपं तु बुद्धिपरिच्छेदे प्रतिपादितम्। भक्ता द्विविधाः—साधनभक्तिनिष्ठास्साध्यभक्तिनिष्ठा-श्चेति। साधनभक्तिनिष्ठा व्यासादयः। साध्यभक्तिनिष्ठा नाथादयः।

अनुवाद—मोक्ष-परायण जीव दो प्रकार के होते हैं—भक्त एवं प्रपन्न। साङ्ग एवं सशिरस्क वेदों का अध्ययन करके पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा का ज्ञान प्राप्त

कर लेने के कारण जिनको यह निश्चय हो गया है कि श्रीभगवान् त्रिविध चेतनों तथा त्रिविध अचेतनों से विलक्षण स्वभाव वाले हैं। वे समस्त त्याज्य दोषों के विरोधी हैं तथा सभी कल्याणकारी गुणों से युक्त हैं। उन श्रीभगवान् की प्राप्ति के साधन रूप भक्ति को अपनाकर वे मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य, इन तीन वर्णों का ही भक्ति में अधिकार हैं, देवताओं का भी भक्तियोग में अधिकार है। क्योंकि देवताओं में भगवत्प्राप्ति का अर्थित्व तथा भक्ति का सामर्थ्य है। भक्तियोग में शूद्रों का अधिकार इसलिए नहीं है कि उनका अधिकार मानने पर अपशूद्राधिकरण से विरोध होगा। भक्ति के स्वरूप का निरूपण धर्मभूत ज्ञान के परिच्छेद में किया जा चुका है। भक्त जीव दो प्रकार के होते हैं— १. साधनभक्ति में निष्ठा रखने वाले तथा २. साध्यभक्ति में निष्ठा रखने वाले। व्यास आदि साधनभक्तिनिष्ठ हैं। नाथमुनि आदि साध्यभक्तिनिष्ठ हैं।

भा० प्र०—मोक्ष-परायण जीव के दो भेद किये जाते हैं—भक्त एवं प्रपन्न। भक्त जीव वे हैं, जो साङ्ग एवं सशिरस्क वेदों का अध्ययन करके दोनों मीमांसाओं का अध्ययन करते हैं तथा उस अध्ययन के पश्चात् यह निश्चय करते हैं कि श्रीभगवान् ही प्राप्य हैं। वेदों के छह अङ्ग बतलाए गये हैं— १. छन्दःशास्त्र, २. कल्प, ३. शिक्षा, ४. निरुक्त, ५. ज्योतिष् और ६. व्याकरण। इनका परिचय द्वितीयावतार की भावप्रकाशिका में दिया जा चुका है। वेदों का शिरोभाग वेदान्त ही है। वेदान्त और अङ्गों के साथ वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् अधिकारी वेदार्थों का श्रवण करने में प्रवृत्त होता है। वेदों के अर्थों का निर्णय मीमांसाशास्त्र में किया गया है। पूर्वमीमांसा एवं उत्तरमीमांसा के श्रवण करने के पश्चात् अधिकारी को इस अर्थ का निर्णय हो जाता है कि श्रीभगवान् ही जीवों के लिए प्राप्य हैं। श्रीभगवान् की प्राप्ति ही मोक्ष का फल है। संसार में दो प्रकार के तत्त्व पाये जाते हैं—चेतन तत्त्व एवं अचेतन तत्त्व। चेतन तत्त्व तीन प्रकार के होते हैं—बद्ध, मुक्त एवं नित्य। इसी प्रकार अचेतन भी तीन प्रकार के होते हैं—शुद्धसत्त्व, मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य या काल। श्रीभगवान् इन तीनों प्रकार के चेतनों तथा तीनों प्रकार के अचेतनों से विलक्षण हैं। वे सीमातीत आनन्दस्वरूप हैं। वे सभी त्याज्य दोषों के प्रतिभट हैं तथा सभी कल्याणकारी गुणों के आश्रय हैं। उन भगवान् की प्राप्ति भक्तियोग के द्वारा होती है। उपनिषदों में ब्रह्मप्राप्ति के साधनभूत बत्तीस प्रकार की साङ्ग भक्ति-विद्याओं का वर्णन है। भक्ति के अङ्ग अष्टाङ्गयोग तथा विवेकादि साधन-सप्तक हैं। इन सबों की चर्चा पीछे धर्मभूत-ज्ञान-प्रकरण में की जा चुकी है। इनमें-से किसी भी विद्या को अपनाकर वह श्रीभगवान् की प्राप्ति रूप मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है।

उपनिषदो में वर्णित जो भक्ति रूप बत्तीस विद्याएँ है, उनमें त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है, क्योंकि वे सभी विद्याएँ वैदिक हैं। वेदाध्ययन में त्रिवर्ण का ही अधिकार

महर्षियों ने बतलाया है। अतएव औपनिषद् भक्ति-विद्याओं में शूद्रों का अधिकार निषेध किया गया है। महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अपशूद्राधिकरण में निर्णीत किया है कि वेदाध्ययन में त्रिवर्ण का ही अधिकार है। वेदाध्ययन में अधिकार न होने के कारण शूद्रों का वैदिक भक्ति-विद्याओं को अपनाने का अधिकार नहीं है।

ब्रह्मविद्या में देवताओं का अधिकार-प्रतिपादन—प्रश्न है कि भक्तियोग का अनुष्ठान करने में देवताओं का अधिकार है कि नहीं ? पूर्वमीमांसकों का कहना है कि देवताओं का ब्रह्मविद्या रूपी भक्तियों में अधिकार नहीं है, क्योंकि देवताओं के विग्रहादि में कोई भी प्रमाण नहीं है। ब्रह्मोपासना शरीरधारियों के लिए ही साध्य है। यह उपासना संस्कृत मन से ही साध्य है। मन, विवेक आदि साधन-सप्तक से संस्कृत होता है। ये सात साधन शरीरधारी जीवों के द्वारा ही अनुष्ठित हो सकते हैं। अतएव ब्रह्मोपासना के लिए करण-कलेवरधारी जीव होना अनिवार्य है। करण-कलेवर रहित देवताओं का इस उपासना के करने में कोई भी अधिकार नहीं है।

इस शंका का समाधान करते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' (ब्र० सू० १।३।२५)। अर्थात् मनुष्यों से ऊपर रहने वाले देवताओं का भी ब्रह्मोपासना में अधिकार है, क्योंकि देवताओं में भी ब्रह्मोपासना के लिए अर्थित्व एवं सामर्थ्य देखा जाता है। ब्रह्मोपासना के लिए तीन प्रकार के सामर्थ्य अपेक्षित हैं —जन्म-सामर्थ्य, कर्म-सामर्थ्य और बुद्धि-सामर्थ्य। इन तीनों प्रकार के सामर्थ्यों का सद्भाव देवताओं में पाया जाता हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में सुना जाता है कि परमातमा सृष्टि के प्रारम्भ में जगत् की सृष्टि करके नाम-रूप का व्याकरण करता है। परमात्मा के द्वारा देवताओं के नाम-रूप के व्याकरण का अर्थ है—उनको करण-कलेवरादि का प्रदान। करण-कलेवर धारण करने मात्र से ही देवताओं का जन्म-सामर्थ्य सिद्ध होता है। किञ्च पटुतर शरीरेन्द्रिय धारणमात्र से ही इन्द्रादि देवताओं का कर्म-सामर्थ्य तथा बुद्धि-सामर्थ्य भी सिद्ध होता है। छान्दोग्योपनिषद् के आठवें अध्याय में सुना जाता है कि प्रजापति ने इन्द्र को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (तै० आ० २।६।७) अर्थात् इन्द्र अपने हाथ में वज्र धारण करते हैं। 'तेन इन्द्रो वज्रमुदयच्छत्' (तै० आ० २।४।१२) अर्थात् इसलिए इन्द्र ने अपना वज्र ऊपर की ओर उठाया। ये श्रुतियाँ भी देवताओं के कर्म-सामर्थ्य तथा बुद्धि-सामर्थ्य का प्रतिपादन करती हैं।

देवताओं में ब्रह्मोपासना के लिए अपेक्षित अर्थित्व सामर्थ्य भी पाया जाता है। ब्रह्मा के वेदापहार के कारण तापानुभव, शंकर का ब्रह्म-शिरोच्छेदन जन्य ब्रह्महत्या से आध्यात्मिकादि दुःखों को प्राप्त करना, इन्द्र का असुरों से पराजित होकर अपने राज्य से निर्वासित होना आदि सुना जाता है। ये दुःखी देवता अपने दुःखापनोदन के लिए ब्रह्मोपासना करें, इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार अर्थित्व एवं सामर्थ्य सम्पन्न होने के कारण देवताओं का ब्रह्मविद्या में अधिकार है।

किञ्च ब्रह्म की उपासना करके ही जीव देवता बनते हैं। देवता बन जाने पर भी वे ब्रह्मोपासना के प्रकार एवं फल को भूलते नहीं हैं, अतएव उनका ब्रह्मविद्या में अधिकार है।

साध्यभक्ति तथा साधनभक्ति की चर्चा धर्मभूतज्ञान-प्रकरण में की गयी है।

प्रपन्नानां स्वरूपं भेदाश्च

आकिञ्चन्यानन्यगतित्वधर्मविशिष्टो भगवन्तमाश्रितः प्रपन्नः। स द्विविधः—त्रैवर्गिकपरो मोक्षपरश्चेति। त्रैवर्गिकपरो नाम, भगवत एव धर्मार्थकामाभिलाषी। मोक्षपरस्तु सत्सङ्गत्या नित्यानित्यपरवस्तुविवेके सति संसारे निर्वेदाद्वैराग्ये उत्पन्ने मोक्षेच्छायां जातायां तत्सिद्ध्यर्थम् आचार्यो वेदसम्पन्न इत्याद्याचार्यलक्षणलक्षितं गुरुं संश्रित्य तद्द्वारा पुरुष-कारभूतां श्रियं प्रपद्य भक्त्याद्युपायान्तरेषु अशक्तोऽत एवाकिञ्चनोऽनन्य-गतिः श्रीमन्नारायणचरणावेवोपायत्वेन स्वीकरोति (यः) स प्रपन्नः। प्रपत्तिस्सर्वाधिकारा। प्रपन्नो द्विविधः—एकान्ती परमैकान्ती चेति। यो मोक्षफलेन साकं फलान्तराण्यपि भगवत एवेच्छति स एकान्ती। देवतान्तर-शून्य इत्यर्थः। भक्तिज्ञानाभ्यामन्यत्फलं भगवतोऽपि नेच्छति यः स परमै-कान्ती। स द्विविधः—दृप्तार्तभेदात्। अवश्यमनुभोक्तव्यमिति प्रारब्ध-कर्मानुभवन्नेतद्देहावसानसमयमी(ये मोक्षमपे)क्षमाणो दृप्तः। जाज्वल्य-मानाग्निमध्यस्थितेरिव संसारस्थितेरतिदुस्सहत्वात्प्रपत्त्युत्तरक्षण एव मोक्ष-काम आर्तः।

अनुवाद—अकिञ्चन तथा अनन्यगति होकर श्रीभगवान् की शरणागति करने वाले जीव प्रपन्न कहलाते हैं। प्रपन्न दो प्रकार के होते हैं—१. त्रिवर्गकपरायण तथा २. मोक्षपरायण। जो जीव श्रीभगवान् की ही उपासना करके उनसे ही धर्म, अर्थ एवं काम, इन तीनों पुरुषार्थों को चाहते हैं, वे त्रिवर्गपरायण हैं। मोक्ष-परायण प्रपन्न जीव तो सत्संग के द्वारा नित्यानित्य वस्तु-विवेक को प्राप्त कर संसार से निर्विण्ण हो जाता है। फलतः वैराग्य के उत्पन्न हो जाने से उनमें मोक्ष को प्राप्त करने की जब इच्छा उत्पन्न हो जाती है तो उस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए वैदिक आचार्य का संश्रयण करके, उसके द्वारा पुरुषकारस्वरूपा श्रीदेवीजी की शरणागति करके, वेदों में वर्णित भक्ति आदि विभिन्न उपायों में असमर्थ होने के कारण अकि-ञ्चन तथा अनन्यगति होकर भगवान् श्रीमन्नारायण के चरणों को ही मोक्ष प्राप्त करने के साधन रूप से अपनाता है। प्रपत्ति करने में सभी जीवों का अधिकार है। ये प्रपन्न जीव दो प्रकार के होते हैं—एकान्ती और परमैकान्ती। जो मोक्षरूपी फल के साथ ही अन्य फलों को भी श्रीभगवान् से ही प्राप्त करना चाहता है, वह एकान्ती प्रपन्न जीव है। वह किसी भी फल के लिए दूसरे देवता की उपासना नहीं करता है।

परमैकान्ती प्रपन्न जीव वह है, जो भगवान् से भी भक्ति तथा ज्ञान से भिन्न फलों को नहीं प्राप्त करता है। परमैकान्ती प्रपन्न दो प्रकार के होते हैं—दृप्त एवं आर्त। प्रारब्ध कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, यह जानकर प्रारब्ध कर्मों का फल भोगते हुए इस देह की समाप्ति के समय मोक्ष-प्राप्ति को चाहने वाले जीव दृप्त प्रपन्न कहलाते हैं। आर्त-प्रपन्न जीव वे होते हैं, जो संसार में रहना उसी प्रकार से दुःख दसमझते हैं, जिस प्रकार धधकती हुई अग्नि के बीच में रहना कष्टप्रद होता है, अतएव इस असह्य संसार से प्रपत्ति के पश्चात् ही मोक्ष को प्राप्त करना चाहते हैं।

प्रपन्न जीव

भा० प्र०—मोक्षपरायण अधिकारियों के दो भेद उद्दिष्ट किये जा चुके हैं—भक्त एवं प्रपन्न। भक्तों के स्वरूप तथा भेद निरूपित किये जा चुके हैं। इस अनुच्छेद में प्रपन्नों के स्वरूप तथा भेद निरूपित किये जा रहें हैं। प्रपन्न जीव श्रीभगवान् को अपना एकमात्र शरण मानते हैं। भगवान् से भिन्न वे अपना न तो किसी को प्राप्य मानते हैं और न तो रक्षक। मेरा जो कुछ भी होगा भगवान् से ही होगा, अन्य किसी दूसरे से कुछ भी नहीं होगा, इस प्रकार की भावना ही भगवान् के प्रति अनन्य-गतित्व की भावना है। ऐसे जीव भगवान् के प्रति सदा दीन बने रहते हैं। वे मानते हैं कि मेरा इतना सुकृत नहीं हो सकता है कि मैं अपने कर्तव्यों के बल पर श्रीभगवान् का कृपापात्र बन सकूं। भगवान् स्वभावतः निर्हेतुक करुणासागर हैं, अतएव वे अपनी कृपा से ही मुझे भी अपना लेंगे। इस प्रकार की भावना ही श्रीभगवान् के प्रति अकिञ्चनता की भावना है। 'हे भगवन्! मेरे पास कोई भी साधन तथा सामर्थ्य नही है, आप मुझे अपना लें' यही भावना आकिञ्चन्य की भावना है। इस आकिञ्चन्य तथा अनन्यगतित्व की भावना से भावित होकर श्रीभगवान् को एक-मात्र अपना रक्षक मानना ही प्रपन्नों का लक्षण है।

प्रपन्न जीवों के भी दो भेद किये जाते हैं—त्रिवर्गपरायण और मोक्षपरायण। त्रिवर्गपरायण जीव श्रीभगवान् की ही आराधना करके उनसे ही धर्म, अर्थ और काम को भी प्राप्त करना चाहते हैं। वे अपनी आराधना का विषय किसी दूसरे देवता को नहीं बनाते हैं।

मोक्षपरक जीव वे हैं, जो सत्संग को प्राप्त कर नित्यानित्य वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। संसार की अनित्यता को जानकर वे संसार तथा संसार के साधनों से उदासीन हो जाते हैं। ऐसा करने के कारण उनके भीतर संसार के प्रति वैराग्य हो जाता है। वे निश्चय कर लेते हैं कि धर्म, अर्थ, एवं काम, ये तीनों पुरुषार्थ अनित्य हैं। मोक्ष ही एकमात्र नित्य पुरुषार्थ है। अतएव धर्मार्थकाम-जन्य संसार अवश्य विनष्ट होगा। इस नश्वर संसार के पीछे अमूल्य मानव जीवन को बर्बाद करना, इस मानव जीवन की प्राप्ति के लक्ष्य से पराङ्मुख होना है। इस तरह से जानकर अधि-कारी के मन में इस नश्वर संसार से वैराग्य हो जाता है और नित्य मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा उन अधिकारियों के मन में उत्पन्न हो जाती है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन क्या है ? इस बात को जानने के लिए वह सदाचार्य की शरणागति करता है । श्रुति भी कहती है—'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेद-मायात् नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्, समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' (मु० उ० १।२।११) । अर्थात् कर्मार्जित लोकों की भली-भाँति परीक्षा करके वेदज्ञ को चाहिए कि वह संसार से उदासीन हो जाय । क्योंकि मीमांसा-श्रवण के समय वह जान लेता है कि नित्य मोक्ष नामक पुरुषार्थ की प्राप्ति किये जाने वाले इन साधनानुष्ठानों से कभी भी संभव नहीं है । अतएव उस मोक्षविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिकारी को चाहिए कि वह आचार्य के शरण में उपहार-पाणि होकर जाय । आचार्य के गुणों को बतलाते हुए श्रुति कहती है कि आचार्य वही हो सकता है, जो वेदज्ञ तथा ब्रह्मज्ञानी हो । आचार्य के स्वरूप को निरूपित करते हुए श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि उच्च वंश में उत्पन्न, सदाचारपरायण तथा वेदों का ज्ञाता आचार्य को होना चाहिए—'सत्सन्तानप्रसूतसदाचारनिष्ठवेदविदाचार्यः' (ब्र० सू० १।१।१ श्रीभाष्य) । आचार्य के लक्षणों का निर्देश करते हुए श्रीमद्वेदान्तदेशिक कहते हैं—

'सिद्धं सत्सम्प्रदाये स्थिरधियमनघं श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्,
सत्त्वस्थं सत्यवाचं समयनियतया साधुवृत्त्या समेतम् ।
दम्भासूयादिमुक्तं जितविषयगणं दीर्घबन्धुं दयालुम्,
स्खालित्ये शासितारं स्वपरहितपरं देशिकं भूष्णुरीप्सेत् ॥'

अर्थात् आत्मोज्जीवन चाहने वाले को चाहिए कि वह सत्सम्प्रदाय में दीक्षित, स्थिर बुद्धि वाले, निष्पाप, वेदज्ञ, ब्रह्मवेत्ता, सात्त्विक, सत्यवक्ता, निश्चित समय से साधु कार्यों को सम्पादित करने वाले, दम्भ तथा असूया से रहित, विषयों से पराङ्मुख, लम्बी शिष्य परम्परा वाले; दयालु, उन्मार्गगामी होने पर प्रशासन करने वाले तथा अपना एवं अपने शिष्यों का कल्याण करने वाले पुरुष को आचार्य बनाए ।

आचार्यवरण के पश्चात् आचार्य के माध्यम से अधिकारी श्रीदेवीजी की शरणागति करता है तथा श्रीभगवान् के चरणकमलों को ही अपनी मोक्षप्राप्ति का उपाय मानता है । श्रीदेवी भगवान् की प्राप्ति में पुरुषकारस्वरूपा है । अग्रसारित करने वाले को पुरुषकार कहते हैं । श्रीलक्ष्मीजी आचार्य के द्वारा शरणागति करनेवाले जीवों का पुरुषकार कर देती हैं, जिससे बिना किसी रोक-टोक के जीव श्रीभगवान् की कृपा का पात्र बन जाता है । श्रीभगवान् स्वयं कहते हैं—

'मत्प्राप्तिं प्रति जन्तूनां संसारे पततामधः ।
लक्ष्मीः पुरुषकारत्वे निर्दिष्टा परमर्षिभिः ॥
ममापि च मतं ह्येतद् नान्यथा लक्षणं भवेत् ।
अहं मत्प्राप्त्युपायो वै साक्षाल्लक्ष्मीपतिः स्वयम् ॥
लक्ष्मीः पुरुषकारेण वल्लभाप्राप्तियोगिनी ।
एतस्याश्च विशेषोऽयं निगमान्तेषु शब्द्यते ॥

आकिञ्चन्यैकशरणाः केचिद्भाग्याधिकाः पुनः ।
मत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं प्रपद्य प्रीतमानसः ॥
लक्ष्मीं पुरुषकारेण वृतवन्तो वरानन ।
मत्क्षमां प्राप्य सेनेश प्राप्य प्रापकमेव माम् ।
लब्ध्वा कृतार्थाः प्राप्यन्ते मामेवानन्यमानसाः ॥'

संसार में अधःपतित जीवों को मेरी प्राप्ति के लिए महर्षिगण श्रीलक्ष्मीजी को पुरुषकार कहते हैं । स्वयं मेरा भी यही मत है, मेरी प्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है । मैं स्वयं लक्ष्मीपति अपनी प्राप्ति का साधन स्वयं हूँ । मेरी प्रिया लक्ष्मीजी मेरी प्राप्ति-करानेवाली है । लक्ष्मीजी का विशेष वैभव वेदान्तों में वर्णित है । कुछ ही ऐसे भाग्यशाली हैं, जो आकिञ्चन्यविशिष्ट हैं तथा हे सेनेश ! लक्ष्मी की पुरुषकार प्राप्ति-पुरस्सर प्रसन्नमना होकर मेरे दोनों चरणकमलों को ही अपना एकमात्र शरण मान लेते हैं, वे मेरी क्षमा का विषय बन जाते हैं तथा जीवों को प्राप्त करने वाले मुझे ही प्राप्त करके तथा मुझे नमस्कार करके कृतकृत्य हो जाते हैं ।

श्रीलक्ष्मीजी में पुरुषकार की पूर्णता—श्रीवचनभूषणकार लोकाचार्य का कहना है कि पुरुषकार के लिए तीन गुण अपेक्षित हैं—(१) कृपा, (२) पारतन्त्र्य तथा (३) अनन्यार्हत्व । 'पुरुषकारभवनसमये कृपापारतन्त्र्यमनन्यार्हत्वे चापेक्षितम्' (श्रीवचनभूषण ८) । श्रीलक्ष्मीजी में ये तीनों गुण पाये जाते हैं । वे अपने आश्रित जीवों पर कृपा का प्रदर्शन करती हैं । वे श्रीभगवान् के परमपरतन्त्र हैं तथा वे श्रीभगवान् के ही योग्य हैं । 'राघवत्वेऽभवत् सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि ।' इस विष्णुपुराण की सूक्ति के अनुसार श्रीलक्ष्मीजी जब सीताजी का अवतार ग्रहण कीं तो उनमें ये तीनों गुण स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुए । श्रीरामायण में लक्ष्मीजी के तीन विश्लेष श्रीभगवान् से देखे जाते हैं । लोकाचार्य कहते हैं कि—'लक्ष्म्याः प्रथमविश्लेषः स्वकृपाप्रकाशनार्थम्' (श्रीवचनभूषण ९) । अर्थात् श्रीभगवान् से प्रथम बार विश्लिष्ट होकर सीताजी ने अपनी कृपा का प्रकाशन किया । रावण के मारे जाने के पश्चात् राक्षसियों का चित्रवध करने के लिए उद्यत हनुमान्जी से राक्षसियों की रक्षा करते हुए सीताजी ने कहा—

'पापानां वाऽशुभानां वा वधार्हाणामथापि वा ।
कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति ॥'

(वा० रा० यु० का० ११५।४३)

अर्थात् हे हनुमन् ! आर्य व्यक्ति को चाहिए कि वह पापी, वधार्ह तथा अशुभ जीवों पर भी कृपा करे, क्योंकि संसार में कोई भी ऐसा जीव नहीं, जिससे अपराध न होता हो ।

श्रीजानकीजी ने द्वितीय विश्लेष में अपना भगवत्पारतंत्र्य प्रकाशित किया । 'मध्यमविश्लेषः पारतन्त्र्यप्रकाशनार्थम्' (श्रीवचनभूषण १०) । जिस समय भगवान्

श्रीराम की आज्ञा से अन्तर्वत्नी सीता को जंगलों में छोड़कर श्रीलक्ष्मणजी चलने लगे तो सीताजी ने कहा—

'न खल्वद्यैव सौमित्रे जीवितं जाह्नवी जले ।
त्यजेयं राजवंशस्तु भर्तुर्मे परिहास्यते ॥'

(वा० रा० उ० का० ४८।८)

अर्थात् लक्ष्मण मैं आज ही इस गंगा में डूबकर अपनी जान दे देती, किन्तु मेरे गर्भ में मेरे स्वामी का वंश है। मेरे मरने से उनका राजवंश विनष्ट हो जायेगा, इसीलिए मैं अपनी जान नहीं दे रही हूँ। मैं श्रीराम के अत्यन्त परतन्त्र हूँ।

श्रीसीताजी केवल श्रीराम के ही योग्य थीं। वे सदा श्रीभगवान् से अनन्य थीं। सुन्दरकाण्ड में सीताजी ने स्वयं कहा—'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा' (वा० रा० ५।२१।१५)। जिस प्रकार सूर्य से उसकी प्रभा अभिन्न होकर रहती है, उसी प्रकार मैं श्रीराम से अनन्य हूँ। श्रीसीताजी ने अन्तिम विश्लेष में अपने अनन्यार्हत्व को प्रकाशित किया—'अनन्तरं विश्लेषोऽनन्यार्हत्वप्रकाशनार्थम्' (श्रीवचनभूषण ११)। रामाश्वमेध के पश्चात् समागत ऋषियों के समक्ष भगवान् राम का मनोभाव जानकर महर्षि वाल्मीकि के आदेश से अपनी अनन्यार्हता को प्रमाणित करते हुए श्रीसीताजी ने कहा—

'यथाहं राघवादन्यं मनसाऽपि न चिन्तये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥
यथैतत् सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हति ॥'

(वा० रा० उ० का० ९७।१४-१६)

अर्थात् यदि मैंने राम से भिन्न पुरुष का मन से भी चिन्तन नहीं किया है तो हे पृथिवी देवी ! मुझे प्रवेशार्थ विवर दे दे। यदि मैं मन, वाणी और कर्म से श्रीराम की समर्चा करती हूँ तो हे पृथिवी देवी ! मुझे प्रवेशार्थ विवर प्रदान करे। यदि मैं सत्य कहती हूँ कि श्रीराम से भिन्न किसी पुरुष को नहीं जानती हूँ तो हे पृथिवी देवी ! मुझे विवरमार्ग प्रदान करे। और सीताजी की इन बातों को सुनकर पृथिवी ने ससम्मान दिव्यसिंहासन पर बैठाकर उन्हें प्रवेशार्थ विवरमार्ग प्रदान करके सम्मानित किया। इस प्रकार पूर्णरूप से लक्ष्मीजी में पुरुषकाररूपता सिद्ध होती है।

प्रपत्ति की सुगमता—प्रपन्न जीव औपनिषद द्वात्रिंशत् ब्राह्मविद्याओं को अपनाने में असमर्थ होता है। वह अकिञ्चन तथा अनन्यगति होकर, भगवान् के दोनों चरणकमलों को ही श्रीभगवान् की प्राप्ति रूप मोक्ष का उपाय मानता है। इस प्रपत्ति में सभी का अधिकार है। इसमें अधिकारी का नियम नहीं है, सब लोग प्रपत्ति कर

सकते हैं। प्रपत्ति की सुगमता का वर्णन करते हुए लोकाचार्य कहते हैं—'प्रपत्तेर्देशनियमः कालनियमोऽधिकारिनियमः फलनियमश्च नास्ति' (श्री० व० भू० २७)। अर्थात् प्रपत्ति में देश, काल, अधिकारी तथा फल का नियम नहीं है। प्रपत्ति में एकमात्र विषय का नियम है। 'विषयनियम एवास्ति' (श्री व० भू० २८)।

प्रपन्न जीवों के भेद—प्रपन्न जीवों के दो भेद किये गए हैं—एकान्ती और परमैकान्ती। एकान्ती प्रपन्न जीव श्रीभगवान् से ही मोक्ष तथा मोक्ष के साथ-साथ अन्य फलों को प्राप्त करना चाहता है। किन्तु परमैकान्ती जीव भगवान् से भी ज्ञान और भक्ति ही चाहता है। वह ज्ञान और भक्ति से भिन्न वस्तुओं को भगवान् से भी नहीं चाहता है। उसे एकमात्र मोक्ष को प्राप्त करने की इच्छा रहती है। मोक्ष-व्यतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं चाहिए। उसे मोक्ष की प्राप्ति परमज्ञान और परमभक्ति से ही सम्भव है, अतएव वह भगवान् से भी केवल परमज्ञान और परमभक्ति को ही प्राप्त करना चाहता है।

परमैकान्ती प्रपन्न जीवों के दो भेद होते हैं—दृप्त और आर्त। दृप्त प्रपन्न वे होते हैं, जो यह जानकर कि प्रारब्ध कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है, अतएव वर्तमान शरीर के पातकाल में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, क्योंकि शरणागति का यह प्रभाव होता है कि उससे इस शरीर के अन्त में ही मोक्ष प्रदान कर देती है। प्रपत्ति करने वाले जीवों को मोक्ष प्राप्त करने के लिए अन्तिमप्रत्यय अनपेक्षित होता है।

आर्त प्रपन्न जीव चाहते हैं कि प्रपत्ति करने के पश्चात् ही मेरा यह शरीर छूट जाय। क्योंकि संसार धधकती हुई आग के समान अत्यन्त दुःख देता है। आग भी जीवों को सन्तप्त करने का काम करती है। संसार तो तीन प्रकार के तापों से जीवों को सन्तप्त करता है। वे सन्ताप—आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक हैं।

मुक्तजीववर्णनम्

मुक्तो नाम, उपायपरिग्रहानन्तरं नित्यनैमित्तिकभगवदाज्ञानुज्ञाकैङ्कर्यरूपाणि कर्माणि स्वयम्प्रयोजनतया कुर्वन्, भगवद्भागवताचार्यापचारांश्च वर्जयन्, देहावसानकाले सुकृतदुष्कृते मित्रामित्रयोर्निक्षिपन् वाङ्मनसीत्यादिप्रकारेण हार्दे परमात्मनि विश्रम्य मुक्तिद्वारभूतसुषुम्नानाडीं प्रविश्य तया ब्रह्मरन्ध्रान्निष्क्रम्य हार्देन साकं सूर्यकिरणद्वाराऽग्निलोकं गत्वा दिनपूर्वपक्षोत्तरायणसंवत्सराद्यभिमानिदेवताभिर्वायुना च पथि सत्कृतः, सूर्यमण्डलं भित्त्वा (नभोरन्ध्र)रथचक्ररन्ध्रद्वारा सूर्यलोकं गत्वाऽनन्तरं चन्द्रविद्युद्वरुणेन्द्रप्रजापतिभिर्मार्गप्रदर्शिभिरातिवाहिकैर्गणैस्सह सोपचारं तत्तल्लोकानतीत्य प्रकृतिवैकुण्ठसीमापरिच्छेदिकां विरजां तीर्त्वा सूक्ष्मशरीरं विहाय अमानवकरस्पर्शादप्राकृतदिव्य(मङ्गल-)विग्रहयुक्तश्चतुर्भुजो ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कृतः, इन्द्रप्रजापतिसंज्ञकनगरद्वारपालाभ्यनुज्ञया श्रीवैकुण्ठाख्यं दिव्य-

नगरं प्रविश्य पताकालङ्कृतदीर्घप्राकारसहितगोपुरमतीत्य ऐरम्मदाख्यामृत-सरस्सोमसवनाख्याश्वत्थं च दृष्ट्वा; शतं मालाहस्ता इत्याद्युक्तपञ्चशत-दिव्याप्सरोगणैरुपचरितो ब्रह्मगन्धादिभिरलङ्कृतस्तत्रत्यानन्तगरुडविष्वक्से-नादीन् प्रणम्य तैर्बहुमतो महामणिमण्डपमासाद्य पर्यङ्कसमीपे स्वाचार्यान् प्रणम्य पर्यङ्कसमीपं गत्वा तत्र धर्मादिपीठोपरि कमले अनन्ते विमलादि-भिश्चामरहस्ताभिस्सेव्यमानं श्रीभूमिनीलासमेतं शङ्खचक्रादिदिव्यायुधोपेतं जाज्वल्यमानकिरीटमुकुटचूडावतंसमकरकुण्डलग्रैवेयकहारकेयूरकटकश्रीवत्स-कौस्तुभमुक्तादामोदरबन्धनपीताम्बरकाञ्चीगुणनूपुराद्यपरिमितदिव्यभूषणै-र्भूषितमपरिमितोदारकल्याणगुणसागरं भगवन्तं दृष्ट्वा तत्पादार-विन्दयुगलं शिरसा प्रणम्य पादेन पर्यङ्कमारुह्य तेन स्वाङ्के स्थापितः कोऽसीति पृष्टो ब्रह्मप्रकारो(ब्रह्मपरिकरो) (ब्रह्मप्रकाशो)ऽस्मीति उक्त्वा तेन कटाक्षितः तदनुभवजनितप्रहर्षप्रकर्षात्सर्वदेशसर्वकालसर्वा-वस्थोचितसर्वकैङ्कर्यैकरतिराविर्भूतगुणाष्टकः उत्तरावधिरहितब्रह्मानुभववान् यः स मुक्त इत्युच्यते। मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यापत्तिश्रुतिस्तु भोगसाम्यमाह, जगद्व्यापारवर्जनस्य प्रतिपादनात्। तस्य नानात्वं सर्वलोकसञ्चरणं च सम्भवति।

अनुवाद—मुक्त जीव वे हैं, जो प्रपत्ति नामक उपाय के स्वीकार करने के पश्चात् नित्य-नैमित्तिक कर्मों को भगवान् की आज्ञा एवं अनुज्ञा का कैंकर्य रूप कर्मों का स्वयं प्रयोजन रूप से अनुष्ठान करते हुए तथा भगवदपचार, भागवतापचार का परित्याग करते हुए, देहपात के समय में अपने पाप एवं पुण्यों को क्रमशः शत्रुओं तथा मित्रों को प्रदान कर देते हैं। 'वाणी में मन का लय होता है' इत्यादि श्रौतवाक्यानुसार हृदयस्थ परमात्मा में लीन होकर मुक्ति के द्वारभूत सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश करके, उसके द्वारा ब्रह्मरंध्र से निकलकर जीव हृदयस्थ परमात्मा के साथ सूर्यकिरणों के द्वारा अग्निलोक में जाता है। मार्ग में दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायण तथा संवत्सर आदि के अभिमानी देवताओं तथा वायु के द्वारा समादृत होता हुआ वह सूर्यमण्डल का भेदन करके रथचक्ररन्ध्र के द्वारा सूर्यलोक में जाने के पश्चात् मार्ग का प्रदर्शन करने वाले चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापति, इन आतिवाहिक-गणों के साथ सम्पूजित होते हुए तत्-तत् लोकों को पारकर प्रकृति तथा वैकुण्ठ की सीमा को विभाजित करने वाली विरजा नदी को पार करके अपने सूक्ष्म शरीर को त्याग देता है। वहाँ अमानव-कर से स्पर्श होते ही वह चतुर्भुज दिव्यमङ्गलविग्रह को प्राप्त कर ब्रह्म के अलङ्कारों से अलङ्कृत होता है। इन्द्र, प्रजापति नामक नगर के द्वारपालों से आज्ञा प्राप्त कर मुक्तजीव श्रीवैकुण्ठ नामक दिव्य नगर में प्रवेश करता है। उस नगर के पता-काओं से समलङ्कृत दीर्घ प्राकार (लम्बी चहारदिवारी) युक्त गोपुर को पार करके ऐरम्मद नामक अमृतसरोवर तथा सोमसवन नामक अश्वत्थवृक्ष का दर्शन करता है।

वहाँ 'शतम् मालाहस्ताः' इत्यादि छान्दोग्य श्रुति के अनुसार पाँच सौ दिव्य अप्सराएँ उसका पूजन करके ब्रह्मगन्ध आदि से समलंकृत करती हैं। तदनन्तर मुक्तजीव वहाँ पर विद्यमान अनन्त, गरुड, विष्वक्सेन आदि नित्यसूरियों को प्रणाम करके, उनके द्वारा समादृत होकर महामणिमण्डप में प्रवेश करता है। वहाँ पर शय्या के समीप में विद्यमान अपने आचार्यों को प्रणाम करके पर्यङ्क के पास जाकर वहाँ पर धर्मादि पीठों के ऊपर विद्यमान, कमल के ऊपर विद्यमान, शेष के ऊपर विमला आदि चामरग्राहि-णियों के द्वारा सुसेवित श्रीदेवी, भूदेवी एवं नीलादेवी के साथ विद्यमान, शङ्ख-चक्रादि दिव्य आयुधों से समलङ्कृत, चमकते हुए किरीट, मकुट, चूडामणि, मकराकृत कुण्डल, गले का हार, केयूर, कंकण, श्रीवत्सचिह्न, कौस्तुभमणि, दामोदरबन्ध, पीताम्बर, करधनी तथा नूपुर आदि असीमित दिव्य आभूषणों से विभूषित, अनन्त उदार कल्याण आदि गुणों के आश्रय श्रीभगवान् का दर्शन करता है। श्रीभगवान् के दोनों चरण-कमलों में शिर से प्रणाम करके, पैरों से दिव्य पर्यङ्क पर चढ़कर श्रीभगवान् के द्वारा अपनी गोद में बैठाया जाता है। 'तुम कौन हो' इस तरह से श्रीभगवान् के द्वारा पूछे जाने पर 'मैं ब्रह्म का प्राकार हूँ' यह कहकर, श्रीभगवान् के द्वारा प्रेमपूर्वक देखा जाता है। उस सप्रेमवीक्षण के अनुभवजनित हर्षातिरेक के कारण उसमें श्रीभगवान् के सभी देशों, सभी कालों, सभी अवस्थाओं के लिए उचित सभी कैङ्कर्यों को सम्पादित करने का स्नेह उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार का वह आविर्भूत गुणाष्टक जीव अनन्त काल तक ब्रह्म का अनुभव करता है। मुक्तजीव की ब्रह्म की साम्यापत्ति बतलाने वाली श्रुति का अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्म के सदृश भोगों को प्राप्त कर लेता है, क्योंकि श्रुतियाँ मुक्तजीव के जगद्-व्यापार का वर्णन करती हैं। मुक्तजीव स्वेच्छानुसार अनेक शरीरों को धारण करके नाना लोकों में स्वेच्छानुसार संचरण करता है।

मुक्त जीव का वर्णन

भा० प्र०—जीवों के तीन भेद बतलाए गये हैं—बद्ध, मुक्त एवं नित्य। बद्धों के स्वरूप तथा भेद का निरूपण किया जा चुका है। अब मुक्तजीवों के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है। मुक्तजीव वे हैं, जो प्रपत्ति करने के पश्चात् भी संसारा-वस्था में आजीवन नित्य एवं नैमित्तिक कृत्यों का अनुष्ठान यह समझकर किया करते हैं कि श्रौतस्मार्त नित्य-नैमित्तिक कर्म श्रीभगवान् की आज्ञा रूप हैं। श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे।' भगवान् कहते हैं—श्रुतियों एवं स्मृतियों में प्रोक्त अनुष्ठेय कर्म मेरी आज्ञा रूप है। 'आज्ञाच्छेदी मम द्रोही।' श्रौतस्मार्त कर्मों का न पालन करना मेरी आज्ञा का उल्लंघन रूप द्रोह है। यही समझकर मुमुक्षु अधिकारी नित्य-नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान किया करते हैं कि इन कर्मों का अनुष्ठान श्रीभगवान् की आज्ञा का अनुपालन रूप है। श्रीभगवान् की आज्ञा का पालन ही भगवान् का कैंकर्य करना है। अतएव भगवान् का कैंकर्य सम्पादन रूप प्रयोजन की दृष्टि से मुमुक्षु अधिकारी यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मों को किया करते हैं।

भगवद्भाग० इत्यादि—मुमुक्षु जीव तीन प्रकार के अपराधों से बचा करते हैं। वे अपचार हैं—भगवदापचार, भागवतापचार तथा असह्यापचार। वाराहपुराण में बत्तीस प्रकार के अपचार वर्णित हैं। उनमें अनेक प्रकार के भगवदापचारों का वर्णन हैं। भगवान् की वस्तु को अपना समझना, अर्चावतार की मूर्तियों में प्राकृतत्व बुद्धि करना, ये सब भी भगवदापचार के अन्तर्गत हैं। भगवान् के भक्तों का अपचार ही भागवतापचार है। अथवा शास्त्रप्रतिकूल प्रक्रिया-विरुद्ध, जो भागवतों के विरुद्ध है, उससे धनादि का उपार्जन भी भागव्रतापचार है। भगवान् तथा भगवान् के भक्तों से द्वेष करना, उनका उपहास करना, अपमान करना, आचार्य का अपमान करना इत्यादि असह्यापचार हैं। भागवतापचार से भी अधिक पापप्रद असह्यापचार है, इसे तो भगवान् कभी भी सहन नहीं करते हैं।

देहावसान० इत्यादि—जब मुक्तजीव इस शरीर का त्याग करके उत्क्रमण करने लगता है तो उसके जो प्रारब्धकर्म के भुक्तावशिष्ट पुण्य एवं पाप होते हैं, उनमें-से अवशिष्ट पाप उसके शत्रुओं को मिल जाते हैं और भुक्तावशिष्ट पुण्य उसके मित्रों को मिल जाते हैं। विद्या को अग्नि के समान शास्त्रों में बतलाया गया है तथा कर्मों को ईषिकातूल (सरपत के भूआ) के समान बतलाया गया है। जिस प्रकार आग लगने पर ईषीकातूल विनष्ट हो जाते हैं तथा कितना ही पानी पड़ने पर भी उसमें पुनः इषीकतूल नहीं निकलते हैं, उसी प्रकार से न्यासादि विद्याओं का सम्पर्क होते ही विद्याप्राप्त मुमुक्षु के पूर्वाघ का विनाश हो जाता है और उत्तराघ का पुनः कभी संश्लेष नहीं होता है। यही विद्या की प्राप्ति का माहात्म्य है। श्रुति कहती है—'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते' (छा० उ० ५।२४।३)। अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में डाला गया ईषीकातूल जल जाता है, उसी प्रकार विद्याप्राप्त मुमुक्षु जीव के सभी पुण्य-पाप रूप कर्म विनष्ट हो जाते हैं। तथा—'तद्यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते एवमेवं विदि पापं कर्म न श्लिष्यते।' यह छान्दोग्य श्रुति कहती है कि जिस प्रकार कमल के पत्ते से जल का संश्लेष नहीं होता, उसी प्रकार इस आत्मवेत्ता पुरुष से पापकर्मों का संपर्क नहीं होता है। इसी बात को महर्षि बादरायण ने कहा है—तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' (ब्र० सू० ४।१।१३)। अर्थात् श्रुतियाँ बतलाती हैं कि विद्या की प्राप्ति हो जाने पर पूर्वाघ का विनाश तथा उत्तराघ का अश्लेष हो जाता है। अर्थात् विद्यारम्भ से पूर्व किये गये सञ्चित कर्मों का विद्या से विनाश होता है, अर्थात् उन कर्मों की शक्ति नष्ट हो जाती है, वह शक्ति श्रीभगवान् की प्रीतिविशेष और कोपविशेष रूप है। भाव यह है कि प्राचीन पुण्य-पाप रूप कर्मों के अनुसार कर्ता को अनुकूल तथा प्रतिकूल फल भोगने के लिए श्रीभगवान् के प्रीतिविशेष रूप तथा कोपविशेष रूप जो संकल्प होते हैं, ये संकल्प ही कर्मों की शक्ति हैं। विद्या के द्वारा यही शक्ति नष्ट होती है तथा विद्या-निष्पत्ति के पश्चात् प्रमादादि जन्य कर्मों में वह शक्ति उत्पन्न ही नहीं होती है। अर्थात् यह शक्ति प्रतिबद्ध हो जाती है। शरीर-

पात के समय जब साधक के पुत्रादि उसके दायभाग को लेने लगते हैं तो उसी समय साधक के जो प्रतिबद्ध कर्म रहते हैं, उनमें-से पापकर्म साधक के शत्रुओं को मिल जाते हैं और पुण्यकर्म साधक के मित्रों को मिल जाते हैं। श्रुति भी कहती है—'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदस्साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।'

विद्या-प्राप्त जीव का सुषुम्णा नाडी में प्रवेश — वाङ्मनसी० इत्यादि—विद्याप्राप्त जीव जब प्रयाण करते हैं तो उस समय भी उसकी सत्सम्पत्ति (परमात्मा में लय) होती है; इस बात को बतलाती हुई श्रुति कहती है—'सोम्यपुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्' (छा० उ० ६।८।६)। अर्थात् 'शरीर त्याग काल में वाणी का मन में लय होता है, मन का प्राण में, प्राणों का तेज में तथा तेज का परमात्मा में।' इस श्रुति के अनुसार जीव का देहत्याग काल में परमात्मा में लय हो जाता है। पुनः वह जीव सुषुम्णा नाड़ी में प्रवेश कर जाता है। यह सुषुम्णा नाड़ी ही मुक्ति का द्वार है। श्रुति कहती है कि—'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति। विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति' (कठो० २।३।१६)। अर्थात् हृदयप्रदेश से निकलने वाली एक सौ एक नाडियाँ है। उसमें एक नाड़ी मूर्धाप्रदेश-पर्यन्त आती है। उसके द्वारा इस शरीर से निकलने वाला जीव मोक्ष को प्राप्त करता है। अन्य नाड़ियों से उत्क्रमण करने वाले जीव इधर-उधर जाते हैं। इस श्रुति में वर्णित मूर्धन्य नाड़ी ही सुषुम्णा नाड़ी है। परमपुरुष की आराधनाजन्य प्रसन्नता से विद्याप्राप्त जीव श्रीभगवान् का प्रियतम हो जाता है। प्रसन्न होकर परमात्मा उस जीव के लिए उस नाड़ी का द्वार प्रकाशित कर देते हैं। उस मुक्ति के द्वारभूत नाड़ी के द्वारा ही विद्याप्राप्त जीव उत्क्रमण करता है। महर्षि बादरायण कहते हैं—'तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतशताधिकया' (ब्र० सू० ४।२।१६)। अर्थात् विद्याप्राप्त पुरुष एक सौ एकवीं मूर्धन्य नाड़ी से ही उत्क्रमण करता है। क्योंकि परमपुरुष परमात्मा के आराधनस्वरूप वह विद्या परमात्मा को अत्यन्त प्रिय है। किञ्च वह विद्याओं की शेषभूत विद्या है, उसी के सामर्थ्य से वह आत्मा के अत्यन्त प्रिय मार्ग का स्मरण भी करता है। उस विद्या के ही सामर्थ्य से प्रसन्न होकर भगवान् उसके हृदय को प्रकाशित कर देते हैं, जिससे कि उस नाड़ी का द्वार प्रकाशित हो जाता है। उसमें प्रवेश करके जीव ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकलता है। ब्रह्मरन्ध्र से निकलकर जीव सूर्य की किरणों के माध्यम से अग्निलोक में जाता है। पुनः वह मार्ग में दिन, पूर्वपक्ष, उत्तरायण तथा संवत्सर के अभिमानी देवताओं एवं वायु के द्वारा सत्कृत होकर सूर्यमण्डल को पार कर जाता है। पुनः सूर्यलोक में जाकर उसके बाद चन्द्रमा, विद्युत्, वरुण, इन्द्र तथा प्रजापति नामक आतिवाहिकों—जो मुक्तजीव के मार्ग का प्रदर्शन करते हैं—के द्वारा सम्पूजित होकर मुक्तजीव विरजा नदी को पार करता है। यह विरजा नदी प्रकृतिमण्डल तथा वैकुण्ठ की

सीमा को विभाजित करती है। इस विरजा नदी को पार करके जीव अपने सूक्ष्म शरीर का भी त्याग कर देता है।

जीवों के दो प्रकार के शरीर होते हैं—स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर। स्थूल शरीर हम लोगों का यह पाञ्चभौतिक शरीर है। सूक्ष्मशरीर इस शरीर के त्यागने के पश्चात् भी बना रहता है। उसी शरीर के द्वारा जीव तत्-तत् लोकों में जाकर सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। यह सूक्ष्मशरीर सप्तादशावयवक होता है। विरजा नदी का अवगाहन होते ही वह सूक्ष्मशरीर भी छूट जाता है। इसके पश्चात् दिव्य पुरुष मुक्तजीव का स्पर्श करता है। उसके स्पर्श करते ही मुक्तजीव दिव्य शरीर को प्राप्त कर लेता है। वह चतुर्भुज शरीर वाला हो जाता है। वहाँ वह ब्रह्म के अलङ्कारों से अलङ्कृत होकर इन्द्र और प्रजापति नामक द्वारपालों की आज्ञा पाकर श्रीवैंकुण्ठ नामक दिव्य नगर में प्रवेश करता है। श्रीवैंकुण्ठ नामक दिव्य नगर का गोपुर दीर्घप्राकार तथा अनेक प्रकार की पताकाओं से समलङ्कृत है। मुक्तजीव उसको पार करके पुनः ऐरम्मद नामक दिव्य अमृतसरोवर और सोमसवन नामक अश्वत्थ का दर्शन करता है।

वैंकुण्ठ की नदी आदि का वर्णन—श्रीवैंकुण्ठलोक की नदी इत्यादि का वर्णन उपनिषदों में भी मिलता है। 'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्यारोह्रदो मुहूर्ता येष्टिहा, विरजा नदी, तिल्यो वृक्षः सायुज्यं संस्थानमपराजितमायतनम् इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ, विभुं प्रमितं विचक्षणासन्ध्यमितौजाः पर्यङ्कः' (कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् १।२-३)। अर्थात् उस ब्रह्मलोक में आर नामक एक प्रसिद्ध सरोवर है, जो अमृतमय है। छान्दोग्योपनिषद् में यहाँ पर तीन सरोवरों का वर्णन है—अर, ण्य और ऐरम्मदीय। छान्दोग्य श्रुति है—'अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यमितो दिवि तदैरम्मदीयं सरः।' (छा० उ० अध्याय ८।५)। उसके पश्चात् मुहूर्त नामक यष्टिहा हैं। ये अब्रह्मज्ञों को यष्टि प्रहार करते है। वहाँ पर विरजा अथवा विजरा नामक नदी है। उसी के सन्निकट तिल्य नामक वृक्ष है। छान्दोग्योपनिषद् में इसे ही सोमसवन नामक अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है। छान्दोग्य श्रुति है—'तदश्वत्थः सोमसवनः' (छा० उ० ८।५)। वहाँ सालज्य नामक संस्थान है। अपराजित नामक नगर है। इन्द्र एवं प्रजापति नामवाले दो द्वारपाल हैं। वहाँ स्वर्णमय अत्यन्त विस्तृत मण्डप है। छान्दोग्योपनिषद् श्रुति कहती है—'प्रभुविमितं हिरणमयम्' (छा० ८।५)। विचक्षण नामक वहाँ धर्मादि पीठ है। अमितौजा नामक योगपीठ है।

मुक्तजीव का पाँच सौ दिव्य अप्सराओं द्वारा ब्रह्मालंकार—उपर्युक्त वस्तुओं का दर्शन कर लेने के बाद वहाँ की पाँच सौ दिव्य अप्सराएँ आकर उस मुक्त पुरुष की समर्चा तथा ब्रह्मालंकार करती हैं। कौषीतकि श्रुति कहती है—'तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतिधावन्ति शतं मालाहस्ताः शतमाञ्जनहस्ताः, शतं चूर्णहस्ताः, सतं वासोहस्ताः, शतं कणाहस्ताः, तं ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कुर्वन्ति' (कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् १।४)। अर्थात् उस मुक्तजीव का समादर करने के लिए पाँच सौ अप्सराएँ दौड़कर आगे

आती हैं। सौ अप्सराएँ माला लिए रहती हैं, सौ अप्सराएँ अञ्जन लिए रहती हैं। सौ अप्सराएँ चूर्ण लिए रहती हैं। सौ अप्सराएँ वस्त्र लिए रहती हैं तथा सौ अप्सराएँ भूषण लिए रहती हैं। वे आकर मुक्तजीव को ब्रह्म के अलङ्कारों से अलङ्कृत करती हैं।

ब्रह्मगन्ध से समलङ्कृत मुक्तजीव वहाँ पर विद्यमान अनन्त, गरुड एवं विष्वक्सेन आदि को प्रणाम करता है। अनन्त, गरुड एवं विष्वक्सेन, ये तीन श्रीभगवान् के दिव्य पार्षद हैं। यामुनाचार्य स्वामी ने इन तीनों का क्रमशः वैकुण्ठलोक में निम्न प्रकार से वर्णन किया है।

अनन्त का वर्णन—श्रीशेष का दूसरा नाम अनन्त है। श्रीयामुनाचार्य कहते हैं—

'तया सहासीनमनन्तभोगिनि, प्रकृष्टविज्ञानबलैकधामनि।
फणामणिव्रातमयूखमण्डप्रकाशमानोदरदिव्यधामनि ॥
निवासशय्यासनपादुकांशुकोपधानवर्षातपवारणादिभिः ।
शरीरभेदैस्तव शेषतां गतैः यथोचितं शेष इतीरिते जनैः ॥'

(स्तो० र० ३९–४०)

अर्थात् श्रीवैकुण्ठलोक में प्रकृष्ट विज्ञान एवं बल के आश्रय फणाओं की मणिसमूह से प्रकाशमान उदर वाले अनन्त की शय्या पर श्रीलक्ष्मीजी के साथ श्रीभगवान् बैठते हैं। निवास (दिव्यायतन), शय्या (योगनिद्रावस्था में), (पर्यङ्क विद्या आदि में आम्नात) दिव्यसिंहासन, पादुका, पीताम्बर, उपधान आदि विविध शरीरों को धारण करके श्रीभगवान् की वर्षा, आतप आदि से सुरक्षा करने के कारण अनन्त को शेष शब्द से अभिहित किया जाता है, यह उचित ही है।

अनन्त को अनन्त इसलिए कहा जाता है कि कोई उनके गुणों का अन्त नहीं पा सकता है। विष्णुपुराणकार कहते हैं—

'गन्धर्वाप्सरसः सिद्धाः सकिन्नरमहोरगाः।
नान्तं गुणानां गच्छन्ति तेनानन्तः प्रचक्षते ॥' (वि० पु० १।१५।१५७)

अर्थात् गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, किन्नर एवं महोरग ये सभी चूँकि शेष के गुणों का पार नहीं पा सकते हैं; अतएव वे अनन्त कहे जाते हैं। ये प्रकृष्ट विज्ञान के आश्रय इसलिए हैं कि उन्हें सूर्यसिद्धान्त आदि में पञ्चविध ज्योतिष-सिद्धान्त का प्रवर्तक बतलाया गया है।

उन्हें प्रकृष्ट बल का आश्रय इसलिए माना जाता है कि वे सम्पूर्ण पृथिवी को अपने सिर पर धारण करते हैं (वि० पु० २।५)।

गरुड़ का वर्णन—वैकुण्ठलोकस्थ श्रीभगवान् के दिव्य पार्षद गरुड का वर्णन करते हुए कहा गया है—

'दासः सखा वाहनमासनं ध्वजो यस्ते वितानं व्यजनं त्रयीमयः।
उपस्थितं तेन पुरो गरुत्मता त्वदङ्घ्रिसम्मर्दकिणाङ्कशोभिना ॥'

अर्थात् हे भगवन् ! त्रयीस्वरूप गरुड़जी ही आपके दास, सखा, वाहन, दिव्य सिंहासन, ध्वजा, चँदोवा तथा व्यजन का कार्य करते हैं। आपके चरणचिह्नों से सुशोभित वे गरुड़जी आपके समक्ष सेवा करने हेतु सदा खड़े रहते हैं।

विष्वक्सेन का वर्णन—श्रीवैकुण्ठस्थ श्रीभगवान् के सेनापति का वर्णन करते हुए श्रीवेदान्तदेशिक कहते हैं—

'वन्दे वैकुण्ठसेनान्यं देवं सूत्रवतीसखम्।
यद् वेत्रशिखरस्पन्दे विश्वमेतद् व्यवस्थितम्॥' (यतिराजसप्तति ३)

अर्थात् दिव्यगुणसम्पन्न वेत्रवती के स्वामी तथा श्रीभगवान् के सेनापति श्रीविष्वक्सेन सूरि की मैं वन्दना करता हूँ, जिनके वेत्र के अग्रभाग के संचालन मात्र से यह सम्पूर्ण जगत् व्यवस्थित हो जाता है।

तं बहुमत० इत्यादि—श्रीविष्वक्सेन गरुड़ तथा अनन्त को प्रणाम करके तथा उनका स्नेहभाजन बनकर मुक्तजीव महामणिमण्डप में प्रवेश करता है। वहाँ योग-पर्यङ्क के समीप विद्यमान अपने पूर्वाचार्यों तथा आचार्यों को प्रणाम करके मुक्तजीव योग-पर्यङ्क के समीप जाता है। वहाँ पर धर्मादि पीठ के ऊपर विद्यमान कमल के ऊपर श्रीअनन्त के ऊपर श्रीभगवान् का वह दर्शन करता है। उन श्रीभगवान् की विमला आदि चामरग्राहिणियाँ चमर-सेवा किया करती हैं। श्रीभगवान् श्रीदेवी, भूदेवी तथा नीलादेवी से सेवित हैं।

श्रीभगवान् की तीन पत्नियाँ—'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' इत्यादि उत्तरानुवाक् आदि के मन्त्रों द्वारा श्रीभगवान् की श्रीदेवी एवं भूदेवी, इन दो पत्नियों का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। विष्णुपुराण आदि में श्रीभगवान् की पत्नी लक्ष्मीजी तथा भूदेवी का वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्‌यामुनाचार्य ने स्तोत्ररत्न के 'चकर्थ यस्या भवनं भुजान्तरम्' तथा 'स्ववैश्वरूपेण सदाऽनुभूतया०' इत्यादि पर्यन्त दो श्लोकों में श्रीभगवान् की पत्नी श्रीदेवी का विशद वर्णन किया है। किन्तु विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में श्रीभगवान् की श्रीदेवी एवं भूदेवी, इन दो पत्नियों से भिन्न एक तीसरी पत्नी श्रीनीला देवी का भी वर्णन स्थान-स्थान पर प्राप्त होता है। स्वयं भगवत्पाद-श्रीरामानुजाचार्य शरणागति गद्य में कहते हैं—'स्वाभिमतनित्य-निरवद्यानुरूपस्वरूप-रूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणश्रीवल्लभ ! एवम्भूत भूमिनीलानायक।' अर्थात् हे स्वानुकूल, नित्य, निरवद्य तथा अनुरूप, स्वरूप, रूप, गुण, वैभव, ऐश्वर्य तथा शील आदि सीमातीत सर्वोत्कृष्ट असंख्य कल्याणकारी गुणों से युक्त श्रीपति ! तथा इसी प्रकार के भूदेवि तथा नीलादेवी के स्वामिन् !' इससे स्पष्ट है कि भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्य भी श्रीभगवान् की सर्वप्रधान पत्नी श्रीदेवी को तथा भूमिदेवी एवं नीलादेवी को भी उनकी पत्नी मानते हैं। श्रीगुण-रत्नकोश में श्रीपराशर भट्ट कहते हैं कि 'हे श्रीदेवि ! नीलादेवी तथा भूदेवि के साथ अनेक देवियाँ आपकी सेवा करती हैं'। 'देवि ! त्वामनुनीलया सह महीदेव्यः

सहस्रं तथा' (श्रीगुणरत्नकोश २६)। बलपौष्कर में कहा गया है कि—'सेव्यः श्रीभूमिनीलाभिः पादुर्भावैस्तु चाखिलैः' अर्थात् सभी अवतारों में श्रीदेवी, भूदेवी तथा नीलादेवी से विशिष्ट तथा अनन्त शय्या पर उपविष्ट श्रीवैकुण्ठनाथ भगवान् की सेवा करनी चाहिए। श्रीमद्वेदान्तदेशिक यादवाभ्युदय महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में श्रीकृष्ण भगवान् का नीलादेवी के साथ पाणिग्रहण की कथा का निबन्धन करते हुए कहते हैं—

'दिशागजानामिव शाक्वराणां शृङ्गाग्रनिर्भिन्नशिलोच्चयानाम्।
स तादृशा बाहुबलेन कण्ठान् निपीड्य लेभे पणितेन नीलाम्॥'
(यादवाभ्युदय महाकाव्य ४।९८)

अर्थात् दिग्गजों के समान बलवान्, अपने शृङ्गों के अग्रभाग से शिलासमूह को विदारित करने वाले, वृषभों के गले को अपने प्रख्यात बाहुबल से दबाकर मार डालने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने वीर्यशुल्का नीलादेवी को प्राप्त किया।

इस श्लोक की व्याख्या में सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-श्रीमद् अप्पय दीक्षित लिखते हैं कि—हरिवंशपुराण में यह कथा आयी है कि विदेह की नगरी में यशोदा के अनुज कुम्भक नामक गोपाल रहते थे। पूर्वजन्म में भगवान् राम के द्वारा पराजय के वैर को स्मरण करके कालनेमि राक्षस के सात पुत्र कृष्ण का अपकार करने की इच्छा से वृषभ का रूप बनाकर उनके गोष्ठ में रहते थे। ये अत्यन्त भयङ्कर बैल उनके गोष्ठ में उत्पात किया करते थे, किन्तु कुम्भक स्वयं उन सबों का दमन करने में असमर्थ थे। उन्होंने घोषणा की कि जो इन वृषभों का दमन करेगा, उसको मैं अपनी पुत्री नीला को वीर्य शुल्क के रूप में प्रदान करूँगा। श्रीभगवान् यह सुनकर विदेह की नगरी गये और अपनी भुजाओं से उन बैलों का गला दबाकर मार डाले और नीला देवी के साथ अपनी शादी किये। नीला देवी के साथ परिणय की कथा वेदान्तदेशिक ने यादवाभ्युदय ४।९८ से ४।१०३ श्लोक-पर्यन्त वर्णन किया है।

शंखचक्रादिदिव्यायुधोपेतामित्यादि—श्रीभगवान् शंख-चक्र आदि दिव्य आयुधों को धारण करते हैं तथा अनेक दिव्य अलङ्कारों से अलङ्कृत रहते हैं। श्रीभगवान् के अनेक दिव्य आयुध हैं, किन्तु उनमें शंख, चक्र, गदा (कौमोदकी), कृपाण (नन्दक) तथा धनुष (शाङ्‌र्ग), ये पाँच आयुध प्रधान हैं। भगवान् के अनेक दिव्य अलङ्कारों का वर्णन अनेकत्र उपलब्ध होता है।

अपरिमितोदारकल्याणगुणसागरमित्यादि—श्रीभगवान् के अनेक कल्याणकारी गुणों का वर्णन उपलब्ध होता है। श्रुतियाँ श्रीभगवान् को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् इत्यादि रूप से बतलाती हैं। 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।' श्रुति कहती है कि श्रीभगवान् सर्वज्ञ, सर्ववेत्ता, अनेक प्रकार की पराशक्तियों से सम्पन्न हैं तथा उनमें ज्ञान एवं बल की क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से सुनी जाती हैं। यामुनाचार्य कहते हैं—

'वशी वदान्यो गुणवान् ऋजुः शुचिः, मृदुर्दयालुर्मधुरः स्थिरः समः ।
कृती कृतज्ञस्त्वमसि स्वभावतः, समस्तकल्याणगुणामृतोदधिः ॥'
(स्तो० र० १८)

अर्थात् हे श्रीभगवन् ! आप स्वाभाविक रूप से, वशी, वदान्य, शीलगुणवान्, ऋजु, मृदु, दयालु, मधुर, स्थिर, सम, कृती तथा कृतज्ञ आदि सारे कल्याणकारी गुण-समूह रूपी अमृत के सागर हैं । भगवत्पाद रामानुजाचार्य तो श्रीभगवान् के कल्याणकारी गुणों का वर्णन करते हुए अघाते नहीं हैं ।

तत्पादारविन्दयुगलमित्यादि—मुक्तजीव उपर्युक्त श्रीभगवान् के चरणकमलद्वय को शिर से प्रणाम करके भगवान् के योगपर्यङ्क पर चढ़ता है तथा श्रीभगवान् उस मुक्तजीव को अपनी गोद में बैठाकर पूछते हैं कि तुम कौन हो ? श्रीभगवान् के प्रश्न के उत्तर में स्व-स्वरूपज्ञ जीव कहता है कि हे भगवन् ! मैं आपका प्रकार हूँ ।

श्रीभगवान् जीवों के प्रकारी हैं और जीव श्रीभगवान् का प्रकार है । जीव और ब्रह्म में यह प्रकार-प्रकारीभाव उसके शरीरात्म निबन्धन को लेकर होता है । श्रुति बतलाती है कि यह आत्मा श्रीभगवान् का शरीर है और श्रीभगवान् परमात्मा की आत्मा है । 'य आत्मानमन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।' अर्थात् जो परमात्मा इस शरीर के भीतर रहकर उस आत्मा की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, जिसे आत्मा नहीं जानती तथा आत्मा जिसका शरीर है । जिस प्रकार शरीर आत्मा का अपृथक्-सिद्ध प्रकार होता है, उसी प्रकार जीव भी परमात्मा का अपृथक्सिद्ध प्रकार है ।

तेन कटाक्षितः इत्यादि—मुक्तजीव के उपर्युक्त उत्तर को सुनकर श्रीभगवान् प्रेमपूर्वक उसे देखते हैं और श्रीभगवान् के उस सप्रेम प्रेक्षणजन्य आनन्द का अनुभव करके जीव के भीतर यह अभिलाषा पैदा होती है कि मैं श्रीभगवान् की प्रत्येक अवस्था में सभी प्रकार की सेवाओं का अन्तरङ्ग कैंकर्य करता हूँ ।

श्रीभगवान् को स्वरूपज्ञ जीव अत्यन्त प्रिय होता है । गीता में श्रीभगवान् कहते हैं—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।' अर्थात् ऐसा महात्मा मुझे अत्यन्त दुर्लभ है, जो सम्पूर्ण जगत् को परमात्मात्मक मानता है । उस दुर्लभ जीव को प्राप्त कर श्रीभगवान् अपनी गोद में बैठा लेते हैं और उसको सप्रेम वीक्षण करते हैं । इस भगवत्कृत स्नेहातिशय्य का अनुभव करके मुक्तजीव के मन में यह अभिलाषा पैदा होती है कि मैं सभी देशों, कालों एवं अवस्थाओं में श्रीभगवान् की सभी प्रकार की सेवा करता रहूँ । श्रीयामुनाचार्य भी स्तोत्ररत्न में कहते हैं—

'कदा पुनः शङ्खरथाङ्गकल्पकध्वजारविन्दाङ्कुशवज्रलाञ्छनम् ।
त्रिविक्रम ! त्वच्चरणाम्बुजद्वयं मदीयमूर्धानमलङ्करिष्यति ॥'
(स्तो० र० ३१)

अर्थात् हे भगवन् ! आपके शंख, चक्र, कल्पवृक्ष, ध्वजा, कमल, अंकुश तथा वज्र के चिह्नों से चिह्नित दोनों चरणकमल मेरे शिर को पुनः कब पवित्र करेंगे ? वे मुक्तावस्था में होने वाले नित्यान्तरङ्ग कैंकर्य की कामना करते हुए कहते हैं—

'भवन्तमेवानुचरन्निरन्तरं प्रशान्तनिःशेषमनोरथान्तरः ।
कदाऽहमैकान्तिकनित्यकिङ्करः प्रहर्षयिष्यामि सनाथजीवितः ॥'

अर्थात् सर्वदा आपकी ही सेवा में संलग्न सभी अन्य मनोरथों से रहित आपका अन्तरङ्ग सेवक बनकर अपने सनाथित जीवन वाला मैं आपको कब प्रहर्षित करूँगा ?

आविर्भूतगुणाष्टकः इत्यादि—मुक्तावस्था में जीव के आठों दिव्य गुण, जो 'एष आत्मापहतपाप्मा०' इत्यादि प्रजापति-वाक्य में कहे गये हैं, आविर्भूत हो जाते हैं। मुक्तजीव को अनन्त काल तक श्रीभगवान् का अनुभव होता रहता है।

मुक्तस्य ब्रह्मसाम्यापत्तिस्तु० इत्यादि—'निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' (मु० उ० ३।१।३) श्रुति बतलाती है कि प्राकृतिक दोषों से रहित मुक्तजीव परमात्मा की अत्यन्त समता को प्राप्त कर लेता है। किञ्च जिस प्रकार पुरुष विद्या में जीवात्मा को 'सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः' श्रुति बतलाती है, उसी प्रकार वह दहरविद्या में भी परमात्मा को सत्यकाम और सत्यसंकल्प बतलाती है। इस प्रकार भी सिद्ध होता है कि मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म की सभी प्रकार की समता को प्राप्त कर लेता है। 'मम साधर्म्यमागताः' (गी० १४) इस गीता-वाक्य में भी भगवान् मुक्तजीवों की ब्रह्मसाम्यापत्ति का प्रतिपादन करते हैं। इसके विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वान् महर्षि बादरायण के सूत्रों का पर्यालोचन करते हुए कहते हैं कि शास्त्रों में जीव की जो ब्रह्मसाम्यापत्ति बतलायी गयी है, उसका अभिप्राय जीवों को ब्रह्म के सदृश भोगमात्र की समता के प्रतिपादन में है, न कि सभी प्रकार की समता में। महर्षि बादरायण का कहना है कि 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' अर्थात् जीव और ब्रह्म की भोगमात्र की समता मुक्तावस्था में होती है। इस अर्थ में प्रमाण है—'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' अर्थात् मुक्तजीव सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ सभी काम्यपदार्थों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार एक सेर लोहे और एक सेर सोने में भार की समानता होने पर भी उन दोनों के मूल्य में महान् अन्तर होता है, उसी प्रकार ब्रह्म और मुक्तजीव में भोग की समता होने पर भी दोनों में नियाम्य-नियामकत्व, जगद्व्यापाररहितत्व तथा जगद्व्यापारसहितत्व आदि धर्मों को लेकर महान् अन्तर है। महर्षि बादरायण कहते हैं कि—'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।' अर्थात् मुक्त का लक्षण जगद्व्यापाररहित होना है, क्योंकि यदि जगद्व्यापार रूप सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रवृत्ति का नियमन मुक्त का लक्षण होता तो 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म' (तै० उ० भृ० व० १) श्रुति को अपना विषय बनाकर प्रवृत्त होने वाले 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्र० सू० १।१।२) सूत्र में ब्रह्म का लक्षण नहीं कहा जाता। चूँकि इस सूत्र से ब्रह्म का लक्षण कहा गया है तथा यह 'यतो वा' श्रुति ब्रह्म के लक्षण के प्रकरण में पढी गयी है, अतएव जगद्व्यापार मुक्तजीव का लक्षण नहीं हो सकता है। अतएव जीव और ब्रह्म

में भोगमात्र की समता है, सभी प्रकार की नहीं। मुक्तजीव नाना हैं तथा उनका सभी लोकों में संचरण होता है।

मुक्तजीवस्य सर्वलोकसञ्चरणत्वप्रतिपादनम्

ननु मुक्तस्यानावृत्तिप्रतिपादनात् अस्मिन् लोके सञ्चारः कथमिति न शङ्कनीयम्। कर्मकृतस्यैव निषेधात्। स्वेच्छया सञ्चरणस्योपपत्तेः। अतो मुक्तो भगवत्सङ्कल्पायत्तः स्वेच्छया च सर्वत्र सञ्चरति।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि मुक्तजीव की अनावृत्ति का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं, अतएव उसका इस लोक में संचरण कैसे संभव है? तो यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि श्रुतियाँ मुक्तजीव का इस लोक में कर्मजन्य आगमन का ही निषेध करती हैं; किन्तु स्वेच्छा से तो उनका संचरण संभव ही है। अतएव मुक्तजीव भगवान् के संकल्प के अधीन होकर तथा स्वेच्छा से भी सर्वत्र संचरण करता है।

भा० प्र०—'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छा० उ० ८।१५।१) श्रुति बतलाती है कि मुक्तजीव पुनः इस संसार में नहीं आता है। भगवान् स्वयं कहते हैं—'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।' अर्थात् मुक्तजीव न तो सृष्टिकाल में उत्पन्न होते हैं और न तो प्रलयकाल में उनका लय होता है। अतः यह कहना कि मुक्तजीव का सभी लोकों में सञ्चरण है; यह उचित नहीं है, क्योंकि मुक्तजीव पुनः इस लोक में नहीं आता है। तो यह शंका करना इसलिए उचित नहीं है कि मुक्तजीव का इस लोक में कर्मकृत सञ्चरण नहीं होता है। वह अपनी इच्छा से तो इस लोक में आ ही सकता है। अथवा मुक्तजीव श्रीभगवान् के संकल्पाधीन होता है, अतएव श्रीभगवान् के सत्यसंकल्प से वह मर्त्यलोक में संचरण कर सकता है। अतएव मुक्त-जीवों का सर्वलोकों में सञ्चरण उपपन्न ही है।

नित्यजीवानां स्वरूपम्

नित्या नाम कदाचिदपि भगवदभिमतविरुद्धाचरणाभावेन ज्ञानसङ्कोच-प्रसङ्गरहिता अनन्तगरुडविष्वक्सेनादयः। तेषामधिकारविशेषा ईश्वरस्य नित्येच्छयैव अनादित्वेन व्यवस्थापिताः। एतेषामवतारास्तु भगवदवतार-वत् स्वेच्छयैव। एवं बद्धमुक्तनित्यभेदभिन्नो जीवो निरूपितः।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन
विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायां
जीवनिरूपणं नामाष्टमोऽवतारः।

अनुवाद—नित्यजीव वे हैं, जो कभी भी भगवान् के अभिमत के विरुद्ध आचरण करते ही नहीं (वे सदा ऐसा ही आचरण करते हैं, जो श्रीभगवान् के मनोनुकूल होते

हैं), अतएव नित्यजीवों के ज्ञान का संकोच और विकास कभी होता ही नहीं है। ऐसे जीव अनन्त, गरुड़ एवं विष्वक्सेन आदि हैं। ऐसे नित्यजीवों के अधिकार-विशेष श्रीभगवान् की नित्य इच्छा से ही व्यवस्थित हैं। नित्यजीवों के अवतार भी उसी प्रकार स्वेच्छा से होते हैं, जिस प्रकार श्रीभगवान् के अवतार स्वेच्छा से ही होते हैं। इस प्रकार जीवों के बद्ध, नित्य एवं मुक्त तीन भेद निरूपित किये गये।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन् महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य-प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का जीव-निरूपण नामक आठवां अवतार पूर्ण हुआ।

अथ नवमोऽतार:

ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपणम्

अथेश्वरो निरूप्यते । सर्वेश्वरत्वं, सर्वशेषित्वम्, सर्वकर्मसमाराध्यत्वम्, सर्वकर्मफलप्रदत्वम्, सर्वाधारत्वम्, सर्वकार्योत्पादकत्वम्, (सर्वशब्दवाच्यत्वम्), स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरित्वमित्यादीनीश्वरलक्षणानि ।

अनुवाद—जीवों का निरूपण करने के पश्चात् अब ईश्वर का निरूपण किया जा रहा है। सबों का नियामक होना, सबों का शेषी होना, सभी कर्मों द्वारा समाराध्य होना, सभी कर्मों का फल प्रदान करने वाला होना, सबों का आधार होना, सभी कार्यों का कर्ता होना, सभी शब्दों का वाच्य होना, अपने ज्ञान को छोड़कर सर्वद्रव्यशरीरक होना इत्यादि ईश्वर के लक्षण हैं।

भा० प्र०—आठवें अवतार में जीव के स्वरूपादि का विस्तृत विचार किया जा चुका है। इस नवें परिच्छेद में ईश्वर के स्वरूपादि का निरूपण किया जा रहा है। सर्वप्रथम ईश्वर के लक्षण पर विचार किया जा रहा है। लक्षण भी दो प्रकार के होते हैं—स्वरूपलक्षण और तटस्थलक्षण। स्वरूपलक्षण वह होता है, जिसका संबन्ध लक्ष्य के स्वरूप से होता है। तटस्थलक्षण वह होता है, जिसका संबन्ध लक्ष्य के स्वरूप से न होकर तटस्थ से होता है। सर्वप्रथम ईश्वर के स्वरूपलक्षण का निरूपण किया जाता है।

(१) सर्वेश्वरत्व—इन लक्षणों में सर्वप्रथम लक्षण है सर्वेश्वरत्व। अर्थात् ईश्वर सबों का नियामक है। 'ईश ऐश्वर्ये' धातु से वरट् प्रत्यय करके ईश्वर शब्द सिद्ध होता है तथा 'अशु व्याप्तौ' धातु से वरट् प्रत्यय तथा चकारात् ईत्व करके ईश्वर शब्द सिद्ध होता है। इस प्रकार सर्वेश्वर शब्द का अर्थ होता है—जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त हो, उसको सर्वेश्वर कहते हैं। 'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' श्रुति भी बतलाती है कि यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का व्याप्य है और परमात्मा जगत् में व्यापक है। ईश्वर शब्द का दूसरा अर्थ है—सम्पूर्ण जगत् जिसका ऐश्वर्य हो, उसे सर्वेश्वर कहते हैं। 'विष्णोरेता विभूतय:' यह विष्णुपुराण का वाक्य बतलाता है कि सम्पूर्ण जगत् भगवान् की विभूति अर्थात् ऐश्वर्य है।

(२) सर्वशेषित्व—ईश्वर का दूसरा लक्षण बतलाया गया है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थ जिसका शेष हो, उसे सर्वशेषी कहेंगे। 'यथेष्टविनियोगार्हत्वं शेषत्वम्' अर्थात् स्वामी जिस प्रकार से विनियोग करना चाहे, यानी अपने उपयोग में लाना चाहे, उस तरह से विनियुक्त हो जाने की योग्यता जिसमें हो, उसे शेष कहते हैं। श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् से लीलारस तथा भोगरस प्राप्त करते हैं, अतएव भगवान् जगत् के शेषी हैं।

(३) **सर्वकर्मसमाराध्यत्व**—ईश्वर का तीसरा लक्षण बतलाया गया है। जितने भी तत्-तत् देवता आदि की आराधना के लिए कर्म किये जाते हैं, उन सभी कर्मों से तत्-तत् देव-शरीरक श्रीभगवान् की ही आराधना होती है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है। 'जगत् सर्वं शरीरं ते' यह श्रीरामायण की सूक्ति जगत् को परमात्मा का शरीर बतलाती है। जिस प्रकार शरीर की पूजा के द्वारा शरीरधारी आत्मा की समाराधना होती है, उसी प्रकार परमात्मा के शरीरभूत तत्-तत् देवताओं की पूजा से उन सबों की आत्माभूत परमात्मा की ही समर्चा हो जाती है। अतएव परमात्मा सर्वकर्मसमाराध्य सिद्ध होते हैं।

(४) **सर्वकर्मफलप्रदत्व**—चूंकि सभी देवताओं की पूजा से श्रीभगवान् की ही आराधना सम्पन्न होती है, अतएव उन सभी कर्मों का फल भी श्रीभगवान् ही तत्-तत् देवताओं के माध्यम से प्रदान करते हैं। अतएव वे सर्वकर्मफलप्रद हैं।

(५) **सर्वाधारत्व**—श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं और जगत् श्रीभगवान् का आधेय है।

(६) **सर्वकार्योत्पादकत्वम्**—जितने भी कार्य हैं, उन सबों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उत्पन्न करने वाले श्रीभगवान् ही है। ब्रह्मा-पर्यन्त श्रीभगवान् की अद्वारक सृष्टि होती है। ब्रह्मा के पश्चात् सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि सद्वारक सृष्टि है।

(७) **स्वज्ञानस्वेतरसमस्तद्रव्यशरीरकत्व**—ईश्वर का अन्तिम लक्षण बतलाया गया है। जो अपने धर्मभूत ज्ञान तथा अपने स्वरूप को छोड़कर इतर सम्पूर्ण द्रव्य रूपी शरीरों में आत्मा रूप से विराजने वाला हो, उसे ईश्वर कहते हैं; यह उक्त लक्षण का अर्थ है। इस लक्षण में अपने धर्मभूत ज्ञान तथा अपने स्वरूप को छोड़ने की जो बात कही गयी है, उसका अभिप्राय यह है कि, यद्यपि ईश्वर समस्त द्रव्यों को शरीर बनाकर उनकी आत्मा रूप से उनके भीतर विद्यमान है, तथापि उन द्रव्यों के अन्तर्गत ईश्वर के धर्मभूत ज्ञान तथा अपना स्वरूप नहीं आते हैं, क्योंकि ईश्वर के स्वरूप का ईश्वर आत्मा नहीं हो सकता है। क्योंकि आत्मा और शरीर में भेद होना चाहिए, किन्तु आत्मा और स्वरूप एक ही पदार्थ हैं। ईश्वर अपने धर्मभूत ज्ञान की भी आत्मा नहीं हो सकता है। चेतन अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा जिस पर अधिष्ठित होता है, वह उसका शरीर होता है। ईश्वर अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा अपने धर्मभूत ज्ञान को अधिष्ठित नहीं करता है, अतएव धर्मभूत ज्ञान उसका शरीर नहीं हो सकता है। क्योंकि ईश्वर के दो धर्मभूत ज्ञान नहीं है। यदि दो धर्मभूत ज्ञान होते तभी वह उसको अधिष्ठित करता; इसी अनुपपत्ति को दृष्टिपथ में रखकर कहते हैं—**स्वधर्मभूतज्ञानस्वेतर० इत्यादि।**

ईश्वरस्य जगत्कारणत्वसमर्थनम्

अयमीश्वरस्सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टवेषेण जगदुपादनकारणं भवति, सङ्कल्पविशिष्टवेषेण निमित्तकारणं, कालाद्यन्तर्यामिवेषेण सहकारिकारणं

च। कार्यरूपेण विकारयोग्यं वस्तूपादानकारणम्। कार्यतया परिणामयितृ निमित्तकारणम्। कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारि। यद्वा उत्तरोत्तरावस्थाविशिष्टस्वरूपापेक्षया तदनुगुणनियतपूर्वभाव्यवस्थाविशिष्टं यत्तदुपादानम्। यथा—घटत्वावस्थाविशिष्टमृद्द्रव्यापेक्षया पिण्डत्वावस्थाविशिष्टं तदेव द्रव्यम्। परिणामौन्मुख्यातिरिक्ताकारेणापेक्षितं कारणं निमित्तकारणम्। अस्मिन्पक्षे सहकारिकारणस्य निमित्तेऽन्तर्भावः। एवं त्रिविधकारणपक्षे कारणद्वयपक्षे च कारणलक्षणलक्षितत्वादखिलजगत्कारणत्वं भगवतो नारायणस्यैव सम्भवति।

अनुवाद—यह ईश्वर सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुविशिष्ट रूप से जगत् का उपादानकारण होता है। वह संकल्पविशिष्ट रूप से जगत् का निमित्तकारण होता है। ईश्वर काल आदि के अन्तर्यामी रूप से जगत् का सहकारीकारण होता है। कार्य का उपादानकारण वह वस्तु होती है, जिस वस्तु में कार्य रूप में परिणत होने की योग्यता होती है। जो उपादानकारण को कार्य रूप में परिणत करता है, वह कार्य का निमित्तकारण होता है। जो वस्तु कार्य की उत्पत्ति की सामग्री होती है, वह उस कार्य का सहकारीकारण कहलाती है। अथवा उस द्रव्य को उपादानकारण कहते हैं, जो द्रव्य उत्तरोत्तर अवस्थाविशिष्टस्वरूप के लिए अपेक्षित उसके अनुकूल नियतपूर्वभावी अवस्था से विशिष्ट होता है। जैसे उत्तरभावी घटत्वावस्थाविशिष्ट मृद्द्रव्य के लिए अपेक्षित उसके अनुकूल नियतपूर्वभावी अवस्था पिण्डत्वावस्था से विशिष्ट मृद्द्रव्य उपादानकारण है। निमित्तकारण उसे कहते हैं, जो कारण परिणामौन्मुख्य से भिन्न आकार से अपेक्षित होता है। इस पक्ष में सहकारीकारण का निमित्तकारण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। इस प्रकार तीन प्रकार के कारण मानने वालों के पक्ष में अथवा दो प्रकार के कारण मानने वालों के पक्ष में कारण के लक्षण से युक्त होने के कारण सम्पूर्ण जगत् के कारण नारायण ही सिद्ध होते हैं।

ईश्वर जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है

भा० प्र०—इस अनुच्छेद में ब्रह्म के जगत्-जन्मादिकारणत्व का प्रतिपादन किया जा रहा है। विशिष्टाद्वैत दर्शन में माना जाता है कि ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण, निमित्तकारण और सहकारीकारण, इन तीनों प्रकार का कारण है। प्रश्न उठता है कि संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं देखा जाता है, जिसका उपादान, सहकारी और निमित्त, इन तीनों प्रकार का कारण एक ही पदार्थ हो। ऐसी स्थिति में जगत् रूपी कार्य का तीनों प्रकार का कारण एक ही ब्रह्म कैसे हो सकता है? तो इसका उत्तर है कि संसार के किसी भी कारण में तीनों प्रकार का कारण बनने का सामर्थ्य नहीं है। किन्तु ब्रह्म तो ऐसा पदार्थ है, जिसमें तीनों प्रकार का कारण बनने का सामर्थ्य है। 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' यह कारणवादिनी श्रुति बतलाती है कि—हे सोमरसपानार्ह सच्छिष्य श्वेतकेतो! यह विभक्त नाम-रूप

वाला बहुत्वावस्थावस्थित जगत् सृष्टि से पूर्व अविभक्त नाम-रूप वाला होने के कारण एकत्वावस्थापन्न ही था। वह अधिष्ठानान्तरशून्य सद्रूप ही था। इस श्रुति का सत् शब्द नामसंबन्धयोग्यत्व रूप सत्त्व को प्रवृत्तिनिमित्त बनाकर परमात्मा रूप अर्थ को बतलाता है। यह सत् शब्द यद्यपि विशेष्यभूत परमात्मा का वाचक है, फिर भी कारणविषयत्व के सामर्थ्य से कारण बनने के योग्य गुणविशिष्ट प्रकृति-पुरुष एवं कालशरीरक परमात्मा को ही बतलाता है।

नैयायिक विद्वान् असत्कार्यवादी हैं। वे कहते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है। कारण-कलाप के द्वारा नवीन-नवीन कार्य उत्पन्न होते हैं। विशिष्टाद्वैती सत्कार्यवादी हैं। वे मानते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य कारण में विद्यमान रहता है। किन्तु उस समय उसका नाम एवं रूप विभक्त नहीं रहता है। कारण-कलाप के द्वारा उस कार्य का नामरूप विभक्त हो जाता है। अतएव 'उत्पत्तेः प्राक् अविभक्त-नामरूपं कार्यं कारणकलापेन द्वारा विभक्तनामरूपतया उत्पद्यते।' यह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की मान्यता है। 'सदेव' श्रुति का एवकार नैयायिकाभिमत असत्कार्यवाद का निवर्तक है। वह कहता है कि सृष्टि से पूर्व भी कार्य था ही। 'एकमेव' श्रुति के एवकार के द्वारा 'बहु स्याम' इस वक्ष्यमाण श्रुति के द्वारा प्रतिपादित स्रक्ष्यमाण जगत् रूपी कार्य की बहुत्वावस्था का व्यावर्तन करता है। 'एकम्' पद के द्वारा ब्रह्म की जगत् के प्रति उपादानकारणता का प्रतिपादन करता है। 'अद्वितीयम्' पद बतलाता है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त जगत् का कोई दूसरा निमित्तकारण भी नहीं है। 'तदैक्षत' 'तत्तेजोऽसृजत' इत्यादि श्रुतियों के तत् शब्द का परामर्श करके उस सत्शब्दवाच्य परमब्रह्म को ही जगत् का निमित्तकारण बतलाया गया है। इस प्रकार श्रुति के 'एकम्' तथा 'अद्वितीयम्' इन दो पदों के द्वारा ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तो-पादानकारण बतलाया गया है।

इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि सूक्ष्म चिद-चिद्वस्तुशरीरक रूप से ब्रह्म जगत् का उपादानकारण होता है। ब्रह्म की सूक्ष्मचिद-चिद्वस्तुशरीरकता ही ब्रह्म की अविभक्त नामरूपत्वावस्था है। वह सूक्ष्मचिदचिद्-वस्तुशरीरक ब्रह्म संकल्पविशिष्ट रूप से जगत् का निमित्तकारण होता है। अर्थात् वही ब्रह्म 'एकोऽहं बहु स्याम' अर्थात् मैं इस अपने अविभक्त नामरूपत्वावस्था को छोड़कर बहुत्वावस्था को प्राप्त करूँ, इस प्रकार से जब ब्रह्म सत्यसंकल्प करता है तो वह जगत् का निमित्तकारण बनता है। किञ्च वह ब्रह्म काल, आदि का अन्तर्यामी बनकर जगत् रूपी कार्य के प्रति सहकारीकारण होता है।

उपादानकारण का लक्षण—कार्यरूप से परिणत होने के योग्य जो वस्तु होती है, वही उपादानकारण कहलाती है। किन्तु इस लक्षण को स्वीकार करने में यह दोष है कि ब्रह्म को ही जगत् का उपादानकारण माना जाता है, अतएव उसको भी विकारी द्रव्य मानना होगा। अतएव उपादानकारण का दूसरा लक्षण ग्रन्थकार

यद्वा० इत्यादि वाक्य से कहते हैं—अर्थात् वही द्रव्य उपादानकारण होता है, जो अपनी उत्तरावस्था से अव्यवहित तथा उस कार्य के अनुकूल अवस्था से युक्त द्रव्य होता है। जैसे घट का उपादानकारण मृद्द्रव्य है। वह पिण्डत्वावस्थावस्थित रूप से घट का इसलिए उपादानकारण होता है कि उसकी पिण्डत्वावस्था उत्तरभाविनी घटत्वावस्था के अव्यवहित पूर्वावस्था है तथा घटत्वावस्था के अनुकूल अवस्था है। क्योंकि बिना पिण्डत्वावस्था में आए मृद्द्रव्य घटत्वावस्था में आ ही नहीं सकता है। ऐसे ही विभक्तनामरूपार्ह रूप कार्यत्वावस्था के अव्यवहितपूर्व तथा अनुकूल जो ब्रह्म की अविभक्त नामरूपत्वावस्था है, इस अवस्था से विशिष्ट द्रव्य ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण है। इस प्रकार अवस्थाविशिष्ट अवस्थावत्व ही उपादान का लक्षण है। यह वैशिष्ट्य स्वाव्यहितपूर्वत्व तथा स्वसामानाधिकरण्य रूप उभय सम्बन्ध से है। आगन्तुक तथा अपृथक्सिद्ध धर्म को अवस्था कहते हैं। इस प्रकार स्थूलचिदचिद्विशिष्ट कार्यावस्थावस्थित श्रीभगवान् में सूक्ष्मचिदचिद् नियन्तृत्वविशिष्टत्व रूप पूर्वावस्था का योग होने से स्वरूपतः परिणाम न होने पर भी उनका जगत् के प्रति उपादानकारणत्व सिद्ध होता है।

निमित्तकारण का लक्षण—बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा है कि उपादान को कार्य रूप से परिणत करनेवाला ही कार्य का निमित्तकारण होता है। जैसे संकल्पविशिष्ट सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरक ब्रह्म ही जगत् रूपी परिणाम का कर्ता है। अतएव वह जगत् का निमित्तकारण है। प्रकारान्तर से निमित्तकारण को परिभाषित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—'परिणामौन्मुख्यातिरिक्ताकारेणापेक्षितं निमितकारणम्' अर्थात् परिणत होने के लिए उन्मुख जो कारण है, उससे भिन्नाकार से जो कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित कारण होता है, उसे निमित्तकारण कहते हैं। जैसे घट रूपी कार्य के रूप में परिणत होने के लिए उन्मुख जो पिण्डत्वावस्थाविशिष्ट मृत्तिका द्रव्य है, उससे भिन्न आकारवाला तथा कार्य की उत्पत्ति के लिए अपेक्षित कारण कुम्भकार, चक्र, चीवर आदि है, क्योंकि इनके बिना पिण्डत्वावस्थाविशिष्ट मृद्द्रव्य घट रूप में परिणत हो ही नहीं सकता है, अतएव ये सभी घट के निमित्तकारण हैं। इस निमित्तकारण के अनुसार निमित्तकारण में ही सहकारीकारण का भी अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव इस लक्षण को मानने वाले कार्य के प्रति कारणद्वयवादी हैं। प्रकृत में कार्य रूपी जगत् के रूप में परिणत होने के लिए उन्मुख सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म रूप उपादानकारण से भिन्न आकार वाले तथा जगत् की उत्पत्ति के लिए कारण रूप से अपेक्षित कारण—संकल्पविशिष्ट ब्रह्म तथा कालाद्यन्तर्यामी ब्रह्म हैं, अतएव दोनों रूप से ब्रह्म जगत् के निमित्तकारण हैं। इसीलिए विशिष्टाद्वैतदर्शन में कहा जाता है कि ब्रह्म जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। इस उक्ति के पीछे कार्य के प्रति कारणद्वयवाद की मान्यता स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

सहकारीकारण का लक्षण—करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि—'कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारी' अर्थात् कार्य की उत्पत्ति की जो उपादान एवं निमित्त से भिन्न सामग्री होती है, उसे सहकारीकारण कहते हैं। जैसे घट रूपी कार्य की उत्पत्ति के लिए, उसके उपादानकारण तथा निमित्तकारण से भिन्न जो सामग्री चक्र, चीवर, काल, देश आदि हैं, वे सभी घट के प्रति सहकारीकारण हैं। इसी प्रकार जगत् रूपी कार्य के प्रति उसके उपादान एवं निमित्तकारण से भिन्न जो कालादि के अन्तर्यामीत्वविशिष्ट ब्रह्म आदि उपकरण हैं, वे ही जगत् के सहकारी-कारण हैं।

एवं त्रिविधकारणपक्षे० इत्यादि—इस प्रकार कारण के प्रति तीन प्रकार का कारण माना जाय अथवा दो प्रकार का कारण स्वीकार किया जाय, दोनों ही पक्षों में जगत् के प्रति एकमात्र कारण भगवान् नारायण ही सिद्ध होते हैं, क्योंकि जगत् रूपी कार्य के लिए अपेक्षित उनमें सभी प्रकार के उपादानादि कारणों के लक्षण मिलते हैं। श्रुति भी कहती है 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद्ब्रह्म।' अर्थात् जिससे ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए भूत जीवित रहते हैं, जिसमें प्रलयकाल में सभी भूत लीन हो जाते हैं तथा अन्त में जिससे मोक्ष को प्राप्त करते हैं, वही ब्रह्म है, उसे ही जानो। यहाँ पर जगत्-कारण रूप से कथित ब्रह्म नारायण ही हैं। महोपनिषद् की श्रुति भी कहती है—'एको ह वै नारायण आसीत्, न ब्रह्मा नेशानः।' अर्थात् सृष्टि से पूर्व एकमात्र नारायण ही थे न तो ब्रह्मा थे और न तो ईशान (रुद्र) ही।

नारायणे जगत्कारणत्वस्य पर्यवसानप्रतिपादनम्

ननु, कथं नारायणे कारणत्वपर्यवसानमिति चेत्, उच्यते; न्यायसहकृत-वेदान्तवाक्यविचारेणैवं पर्यवस्यति। तद्यथा—आदौ तावत्, प्रकृतेर्जगत्कारणत्वं नोपपद्यते। ई(ईक्षितृत्वा)क्षत्याद्यभावात्। छान्दोग्ये तावत्, सदाकाशप्राणशब्दवाच्यानां जगत्कारणत्वं प्रतीयते। वाजसनेयके ब्रह्मशब्द-वाच्यस्य जगत्कारणत्वं प्रतीयते। सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन कारणवाक्याना-मेकविषयत्वे प्रतिपादयितव्ये छागपशुन्यायेन सामान्यवाचकानां सदादि-शब्दानां विशेषे ब्रह्मणि पर्यवसानं वक्तव्यम्। एवमुक्तन्यायेन ब्रह्मशब्दस्य तैत्तिरीयोक्तात्मशब्दवाच्ये पर्यवसाने, आत्मशब्दवाच्यः कः ? इत्याकाङ्क्षायां श्रुतिप्रसिद्ध इन्द्रो वा, तथा प्रसिद्धोऽग्निर्वा, उपास्यत्वेन प्रसिद्धस्सूर्यो वा, कारणत्वेनोक्तस्सोमो वा; अभीष्टप्रदत्वेनोक्तः कुबेरो वा, यमो वा, वरुणो वेति संशये एतेषां कर्मवश्यत्व-परिच्छिन्नैश्वर्यवत्त्व-संहार्यत्वश्रवणान्नैते जगत्कारणभूताः। किन्तु श्वेताश्वतरे शिवस्य कारणत्वं भासते। एवमथर्व-शिखायां शम्भुशब्दवाच्यस्य ध्येयत्वं कारणत्वं च भासते। तथैवाथर्वशिरसि

रुद्रशब्दवाच्यस्य सर्वात्मकत्वमुच्यते । तैत्तिरीये हिरण्यगर्भस्य जगत्कारणत्वं प्रतीयते । अत्रापि सामान्यविशेषन्यायात् शिवशम्भुरुद्रशब्दानां हिरण्यगर्भ-शब्दवाच्ये विशेषे पर्यवसानं युज्यते । शिवशब्दस्य 'शिवमस्तु सर्वजगताम्, शिवं कर्मास्तु, शिवास्ते सन्तु पन्थान' इत्यादिभिर्मङ्गलवाचित्वम्, रुद्रशब्द-स्याग्निवाचकत्वम् । एवं महेश्वरशम्भ्वादिसामान्यशब्दा अप्यवयवशक्त्या चतुर्मुखे पर्यवस्यन्ति । कारणवाचिशिवादिशब्दानां मुख्यवृत्त्या रुद्रपरत्वं किं न स्यादिति न शङ्कनीयम् । रुद्रस्य चतुर्मुखादुत्पत्तिश्रवणात् अनपहतपाप्मत्व-श्रवणाच्च न रुद्रस्य कारणत्वम् । अतो हिरण्यगर्भप्रजापतिस्वयम्भ्वादिशब्द-वाच्ये चतुर्मुखे शिवादिशब्दाः पर्यवस्यन्ति । एवं महोपनिषन्नारायणोप-निषत्सुबालोपनिषन्मैत्रायणीयपुरुषसूक्तनारायणानुवाकान्तर्यामिब्राह्मणादिषु नारायणस्यैव परमकारणत्व-सर्वशब्दवाच्यत्व-मोक्षप्रदत्वं जगच्छरीरकत्वा-दिप्रतिपादनात्, स्वयम्भुहिरण्यगर्भप्रजापतिशब्दानां नारायणे पर्यवसानं युक्तमिति नारायण एवाखिलजगत्कारणं सर्वविद्यावेद्यश्च ।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि नारायण में ही जगत्कारणत्व का पर्यवसान कैसे होता है ? तो इसका उत्तर है कि न्यायसहकृत वेदान्त-वाक्यों का विचार करने से ही नारायण में जगत्कारणत्व का पर्यवसान होता है । तथाहि—सर्वप्रथम प्रकृति जगत् का कारण नहीं हो सकती है, क्योंकि जड़ प्रकृति में ईक्षण करना रूप क्रिया असंभव है । छान्दोग्योपनिषद् में सत्, आकाश तथा प्राण आदि शब्दों के वाच्यार्थ की जगत्कारणता प्रतीत होती है । वाजसनेयक-संहिता में ब्रह्म शब्द के वाच्यार्थ की जगत्कारणता प्रतीत होती है । सर्वशाखाप्रत्यय न्याय से सिद्ध होता है कि सभी कारण-वाक्यों के द्वारा एक ही जगत् के कारण को बतलाया गया है । अतएव छाग-पशुन्याय से सामान्य अर्थ के वाचक सद् आदि शब्दों का विशेष अर्थ ब्रह्म में पर्यवसान होता है । छागपशुन्याय से ही ब्रह्म शब्द का तैत्तिरीयोपनिषद् में उक्त आत्मा शब्द के वाच्य अर्थ में पर्यवसान होता है । अब प्रश्न उठता है कि आत्मा शब्द से श्रुतियों में प्रसिद्ध इन्द्र को कहा गया है ? या अग्नि को कहा गया है ? या उपास्य रूप से प्रसिद्ध सूर्य को कहा गया है ? या कारण रूप से कहे गये सोम को कहा गया है ? अथवा अभीष्ट अर्थ के प्रदाता कुबेर को कहा गया है ? या यम को कहा गया गया है ? या वरुण को कहा गया है ? इस प्रकार की शङ्का होने पर निश्चय होता है कि ये सभी जगत् के कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि ये कर्मों के परतन्त्र, सीमित ऐश्वर्य-वाले तथा संहार्य हैं, यह श्रुतियाँ बतलाती हैं । किञ्च श्वेताश्वतरोपनिषद् में शिव को जगत् का कारण बतलाया गया है । इसी प्रकार अथर्वशिखोपनिषत् में शम्भु शब्द के वाच्य का ध्येयत्व तथा कारणत्व प्रतीत होता है । इसी प्रकार अथर्वशिरः में रुद्रशब्द के वाच्य को सर्वात्मा बतलाया गया है । तैत्तिरीयोपनिषद् में हिरण्यगर्भ की जगत् की कारणता प्रतीत होती है । यहाँ भी सामान्यविशेषन्याय से शिव, शम्भु

एवं रुद्र शब्द के वाच्यों का हिरण्यगर्भ के वाच्यभूत विशेष अर्थ में पर्यवसान उचित सिद्ध होता है। क्योंकि—'शिवमस्तु सर्वजगताम्' सभी प्राणियों का मङ्गल हो, 'शिवं कर्मास्तु' कर्म मङ्गलकारी हो, 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' तुम्हारे मार्ग मङ्गलमय हो, इत्यादि वाक्यों के देखने से शिव शब्द मङ्गल का वाचक तथा रुद्र शब्द अग्नि का वाचक सिद्ध होता है। इसी प्रकार महेश्वर तथा शम्भु आदि शब्द का उसकी अवयव-शक्ति से चतुर्मुख में पर्यवसान होता है। यहाँ पर यह शङ्का नहीं की जा सकती है कि कारणवाची शिव आदि शब्दों का उनकी मुख्यावृत्ति से रुद्र आदि में पर्यवसान क्यों नहीं होता है? क्योंकि रुद्र की चतुर्मुख से उत्पत्ति सुनी जाती है तथा रुद्र का कर्म-परतन्त्र सुना जाता है, अतएव रुद्र जगत् के कारण नहीं हो सकते हैं। अतएव हिरण्यगर्भ, प्रजापति तथा स्वयम्भू आदि के वाच्यभूत चतुर्मुख (ब्रह्मा) में शिव आदि शब्दों का पर्यवसान होता है। इस प्रकार महोपनिषत्, नारायणोपनिषत्, सुबालोपनिषत्, मैत्रायणीयोपनिषत्, पुरुषसूक्त, नारायणानुवाक् तथा अन्तर्यामीब्राह्मण आदि में नारायण का ही परमकारणत्व, सर्वशब्दवाच्यत्व, मोक्षप्रदत्व तथा जगत्-शरीरकत्व आदि का प्रतिपादन किये जाने के कारण उचित है कि स्वयम्भू, हिरण्य-गर्भ, प्रजापति आदि शब्दों का नारायण में पर्यवसान माना जाय। इस प्रकार सिद्ध होता है कि नारायण ही सम्पूर्ण जगत् के कारण तथा सभी विद्याओं के प्रतिपाद्य हैं।

नारायण में ही जगत्कारणत्व का पर्यवसान

भा० प्र०—पहले के अनुच्छेद का उपसंहार करते हुए कहा गया है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण हैं। इस पर पूर्व-पक्षी का कहना है कि विभिन्न दार्शनिक विभिन्न तत्त्वों को जगत् का कारण बतलाते हैं। सांख्य प्रकृति को जगत् का कारण बतलाते हुए कहते हैं कि 'सदेव' श्रुति सत् शब्द से प्रकृति को ही जगत् का कारण बतलाती है। इसीलिए मृत्पिण्ड, लौहपिण्ड आदि प्राकृतिक पदार्थों का दृष्टान्त भी दिया गया है। इसी प्रकार वेदान्तों के अनेक वाक्य आकाश, प्राण आदि को तथा अनेक वाक्य शिव, ब्रह्मा, रुद्र, वरुण, कुबेर, नारायण आदि को जगत् का कारण बतलाते हैं। इन सबों की प्रतीति होते रहने पर भी केवल नारायण को जगत् का कारण बतलाना कहाँ तक उचित है?

तो इस शङ्का के समाधान का उत्तर है कि भगवान् नारायण को जगत् का कारण न्यायसहकृत वेदान्त-वाक्यों के विचार के आधार पर माना जाता है। सम्पूर्ण मीमांसा न्यायात्मिका है। पूर्वमीमांसा को न्यायसाहस्री शब्द से अभिहित किया जाता है। पूर्वमीमांसा में वर्णित न्यायों के सहारे वेदान्तवाक्यों का जब विचार किया जाता है तो निश्चित होता है कि भगवान् श्रीमन्नारायण ही जगत् के कारण हैं। तथाहि—

प्रकृति के जगत्कारणत्व का खण्डन—सांख्यों द्वारा निर्दिष्ट प्रकृति को कारण नहीं माना जा सकता है, क्योंकि प्रकृति जड़ है और सत्शब्दवाच्य को जगत् का

कारण बतलाकर छान्दोग्य श्रुति कहती है कि सच्छब्दवाच्य ने नामरूपविभागानर्ह एकत्वावस्था का त्याग कर नामरूपविभागार्ह अनेकत्वावस्था में आने का सत्यसंकल्प किया। 'तदैक्षत, एकोऽहं बहु स्याम' (छा० उ० ६।५।१) यह सत्यसंकल्प रूप गुण जड़ प्रकृति का नहीं हो सकता है, ईक्षण तो कोई चेतन ही कर सकता है। जो ईक्षण कर सकने में समर्थ होगा, वही जगत् का कारण हो सकता है। अतएव 'सदेव सोम्येदमग्रासीत्' श्रुति सत् शब्द के द्वारा जड़ प्रकृति का अभिधान नहीं करता है। इसी बात को बतलाते हुए महर्षि बादरायण कहते हैं—'ईक्षतेर्नाशब्दम्' (शा० मी० १।१।५)। अर्थात् अशब्द अर्थात् शब्दप्रमाण रहित आनुमानिक प्रधान (प्रकृति) जगत् का कारण नहीं हो सकता है, क्योंकि 'सदेव' श्रुति सत्शब्दवाच्य में ईक्षण क्रिया बतलाती है।

सर्वशाखाप्रत्ययन्याय—छान्दोग्योपनिषद् में सत् शब्द, आकाश शब्द तथा प्राण शब्द के वाच्यार्थ को तथा वाजसनेयियों के श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्मशब्दवाच्य को जगत् का कारण बतलाया गया है। अब प्रश्न उठता है कि किसको जगत् का कारण माना जाय ? इस शंका के समाधानार्थ यहाँ पर सर्वशाखाप्रत्ययन्याय की प्रवृत्ति होती है। 'एकं वा संयोग-रूप-चोदना-आख्याविशेषात्' इस पूर्वमीमांसा के सूत्र से सर्वशाखाप्रत्ययन्याय की सिद्धि होती है। इस सूत्र का अर्थ है कि—यदि विभिन्न शाखाओं में वर्णित याग आदि कर्मों के संयोग, रूप, चोदना तथा आख्या ये चार चीजें एक हों तो विभिन्न शाखाओं में वर्णित उस कर्म को एक ही मानना चाहिए। शाखाभेद के अनुसार उस कर्म को भिन्न-भिन्न नहीं मानना चाहिए। यहाँ पर 'संयोग' शब्द से फलसंबन्ध विवक्षित है। रूप शब्द से द्रव्य एवं देवता विवक्षित हैं, क्योंकि द्रव्य एवं देवता ही याग के रूप माने जाते हैं। चोदना शब्द से 'जुहुयात्' 'यजेत' इत्यादि विधायक शब्द विवक्षित हैं। आख्या शब्द से 'अग्निहोत्र' 'अग्निष्टोम' इत्यादि नाम विवक्षित हैं। यदि विभिन्न शाखाओं में वर्णित किसी कर्म के विषय में ये चारों एक समान रूप से वर्णित हों तो विभिन्न शाखाओं में वर्णित उस कर्म को एक ही मानना चाहिए। एक मानने का फल यह है कि एक शाखा में जो उस कर्म के अंग कहे गये हैं, दूसरी शाखा में उन अंगों का यदि वर्णन न हो तो उस शाखा के अनुष्ठानकर्ताओं को चाहिए कि उन कर्मों को करने में उन अंगों को भी अपनाएँ।

इस सर्वशाखाप्रत्ययन्याय के अनुसार स्पष्ट है कि ये सभी कारण-वाक्य किसी एक ही व्यक्ति को जगत् का कारण तत्-तत् नामों से बतलाते हैं। जिस व्यक्ति को वे बतलाते हैं, वही व्यक्ति जगत् का कारण है।

अब प्रश्न उठता है कि ये सभी कारण वाक्य किस तत्त्व को जगत् का कारण बतलाते हैं ? इस बात का निश्चय कैसे हो ? तो उस कारण-तत्त्व को निश्चित करने के लिए छागपशुन्याय की प्रवृत्ति होती है।

छागपशुन्याय—पूर्वमीमांसा में 'छागो वा मन्त्रवर्णात्' सूत्र आया है। इस सूत्र से सामान्यविशेषन्याय सिद्ध होता है। इस सूत्र के अधिकरण में कहा गया है कि

'पशुना यजेत' इस वाक्य से कहा गया है कि पशु से याग करना चाहिए। चतुष्पाद प्राणी को पशु कहा जाता है। उस पशु से याग करना चाहिए। अब प्रश्न उठता है कि क्या सभी पशुओं से याग करना चाहिये अथवा किसी विशेष पशु से याग करना चाहिए? यदि पशु शब्द को पशु-सामान्य का वाचक मानें तो फिर सभी श्वा-शूकरादि पशुओं से भी याग-सम्पादन का प्रसंग होगा? किन्तु श्वा-शूकरादि को अमेध्य माना जाता है। अतएव सभी पशुओं को यज्ञीय नहीं माना जा सकता है, फलतः पशु-विशेष को ही यज्ञीय मानना होगा। वह यज्ञीय पशु कौन है? इसी शंका का समाधान होता है—'छागो वा मन्त्रवर्णात्' इस पूर्वमीमांसा के सूत्र से। अर्थात् 'छागस्य वपायाः' इस मन्त्र में पशु-विशेष छाग अर्थात् अज का उल्लेख है। पशु शब्द सामान्य का वाचक है, छाग शब्द विशेष का वाचक है। सामान्य शब्द का विशेष में पर्यवसान न्याय-प्राप्त है, अतः छाग नामक पशु से ही याग करना चाहिए; दूसरे पशुओं से नहीं।

इस सामान्यविशेष न्याय रूप छागपशुन्याय के द्वारा सत्, आकाश, प्राण इत्यादि सामान्यवाचक शब्दों का विशेष शब्द ब्रह्म में पर्यवसान होता है। अर्थात् सत् आदि शब्दों से ब्रह्म का ही अभिधान होता है।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्मशब्द अनेकार्थक है। ब्रह्मशब्द के प्रवृत्तिनिमित्त का निर्देश करते हुए महर्षियों ने कहा है कि—बृहत्वाद् बृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्मेत्यभिधीयते।' अर्थात् ब्रह्म को ब्रह्म इसलिए कहा जाता है कि वह स्वरूपतः एवं गुणतः बृहत् है तथा स्वेतर समस्त वस्तुओं को बढाता है। इसलिए कहीं पर ब्रह्मशब्द से प्रकृति, कहीं पर जीव तथा कहीं पर परमात्मा को ब्रह्म शब्द का वाच्य कहा गया है। प्रकृत में ब्रह्मशब्दवाच्य कौन है? इस अर्थ का निर्णय करने के लिए भी छागपशुन्याय की प्रवृत्ति होती है और निश्चित होता है कि यहाँ पर ब्रह्म शब्द से कोई चेतन ही कहा गया है। वही आत्मा है। उसी का वर्णन कारण रूप से तैत्तिरीयोपनिषद् में किया गया है।

इन्द्रादि के जगत्-कारणत्व का प्रत्याख्यान—अब प्रश्न उठता है कि वह आत्मा, जो जगत् का कारण है, कौन है? वेदों में सर्वाधिक प्रसिद्ध इन्द्र अथवा इन्द्र के ही समान प्रसिद्ध अग्नि? क्योंकि संहिता-भाग में सर्वाधिक सूक्त इन्द्र-विषयक पाए जाते हैं तथा इन्द्र से कुछ कम अग्नि-विषयक सूक्त पाए जाते हैं। अथवा उपास्य रूप से प्रसिद्ध सूर्य आत्मा शब्द से कहे गये हैं? अथवा कारण रूप से वेदों में प्रख्यात सोम (चन्द्रमा) कहे गये हैं? अथवा अभीष्ट वर प्रदान करने वाले कुबेर आत्मा शब्द वाच्य हैं? या यम या वरुण आत्मा शब्द के वाच्यार्थ हैं?

इस प्रकार की शंका होने पर निर्णय होता है कि ये कोई भी जगत् के कारण नहीं हो सकते हैं, क्योंकि इनके जगत्कारणत्व के बाधक तीन हेतु हैं—१. ये सभी कर्मपरतन्त्र हैं, २. इन सबों का ऐश्वर्य सीमित हैं और ३. इन सबों का प्रलय-

काल में संहार होता है, यह श्रुतियाँ बतलाती हैं। इन तीन दोषों से सबों के ग्रस्त होने के कारण उपर्युक्तों में से कोई भी जगत् का कारण नहीं हो सकता है। उपर्युक्त तीनों दोष ऐसे हैं, जो उन्हें जीव-सामान्य की कोटि में लाकर बैठा देते हैं। सभी संसारी जीव कर्मपरतन्त्र, सीमित ऐश्वर्य वाले तथा प्रलयकाल में संहार्य हैं। उन्हीं जीवों के समान ये भी जीव हैं। गीता में भगवान् ने इसीलिए कहा है—'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!' अर्थात हे अर्जुन! ब्रह्मा से लेकर उनके नीचे के सभी कीट-पतंग तक इस संसार में आवर्तित होते रहते हैं और इन सभी देवताओं के संसारान्तर्गत होने के कारण ये कार्य-कोटि में आते है, ये कारण कैसे हो सकते हैं? किञ्च जीवों के जगद्व्यापारयुक्तत्व का निषेध महर्षि बादरायण ने 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च।' (शा० मी सू० ४।४।१७) सूत्र में किया है। किञ्च जगत् के कारण तत्त्व को श्रुति 'अपहतपाप्मा' शब्द से कर्मपारतन्त्र्यरहित, 'अनन्तम्' शब्द से त्रिविध परिच्छेद रहित तथा नित्य बतलाती है। 'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' श्रुति उसके अपरिच्छिन्न ऐश्वर्य को बतलाती है। अतएव इन्द्रादि देवता जगत्-कारणत्व से अभिमत 'आत्म'शब्दवाच्य नहीं है।

यहाँ पर पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि—'घृतात् परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम्। विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।' (श्वे० उ० ४।१६) श्रुति में शिव को ही सर्वोत्तम तत्त्व बतलाकर उनकी ही सर्वत्र व्यापकता तथा ज्ञेयता बतलायी गयी है, अतः इस श्रुति के अनुसार शिव ही जगत् के कारण प्रतीत होते हैं। अथर्वशिखोपनिषद् की—'कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शम्भुराकाशमध्ये' (अथर्वशिखोपनिषत् २।१७) इस श्रुति में शम्भु को ही सम्पूर्ण जगत् का कारण तथा ध्येय बतलाया गया है। इसी प्रकार अथर्वशिर्ष में रुद्र कहते हैं—'अहमेकः प्रथममासं वर्तामि च भविष्याभि च। नान्यकश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति।' अर्थात् सृष्टि से पूर्व मैं अकेला था, वर्तमान में भी हूँ, आगे भी रहूँगा। मुझ से भिन्न कुछ नहीं है। सम्पूर्ण जगत् रुद्रात्मक है। 'तैत्तिरीयनारायण की—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। सदाधारपृथिवीं द्यामुते माम्।' (अर्थात् सृष्टि से पूर्व हिरण्यगर्भ ही अकेले थे, वे ही सम्पूर्ण भूतों में व्यापक रहने के कारण उनके नियन्ता भी थे। उन्होंने ही इस पृथिवी तथा द्युलोक को धारण किया।) इस श्रुति में हिरण्यगर्भ जगत् के कारण रूप से प्रतीत होते हैं। यहाँ पर भी शंका होती है कि इन सबों में कौन-सा कारण है? शिव अथवा शम्भु, या रुद्र? इस शंका का भी समाधान सामान्यविशेषन्याय से ही होता है।

शिव शब्द भी सामान्यार्थक है। शिव शब्द मङ्गल का वाचक है। 'शिवं कर्मास्तु' 'शिवास्ते सन्तु पन्थानः' इत्यादि वाक्यों में शिव शब्द मङ्गल के अर्थ में आया है। इस प्रकार रुद्र शब्द भयंकर तथा अग्नि का भी वाचक है। इसी प्रकार शम्भु शब्द भी 'शं भवत्यस्मात् अथवा शं भावयति' अर्थात् जिससे कल्याण हो अथवा जो कल्याण करे,

उसे शम्भु कहते हैं।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शम्भु शब्द कल्याणप्रदाता को कहते हैं। हिरण्यगर्भ शब्द का भी अर्थ है कि 'हिरण्यस्य—हिरण्यमयस्य, परमव्योम्नो गर्भभूतः तत्र स्थितः।' अर्थात् जो स्वर्ण के समान चमकने वाले परमपद में विद्यमान रहते हैं, उन्हें हिरण्यगर्भ कहते हैं। इस प्रकार महेश्वर, शिव, रुद्र, हिरण्यगर्भ आदि सामान्य शब्दों का अवयव-शक्ति के द्वारा सभी जीवों के कल्याणकारी चतुर्मुख ब्रह्मा में पर्यवसान होता है। ब्रह्मा ही शिवादि की सृष्टि करके उनको नामादि प्रदान करते हैं; यह पुराणादि में स्पष्ट है।

यहाँ पर यह शङ्का नहीं की जा सकती है कि कारणवाची शिव आदि (शम्भु, हिरण्यगर्भ, महेश्वर, रुद्र) शब्दों का रुद्र में पर्यवसान क्यों नहीं माना जाता है? क्योंकि श्रुतियाँ रुद्र की उत्पत्ति ब्रह्मा से बतलाती हैं तथा उत्पन्न रुद्र ने कहा—'अनपहतपाप्माहमस्मि, नामानि मे देहि।' अर्थात् मैं कर्मपरतन्त्र हूँ, आप मेरा नामकरण करें। अतएव रुद्र जगत् के कारण नहीं हो सकते हैं। इसीलिए हिरण्यगर्भ, प्रजापति तथा स्वयम्भु आदि शब्दों के वाच्यभूत हिरण्यगर्भ में शिव आदि शब्दों का पर्यवसान होता है।

हिरण्यगर्भ नानार्थक हैं। स्वर्ण के सदृश चमकने वाले परमपद वैकुण्ठ में रहने के कारण श्रीभगवान् नारायण ही हिरण्यगर्भ शब्द से 'हिरण्यगर्भः' इत्यादि तैत्तिरीय मन्त्रों में कहे गये हैं। फलतः सभी कारणवाची शब्दों के द्वारा भगवान् नारायण ही कहे जाते हैं। किञ्च महोपनिषत्, नारायणोपनिषत्, सुबालोपनिषत्, मैत्रायणीयोपनिषत्, पुरुषसूक्त, नारायणानुवाक् तथा अन्तर्यामिब्राह्मण आदि में भगवान् नारायण को ही परमकारण बतलाया गया है। उन्हें ही सर्वशब्दवाच्य बतलाया गया है। श्रीभगवान् सभी जीवों को मोक्ष प्रदान करते हैं तथा सम्पूर्ण जगत् उनका शरीर है। इस प्रकार स्वयम्भु, हिरण्यगर्भ तथा प्रजापति शब्द का नारायण में ही पर्यवसान मानना उचित है। 'स्वयं स्वेच्छया लोककल्याणकामनया भवति रामकृष्णादिरूपेणावतरति।' इस विग्रह के अनुसार संसारी जीवों का कल्याण करने के लिए श्रीभगवान् वैकुण्ठलोक को त्याग कर श्रीराम-कृष्णादि के रूप में इस भूलोक में अवतीर्ण हो जाते हैं, अतएव वे स्वयम्भु कहे जाते हैं। 'प्रजाः पाति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार संसार की सारी प्रजाओं का साक्षात् अथवा सद्वारक पालन करने के कारण श्रीभगवान् प्रजापति कहे जाते हैं, अतः 'स्वयम्भुः, शभुः, हिरण्यगर्भः, प्रजापतिः' इत्यादि नामों से पुरोवादिनी (कारण तत्त्व का प्रतिपादन करनेवाली) श्रुतियाँ श्रीभगवान् का ही अभिधान करती हैं। अतएव भगवान् नारायण ही सम्पूर्ण जगत् के कारण तथा सर्वविद्यावेद्य हैं। अर्थात् औपनिषद् सभी ब्रह्मविद्याएँ भगवान् नारायण का ही प्रतिपादन करती हैं।

अन्तरादित्यदहरविद्ययोर्नारायणपरत्वसमर्थनम्

ननु, (न तु) अन्तरादित्यविद्या रुद्रपरेति शङ्का (नु) न कर्तव्या। तस्या विष्णुपरत्वस्यैव बहुप्रमाणसिद्धत्वात्। ('हरस्स्मरहरोभर्ग' इत्यका-

रान्त एव रुद्रपरः) भर्गश्शब्दस्य सकारान्तत्वप्रतिपादनाच्च। तर्हि दहर-विद्यायामाकाशशब्दवाच्यनारायणान्तर्यामितया रुद्रस्य प्रतिपादनात् दहर-विद्या रुद्रपरेति न शङ्कनीयम्। नारायणान्तर्वर्तिगुणजातस्यैवोपास्यत्वेन तत्राभिधानात्। एवं सर्वविद्यास्वप्यूह्यम्। अतस्समस्तकल्याणगुणात्मकः प्रकृतिपुरुषाभ्यां भिन्नस्तद्विशिष्टः परम्ब्रह्म नारायण एव जगत्कारणम्।

अनु०—यहाँ पर यह शंका नहीं करनी चाहिए कि अन्तरादित्य-विद्या रुद्रपरक है, क्योंकि अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि वह विष्णु के ही पारम्य का प्रतिपादन करती है। 'हरस्मरहरो भर्गः' इस अमरकोश के वाक्य के अनुसार अकारान्त ही भर्ग शब्द का वाचक है, सान्त भर्ग शब्द नहीं। उक्त विद्या का भर्ग शब्द सान्त ही प्रतिपादित किया गया है। यदि यह कहें कि तो फिर दहर-विद्या में आकाश शब्द के वाच्य नारायण के अन्तर्यामी रूप से रुद्र का प्रतिपादन किया गया है, अतएव दहर-विद्या रुद्रपरक है? यह शङ्का नहीं की जा सकती है, क्योंकि वहाँ पर नारायण के गुण-समूह उपास्य रूप से बतलाए गये हैं। इस प्रकार सभी विद्याओं में भी विचार करना चाहिए। अतएव सभी कल्याणकारी गुणों से युक्त प्रकृति तथा पुरुष से तथा प्रकृति-पुरुषशरीरक परंब्रह्म नारायण ही जगत् के कारण हैं।

अन्तरादित्य तथा दहर-विद्या का नारायणपरत्व

भा० प्र०—यहाँ पर कोई यह शंका करता है कि गायत्री-प्रतिपाद्य अन्तरादित्य-विद्या के प्रतिपाद्य रुद्र ही हैं, क्योंकि उसके भीतर विद्यमान वरेण्यभर्ग की उपासना का विधान उक्त विद्या में किया गया है। 'हर-स्मर-हरो भर्गः' इस कोश-वाक्य के अनुसार भर्गशब्दवाच्य रुद्र ही हैं? इस शंका का समाधान करते हुए यतीन्द्रमत-दीपिकाकार कहते हैं कि गायत्री में पठित भर्ग शब्द अदन्त नहीं, अपितु सान्त है; क्योंकि ज्योति का वाचक भर्ग शब्द सान्त ही होता है, अदन्त नहीं। महर्षि बादरायण ने 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इस सूत्र में ही गायत्री-प्रतिपाद्य अन्तरादित्य-विद्या की चर्चा करके सिद्ध किये हैं कि यहाँ पर आदित्यान्तर्वर्ती भगवान् नारायण ही हैं। अतएव अन्तरादित्य-विद्या के रुद्रपरक होने की कोई भी संभावना नही है।

पूर्वपक्षी की दहर-विद्या के विषय में शंका है कि अथर्वशिखोपनिषद् में जो दहराकाश बतलाया गया है, उस दहराकाश के वाच्यार्थ नारायण के भी नियामक रूप से 'शम्भुराकाशमध्ये' श्रुति शम्भु को ही बतलाती है। शम्भु शब्द के वाच्यार्थ रुद्र ही हैं, अतएव यह दहरविद्या रुद्रपरक ही है, नारायणपरक नहीं? इस शंका का समाधान यह है कि अथर्वशिखोपनिषद् के दहराकाश के अन्तर्यामी रूप से विद्यमान नारायण को ही शम्भु शब्द से इसलिए कहा गया है कि निरतिशय कल्याण के दाता भगवान् नारायण ही है। इसलिए दहराकाश के जो उपास्य गुण बतलाए गये हैं, वे सभी गुण नारायण के ही हैं, रुद्र के वे गुण नहीं हो सकते हैं। भगवान् के निरतिशय कल्याणकारित्व गुण को ही लेकर उन्हें शम्भु शब्द से अभिहित किया जाता है। इस प्रकार सभी ब्रह्मविद्याओं के प्रतिपाद्य भगवान् नारायण ही हैं; यह जानना चाहिए।

इस प्रकार सिद्ध हुआ कि सभी कल्याणकारी गुणों के एकमात्र आश्रय, प्रकृति-पुरुषविशिष्ट तथा प्रकृति एवं पुरुष से विलक्षण भगवान् नारायण ही परब्रह्म हैं। अर्थात् वे ही स्वेतर समस्त वस्तुओं की अपेक्षा स्वरूपतः एवं गुणतः महान् हैं तथा स्वेतर समस्त वस्तुओं को बढाने वाले हैं। वे ही सम्पूर्ण जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं।

अद्वैत्यभिमते निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यनिरसनम्।

ननु, अद्वैतश्रुत्या ब्रह्मैकमेव सत्यं निर्गुणं च। तदन्यत् ज्ञातृज्ञेयादिकं तस्मिन्नेव परिकल्पितं सर्वं मिथ्या। ब्रह्म अविद्यया संसरति। तत्त्वमसीत्याद्यभेदज्ञानं तन्निवर्तकम्। तस्मात् निर्विशेषचिन्मात्रे ब्रह्मणि वेदान्तानां तात्पर्यमिति मतान्तरस्थैः प्रतिपादनात् कथं नारायणे तात्पर्यं, तस्य समस्तकल्याणगुणात्मकत्वादिकथनं चेति चेत्, उच्यते; कारणत्वप्रतिपादकश्रुतिभिर्नारायणस्य कारणत्वे सिद्धे भेदाभेदश्रुत्योर्घटकश्रुत्या विषयभेदेन विरोधे परिहृते, निर्गुणप्रतिपादकश्रुतीनां हेयगुणनिषेधकत्वात्, ज्ञातृज्ञेयादिकल्पकाविद्याया एवाप्रामाणिकत्वाद् ब्रह्मकार्यस्य सत्यत्वात्, अविद्यया संसारे जीवगतदोषाणां ब्रह्मण्यपि सम्भवात्, तन्निवर्तकान्तरस्य वक्तुमशक्यत्वात्। अतोऽद्वैतवादस्यासम्भवान्न निर्विशेषचिन्मात्रब्रह्मसिद्धिः। अतो नारायणस्यैव जगत्कारणत्वमोक्षप्रदत्वादिगुणयोगस्सम्भवतीति सविशेषमेव ब्रह्म। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कारणम्, स्थूलचिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म कार्यमिति कारणादनन्यत्कार्यमिति विशिष्टाद्वैतवेदान्तिनां सम्प्रदायः।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि अद्वैतश्रुति के द्वारा सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्म ही सत्य है और वह निर्गुण है। उससे भिन्न प्रतीत होने वाले ज्ञाता, ज्ञेय आदि उस निर्गुण ब्रह्म में ही आरोपित हैं, अतएव मिथ्या हैं। ब्रह्म ही अविद्या के कारण संसरण करता है। 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य अभेद ज्ञान उस अविद्या (अज्ञान) के निवर्तक हैं। इस प्रकार सिद्ध होता है कि निर्विशेष ज्ञानमात्र ब्रह्म के ही प्रतिपादन में सभी वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य है, यह अद्वैती विद्वान् प्रतिपादन करते हैं, अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि समस्त कल्याणकारी गुण-गणात्मक नारायण के प्रतिपादन में ही वेदान्तों का तात्पर्य है? तो इस शंका का समाधान यह है कि जगत् के कारण-तत्त्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ भगवान् नारायण को ही जगत् का कारण बतलाती हैं, यह सिद्ध हो जाने पर घटक-श्रुतियों के द्वारा भेद-श्रुतियों तथा अभेद-श्रुतियों के प्रतीयमान विरोध का विषय भेद के द्वारा विरोध को दूर कर दिये जाने पर सिद्ध होता है कि ब्रह्म के निर्गुणत्व के प्रतिपादक श्रुतियों का तात्पर्य ब्रह्म में त्याज्य गुणों का निषेध करना है। ज्ञाता, ज्ञेय आदि की कल्पना करने वाली अविद्या है, इस कथन में कोई भी प्रमाण नहीं है। ब्रह्म का कार्यभूत जगत् सत्य है। अविद्या

के द्वारा ब्रह्म का संसरण मानने पर जीव में जो दोष होते हैं, उन सभी दोषों का संक्रमण ब्रह्म में भी होगा। उस आविद्या का निवर्तक तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य अभेद-ज्ञान है; यह नहीं कहा जा सकता है। इस प्रकार अद्वैतवाद की सिद्धि न हो सकने के कारण अद्वैत्यभिमत निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इस प्रकार सिद्ध होता है कि नारायण में ही जगत्कारणत्व तथा मोक्षप्रदत्व आदि गुणों का योग है। सविशेष ब्रह्म की सिद्धि होती है। सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कारण हैं तथा स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कार्य हैं, इस प्रकार कारण से कार्य के अभेद की सिद्धि होती है, यह विशिष्टाद्वैतियों का सम्प्रदाय है।

निर्विशेष ब्रह्म जगत् का कारण नहीं

भा० प्र०—ऊपर के अनुच्छेद में सिद्ध किया गया है कि समस्त कल्याणारी गुण-गणात्मक भगवान् नारायण ही जगत् के कारण हैं। सभी वेदान्त-वाक्य उनका ही प्रतिपादन करते हैं।

निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि—इस अनुच्छेद में पूर्वपक्षी अद्वैत मत को उप-स्थापित करते हुए कहते हैं कि सगुण ब्रह्म नारायण के प्रतिपादन में वेदान्तों का तात्पर्य नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अद्वैत-श्रुतियाँ बतलाती हैं कि एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है, उससे भिन्न प्रतीयमान ज्ञाता, ज्ञेय आदि समस्त भेद मिथ्या हैं तथा उस निर्गुण ब्रह्म में ही आरोपित हैं। ब्रह्म को निर्गुण प्रतिपादित करने वाली निर्गुण श्रुतियाँ निम्न हैं—

'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।' अर्थात् ब्रह्म साक्षी है, चेता है, केवल है तथा निर्गुण है। दूसरी श्रुति कहती है कि—निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' अर्थात् ब्रह्म कला एवं क्रिया से रहित शान्त (षड्र्मिरहित), निरवद्य (निर्दोष) तथा निरञ्जन है। ये श्रुतियाँ ब्रह्म में गुणों का निषेध करती है। 'सदेव सोम्येदमग्रासीदेकमेवाद्वितीयम्' श्रुति ब्रह्म में सजातीय, विसजातीय एवं स्वगतभेद का निरास करती हैं। श्रुति 'सदेव' पद के द्वारा विजातीय भेदों का, 'एकमेव' पद के द्वारा सजातीय भेद का तथा 'अद्वितीयम्' पद के द्वारा स्वगत भेद के अभाव का प्रतिपादन करती है। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० उ० १।१।६) श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म अद्रेश्य अर्थात् अदृश्य (ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता) है। अग्राह्य अर्थात् अनुमान के द्वारा दुर्ग्राह्य है, अगोत्र अर्थात् नामरहित है, सद् ब्रह्म आदि शब्द भी उसे लक्षणा के द्वारा ही प्रदर्शित करते हैं। अवर्ण अर्थात् रूप तथा जाति से रहित है। वह अचक्षुः श्रोत्र अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों से रहित तथा अपाणि-पाद अर्थात् कमेन्द्रियों से रहित है। वह नित्य तथा व्यापक है अर्थात् देश एवं काल की सीमा से रहित है। वह सर्वगत अर्थात् सभी वस्तुओं का अधिष्ठान होने के कारण वस्तु-परिच्छेद से रहित है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है, अतएव वह अदृश्य कहा जाता है,

न कि तुच्छ होने के कारण अदृश्य है । वह अव्यय अर्थात् सदा एकसमान रहने वाला है । उसे ही तत्त्ववेत्ता पुरुष सभी भूतों के कारण रूप से साक्षात्कार करते हैं । यह श्रुति ब्रह्म में सभी गुणों का अभाव बतलाकर ब्रह्म को निर्विशेष, निर्विकार एवं सत्य बतलाती है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० आनंदवल्ली १।१) श्रुति कहती है कि ब्रह्म सत्यस्वरूप अर्थात् अलोकव्यावृत्त, ज्ञानस्वरूप अर्थात् जड़व्यावृत्त तथा अनन्त अर्थात् परिच्छिन्नप्रत्यनीक है । यह वाक्य ब्रह्म को निर्विशेष सिद्ध करता है । 'इदं सर्वं यदयमात्मा' (बृ० उ० ४।४।६) श्रुति बतलाती है कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में आरोपित है । 'नेह नानास्ति किञ्चन' (बृ० उ० ६।४।१९) श्रुति बतलाती है कि इस जगत् में दृश्यमान नाना प्रकार के भेद ब्रह्म में आरोपित होने के कारण मिथ्या-भूत हैं । 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (बृ० उ० ६।४।१९) श्रुति बतलाती है कि जो इन भेदों को सत्यरूप से देखता है, उसको बार-बार संसार में आना-जाना पड़ता है ।

इन सभी श्रुतियों के द्वारा स्पष्ट हो गया कि केवल ब्रह्म ही सत्य है, वह निर्गुण एवं निर्विकार है; ज्ञाता, ज्ञेय इत्यादि सभी पदार्थ उस ब्रह्म में ही कल्पित हैं, अतएव मिथ्या हैं ।

अविद्याग्रस्त ब्रह्म का संसार में संसरण—अद्वैती विद्वानों का कहना है कि पर-ब्रह्म अविद्या से उपहित (आच्छन्न) होकर विविध भेद दर्शन रूपी अनेक भ्रमों में फँस जाता है । उसके फलस्वरूप वह जन्म, जरा, मरण इत्यादि सांसारिक दुःखो को भोगा करता है । अद्वैती विद्वानों की मान्यता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों से जो अभेद ज्ञान होता है, उसी ज्ञान से उस अविद्या की निवृत्ति होती है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य ज्ञानमात्र ब्रह्म के प्रतिपादन में है । अतएव समस्तकल्याणगुणात्मक सगुण नारायण के प्रतिपादन में वेदान्त-वाक्यों का तात्पर्य नहीं माना जा सकता है । पूर्वपक्षियों की उपर्युक्त शङ्का का समाधान करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है कि—यह निश्चय हो चुका है कि सभी कारणवादी वाक्य भगवान् श्रीमन्नारायण का ही प्रतिपादन करते हैं । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वह कारणतत्त्व सगुण है कि निर्गुण ? इसके विषय में अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि ब्रह्म निर्गुण है । क्योंकि श्रुतियाँ उसके निर्गुणत्व का प्रति-पादन करती हैं ।

अपने पक्ष के समर्थन में अद्वैती विद्वान् कहते हैं कि ब्रह्म-विषयिणी दो प्रकार की श्रुतियाँ पायी जाती हैं—सगुण श्रुति एवं निर्गुण श्रुति । सगुण श्रुति ब्रह्म को सगुण बतलाती हैं और निर्गुण श्रुति ब्रह्म को निर्गुण बतलाती हैं । अकेला ब्रह्म सगुण एवं निर्गुण दोनों नहीं हो सकता है । या तो वह सगुण ही होगा अथवा वह निर्गुण होगा । अतएव दोनों प्रकार की जो श्रुतियाँ हैं, उनमें-से एक प्रकार की श्रुति के अर्थ का बाध मानना होगा । किस प्रकार की श्रुति के अर्थ का बाध माना जाय ? इस अर्थ

का निर्णय करने के लिए अपच्छेदन्याय की प्रवृत्ति होती है। उस अपच्छेदन्याय के द्वारा सगुणत्व शास्त्र का बाध होता है।

अपच्छेदन्याय—पूर्वमीमांसा के छठे अध्याय के पञ्चम पाद का उन्नीसवाँ अधिकरण अपच्छेदाधिकरण है। इस अधिकरण में कहा गया है कि ज्योतिष्टोम के प्रातः-सवन में बहिष्पवमानस्तोम पाठ करने वाले ऋत्विजों को एक-दूसरे का कक्ष पकड़ कर पिपीलिका-पंक्ति (चींटी की पंक्ति) की तरह चलना चाहिए। इस कार्य में यदि कोई ऋत्विज प्रमादवश कक्ष छोड़ देता है तो उसका प्रायश्चित्त बतलाया गया है कि 'यद्युद्गाताऽपच्छिद्येत, अदक्षिणो यज्ञः संस्थाप्य तेन पुनर्यजेत, तत्र तद् दद्याद् यद् पूर्वस्मिन् दास्यन् स्यात्। यदि प्रतिहर्ताऽपच्छिद्येत सर्ववेदसं दद्यात्।' अर्थात् यदि उद्गाता गृहीत-कक्ष को प्रमादवश छोड़ दे तो प्रारब्ध यज्ञ को दक्षिणा दिये बिना समाप्त करना चाहिए, बाद में पुनः उसी यज्ञ को करना चाहिए तथा प्रथम प्रयोग में जो दक्षिणा देने के लिए बाकी रह गयी थी, उसी दक्षिणा को इस द्वितीय याग में देना चाहिए। यदि प्रमादवश प्रतिहर्ता गृहीत-कक्ष को छोड़ दे तो उसी याग में दक्षिणा के रूप में सर्वस्व दे देना चाहिए।

यदि कोई एक कक्ष को छोड़ दे तो उसके लिए जो प्रायश्चित्त विहित है, उसे करना चाहिए। यदि दो ऋत्विक् एक साथ ही कक्ष छोड़ दे तो उस समय दोनों में-से किसी एक को प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि उन प्रायश्चित्तों में विकल्प माना जाता है। यदि एक ऋत्विक् पहले छोड़ दे और दूसरा उत्तर काल में छोड़ दे तो इस प्रकार क्रम से दो अपच्छेद जहाँ हो जाय तो वहाँ क्या करना चाहिए? पूर्वापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्त कर्तव्य है अथवा उत्तरापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्त कर्तव्य है? इस शंका का समाधान करते हुए सूत्र कहता है—'पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत्' अर्थात् पूर्वापच्छेदनिमित्त उपस्थित होते ही पूर्वापच्छेद-निमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्र उपस्थित होकर ज्ञान कराता है। उस समय उत्तरापच्छेद तथा तन्निमित्तक प्रायश्चित्तशास्त्र उप-स्थित ही नहीं रहता है। अनुपस्थित उत्तर प्रायश्चित्तशास्त्र का बाध नहीं हो सकता है। उत्तरापच्छेद सम्पन्न होने पर उस निमित्त के बल से उत्तर प्रायश्चित्तशास्त्र को उपस्थित होकर यह ज्ञान कराना पड़ता है, उस समय पूर्व प्रायश्चित्त रूपी प्रतिद्वन्द्वी पहले ही उपस्थित रहता है। अतः पूर्व प्रायश्चित्तशास्त्रजन्य ज्ञान को बाधित किये बिना उत्तर प्रायश्चित्तशास्त्रजन्य ज्ञान उत्पन्न हो ही नहीं सकता है। निमित्त के उपस्थित हो जाने से उत्तर प्रायश्चित्तशास्त्र को उपस्थित होकर ज्ञान कराना ही पड़ता है। अतः उत्तर प्रायश्चितशास्त्र से पूर्व प्रायश्चित्तशास्त्र बाधित हो जाता है। इस प्रकार का सिद्धान्त अपच्छेदाधिकरण में निश्चित किया गया है।

इसी अधिकरणन्याय के अनुसार उत्तरोपस्थित निर्गुणशास्त्र से पूर्वोपस्थित सगुण शास्त्र का बाध होता है। सगुणशास्त्र के द्वारा गुणों के प्रतिपादित होने पर ही निर्गुणशास्त्र से गुणाभाव प्रतिपादित हो सकता है, क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी

का ज्ञान कारण होता है। निर्गुणशास्त्र से सगुणशास्त्र का बाध हो जाने पर ब्रह्म निर्गुण ही सिद्ध होता है। अतएव पूर्वप्रवृत्तिशील सगुणशास्त्र को त्यागना चाहिए तथा उत्तरप्रवृत्तिशील निर्गुणशास्त्र को अपनाना चाहिए।

अपच्छेदन्याय का प्रवृत्ति-स्थल—किन्तु अद्वैती विद्वानों का यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि अपच्छेदन्याय ऐसे ही शास्त्रों के विषय में प्रवृत्त होता है, जहाँ पर विरोध अनियत हो, कभी विरोध होता हो, कभी नहीं होता हो तथा जिन शास्त्रों में पौर्वापर्य भी अनियत हो। इस प्रकार अनियत विरोध पौर्वापर्य वाले शास्त्रों के विषय में ही अपच्छेदन्याय की प्रवृत्ति होती है। प्रकृत सगुणशास्त्र एवं निर्गुणशास्त्र में विरोध निश्चित है तथा पौर्वापर्य भी निश्चित है। सगुणशास्त्र के प्रवृत्त होने के पश्चात् ही निर्गुणशास्त्र प्रवृत्त हो सकता है, क्योंकि अभावज्ञान के प्रति प्रतियोगी का ज्ञान ही कारण होता है। अतः नियत विरोध एवं नियत पौर्वापर्य वाले सगुण एवं निर्गुण शास्त्र के विषय में अपच्छेदन्याय की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। किन्तु नियत विरोध वाले इस सगुण एवं निर्गुण शास्त्र के विषय में विरोधाधिकरणन्याय ही प्रवृत्त होगा।

विरोधाधिकरणन्याय—पूर्वमीमांसा के प्रथमाध्याय के तृतीय पाद में विरोधाधिकरणन्याय उपवर्णित है। इस अधिकरण का प्रधान सूत्र है—'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति हि अनुमानम्।' इस सूत्र में विचार किया गया है कि—'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्।' यह श्रुति कहती है कि उद्गाता, औदुम्बरी का स्पर्श करके उद्गान करे। 'औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्यो।' यह स्मृति कहती है कि औदुम्बरी को पूर्ण रूप से ढँक देना चाहिए। यहाँ विरोध होता है कि यदि औदुम्बरी को पूर्ण रूप से ढँक दिया जाय तो उसका स्पर्श कैसे होगा? अतः प्रश्न होता है कि इस प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध स्मृतिवचन प्रमाण है कि नहीं? पूर्वपक्षी स्मृतिवचन को प्रमाण मानता है। वह कहता है कि जिस प्रकार अन्य स्मृतिवचनों की प्रामाणिकता श्रुतिमूलक होने के कारण स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार इस स्मृतिवचन को भी प्रामाणिक मानना चाहिए, क्योंकि इसके पीछे भी कोई न कोई श्रुति अवश्य होगी। इस स्मृतिवचन लिङ्ग के ही द्वारा इस स्मृति के मूलभूत श्रुति का अनुमान किया जा सकता है। इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया जाता है कि श्रुतिवचन शीघ्र ही यथार्थज्ञान को उत्पन्न करा देता है, क्योंकि श्रुतिवचन निरपेक्ष प्रमाण है। स्मृतिवचन विलम्ब से ही यथार्थज्ञान को उत्पन्न करता है; क्योंकि वह अपने मूलभूत श्रुतिवचन के अनुमान की अपेक्षा रखता है। यहाँ पर 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्' इस प्रत्यक्ष वेदवाक्य से औदुम्बरी का स्पर्श विहित है। यदि सम्पूर्ण औदुम्बरशास्त्र को वस्त्र से आवेष्टित किया जाय तो स्पर्श करना असम्भव हो जायेगा। इस प्रकार सिद्ध होता है कि वेष्टन स्मृति प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध है, अतएव अप्रमाण है। प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध न होने पर ही स्मृति से श्रुति का अनुमान हो सकता है। इस प्रकार इस अधिकरण में प्रत्यक्ष श्रुति के विरुद्ध स्मृति को अप्रामाणिक सिद्ध किया गया है।

यहाँ पर यह अर्थ ध्यान देने योग्य है कि श्रुति पहले ही अर्थबोध करा देती है; क्योंकि वह निरपेक्ष प्रमाण है। वह अर्थ प्रमिति को उत्पन्न करने में किसी प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं रखती है। जब कि स्मृति ऐसी नहीं है; वह विलम्ब से ही अर्थबोध करा सकती है, क्योंकि वह अपने मूलभूत श्रुतिवचन के अनुमान की अपेक्षा रखती है। इस प्रकार श्रुतिवचन और स्मृतिवचन को अर्थबोध कराने में पौर्वापर्य भी रहता है। इनमें पहले श्रुतिवचन के अनुसार यथार्थज्ञान उत्पन्न होने पर उससे विरुद्ध अर्थ, जो स्मृतिवचन से बोधित होते हैं, बाधित हो जाते हैं। इससे यह फलित होता है कि शीघ्रज्ञान को उत्पन्न करने वाला प्रमाण विलम्ब से ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रमाण की अपेक्षा बलवान् होता है। इस न्याय के अनुसार पहले ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली श्रुति स्मृति से बलवती होती है। ऐसी स्थिति में विरोधी परशास्त्रस्मृति का उदय अर्थात् ज्ञानोत्पादकत्व हो ही नहीं सकता है। अतएव श्रुतिविरुद्ध स्मृति अप्रमाण सिद्ध होती है।

इस विरोधाधिकरण के अनुसार यह निश्चित होता है कि सगुणशास्त्र एवं निर्गुण-शास्त्र में विरोध नियत है तथा पौर्वापर्य भी नियत है। इनमें सगुणशास्त्र पहले बोध कराने वाला और निर्गुणशास्त्र बाद में बोध कराने वाला है, क्योंकि गुणनिषेधों के पूर्वप्रतियोगी गुणों का ज्ञान आवश्यक है। ऐसी स्थिति में प्रथम प्रवृत्त होने वाले सगुण-शास्त्र से गुणों की प्रमिति होने पर गुणों से विरोध रखनेवाले निर्गुणशास्त्र का उदय अर्थात् प्रमोत्पादकत्व नहीं हो सकता है। अतएव निर्गुणशास्त्र उसी प्रकार बाधित होंगे, जिस प्रकार श्रुति-विरुद्ध स्मृति बाधित हो जाती है।

किन्तु उपर्युक्त न्याय का वर्णन केवल अद्वैती विद्वानों के उत्तर में करना पड़ता है, क्योंकि वे सगुणशास्त्र और निर्गुणशास्त्र में परस्पर विरोध मानते हैं। वास्त-विकता यह है कि विशिष्टाद्वैत दर्शन में सगुणशास्त्र और निर्गुणशास्त्र में विरोध ही नहीं है। उत्सर्गापवादन्याय के अनुसार दोनों प्रकार की श्रुतियों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। विरोध वहाँ होता है, जहाँ दो प्रकार के परस्पर विरोधी वस्तुओं का विषय एक हो। किन्तु यहाँ तो विरोध है ही नहीं। प्रतीयमान विरोध का उपशमन उत्सर्गापवादन्याय कर देता है।

उत्सर्गापवादन्याय—पूर्वमीमांसा में एक वचन आया है—'न हिंस्यात् सर्वभूतानि।' अर्थात् किसी भी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। एक दूसरा वाक्य कहता है कि 'अग्निषोमीयं पशुमालभेत।' अर्थात् अग्नीषोमीय पशु का आलम्बन करना चाहिए। इन दोनों परस्पर विरोधी वाक्यों को देखकर उत्सर्गापवादन्याय कहता है कि 'न हिंस्यात् सर्वभूतानि'। इस वाक्य का तात्पर्य यज्ञीय-हिंसा से व्यतिरिक्त हिंसा के निषेध में है। इस प्रकार इस न्याय के अनुसार निर्णय होता है कि निर्गुणवाक्य सगुणवाक्यों द्वारा विहित कल्याणकारी गुणों को छोड़कर ब्रह्म में हेय गुणों का निषेध करते हैं।

किञ्च जिस प्रकार सामान्यविशेषन्याय के द्वारा 'पशुमालभेत' इस वाक्य के पशु-सामान्य के वाचक पशु शब्द का 'छागस्य वपायाः' इन मन्त्र-वर्णों में वर्णित छाग

नामक पशुविशेष में पर्यवसान हो जाता है, उसी प्रकार निर्गुणवाक्य का भी, जो सामान्य रूप से गुणों का निषेध करते हैं 'अपहतपाप्मा' इत्यादि वाक्य द्वारा प्रतिपादित पापादि दुर्गुणों के निषेध में पर्यवसान हो जाता है।

तत्त्वसार नामक ग्रन्थ में कहा भी गया हैं कि, उपनिषद् इत्यादि शास्त्रों में ब्रह्म के विषय में कई वचन गुण, शरीर, विकार जन्म और कर्म इत्यादि का विधान करते हैं तथा कई वचन इनका निषेध भी करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी इन वचनों के विषय भिन्न-भिन्न हैं। ब्रह्म में गुणादि का विधान करने वाले वचन मंगलगुणादि के विधान में तात्पर्य रखते हैं तथा गुणादि के निषेधक वचन दुर्गुण इत्यादि के निषेध में तात्पर्य रखते हैं। अतएव विषय की भिन्नता के कारण इन वचनों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

भेदाभेदवादिनी श्रुतियों का तात्पर्य-निरूपण—भेदाभेद-विषयक विरोध का भी उपशम घटक-श्रुतियों द्वारा होता है। भेद-श्रुतियाँ प्रकारभूत चेतनाचेतन, प्रकारी ईश्वर तथा ईश्वर के प्रकारभूत चेतनाचेतनों का परस्पर में भेद का प्रतिपादन करती हैं। अभेद-श्रुतियाँ 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन घटक-श्रुतियाँ करती हैं। घटक-श्रुतियों को ही अन्तर्यामी श्रुति भी कहा जाता है। घटक-श्रुतियाँ बतलाती है कि सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है और परमात्मा जगत् का प्रकारी है। जगत् और परमब्रह्म में प्रकार एवं प्रकारीभाव की सिद्धि उसके शरीरात्मभाव को लेकर होती है। जिस प्रकार शरीर आत्मा का प्रँकार होता है तथा आत्मा शरीर का प्रकारी होता है, उसी प्रकार 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की आत्मा है तथा परमात्मा का शरीर है जगत्। 'यस्यात्मा शरीरम्' अर्थात् आत्मा जिस परमात्मा का शरीर है। 'जगत् सर्वं शरीरं ते।' हे भगवन्! यह सम्पूर्ण जगत् आपका शरीर है। इत्यादि श्रुतियों एवं स्मृतियों में वर्णित सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर होने के कारण उसका प्रकार है और परमात्मा जगत् की आत्मा होने के कारण प्रकारी है।

ज्ञातृज्ञेयादिकल्पिका० इत्यादि—यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है कि ज्ञाता, ज्ञेय इत्यादि भेदों की कल्पना करने वाली अविद्या है; यह अद्वैती विद्वानों का कथन इसलिए अयुक्त है कि उस प्रकार की ब्रह्म में ज्ञातृत्वादि की कल्पना करनेवाली अविद्या की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं है।

जगत् के सत्यत्व की सिद्धि

ब्रह्मकार्यस्य सत्यत्वात्० इत्यादि—अर्थात् 'सदेव' श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म जगत् का कारण है तथा जगत् ब्रह्म का कार्य है। जिस प्रकार सत्य मृत्तिका से सत्य घट ही उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सत्य ब्रह्म का कार्य जगत् भी सत्य ही है। जगत् की सत्यता की सिद्धि इसलिए भी होती है कि यह प्रत्यक्षप्रमाण के द्वारा भी सत्य रूप

से अनुभूत होता है। अतएव अद्वैती विद्वानों को अभिप्रेत जगत् के मिथ्यात्वानुमान की सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण स्वेतर समस्त प्रमाणों का उपजीव्य है। उपजीव्य प्रमाण का उपजीवक अनुमानप्रमाण के द्वारा बाध नहीं हो सकता है। ज्वालाभेदानुमान के द्वारा जो ज्वालैक्य प्रत्यक्ष का बाध होता है, वह भी कारणदोष तथा बाधप्रतीति के कारण होता है। देखा जाता है कि भिन्न-भिन्न ज्वालाओं की सामग्री तैलवर्तिकादि भिन्न होती है, अतः उनसे उत्पन्न होने वाली ज्वाला भी भिन्न ही होगी, अतएव ज्वालैक्यप्रतीति का बाध भी होता है। निर्दोषप्रत्यक्ष का बाध कहीं भी अनुमान के द्वारा नहीं होता है। अतएव निर्दोषप्रत्यक्ष के विषयभूत जगत् के सत्यत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता है। अतएव ज्ञातृज्ञेयत्वादि विविधभेदविशिष्ट विचित्र जगत् ब्रह्म का कार्य है तथा सत्य है।

अविद्यया संसारे० इत्यादि—किञ्च अविद्योपहित ब्रह्म का संसरण मानने पर जीव में पाये जाने वाले सभी दोषों का संक्रमण ब्रह्म में होने लग जायेगा। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को निर्दोष एवं कल्याणगुणात्मक बतलाने वाले शास्त्रों का विरोध होगा। श्रुतियाँ ब्रह्म को स्वेतर समस्तवस्तुविलक्षण, सबों का आश्रय तथा आश्रित जीवों के पापताप का विनाशक बतलाती है। परब्रह्म ही यदि अज्ञान में फँस जाय तो फिर जीवों का रक्षक कौन होगा ?

निवर्तकानुपपत्ति—तन्निवर्तकान्तरस्य इत्यादि—अद्वैती विद्वान् मानते हैं कि तत्त्वमस्यादि वाक्यजन्य ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है, किन्तु उनका यह कथन इसलिए अनुचित है कि उस अविद्या विनाशक ज्ञान की उत्पत्ति श्रुति से उत्पन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि वह ब्रह्म-व्यतिरिक्त होने के कारण मिथ्या है; अविद्या-कल्पित है; यह अद्वैती विद्वान् भी मानते हैं। अविद्या-कल्पित होने के कारण श्रुति दोषजन्य है, फलतः उससे उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी दूषित ही होगा, अतएव उसके द्वारा अविद्या एवं उसके कार्यभूत प्रपञ्च का बाध नहीं हो सकता है।

जैसे परस्पर में परिचित एक इन्द्रिय दोष वाले व्यक्ति को रस्सी देखकर यदि उसमें सर्पज्ञान हो जाता है, तो उसके उस भ्रम की निवृत्ति दूसरे दोषों से दूषित चक्षुरिन्द्रिय वाले व्यक्ति के यह कहने से नहीं हो सकती है कि यह सर्प नहीं, रस्सी है। क्योंकि प्रथम मनुष्य यह जानता है कि इसकी भी चक्षुरिन्द्रिय उसी प्रकार से दोष-दूषित है, जिस प्रकार हमारी चक्षुरिन्द्रिय। अत एव वह उसकी बातों पर विश्वास ही नहीं करेगा।

इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए कि अद्वैती साधक शास्त्र श्रवण करते समय यह जान लेता है कि ब्रह्म-व्यतिरिक्त सम्पूर्ण प्रतीयमान पदार्थ अविद्या-कल्पित हैं. इनकी प्रतीति भ्रम के कारण होती है। ये सब मिथ्या हैं। ऐसी स्थिति में उस साधक में शास्त्र-प्रपञ्च बाधक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। अतएव आविद्यिक शास्त्रजन्य ज्ञान आविद्यिक प्रपञ्च का निवर्तक नहीं हो सकता है।

अतो द्वैतवादस्यासम्भवात् इत्यादि—उपर्युक्त प्रतिपादन से स्पष्ट है कि अद्वैतवाद की सारी मान्यताएँ अनुपपन्न हैं। फलतः अद्वैताभिमत निर्विशेषचिन्मात्र ब्रह्म की भी सिद्धि नहीं हो सकती है। अद्वैती विद्वानों को अत्यन्त अभिप्रेत सदेव श्रुति के द्वारा भी ब्रह्म की अनेक विशेषताओं की ही सिद्धि होती है, उसको निर्विशेषता की सिद्धि उसके द्वारा नहीं होती है। जगत् और ब्रह्म में कार्यकारणभाव को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त इस वाक्य के 'अग्रे' पद से सृष्टि के पूर्व में विद्यमान प्रलयकाल रूप कालविशेष का सद्भाव सिद्ध होता है। 'आसीत्' पद से क्रिया-विशेष की सिद्धि होती है। 'एकमेव' पद से ब्रह्म में जगदुपादानत्व की सिद्धि तथा 'अद्वितीयम्' पद से ब्रह्म में जगन्निमित्तत्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार यह श्रुति ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणत्व रूपी विशेषता की ही सिद्धि करती है। अतएव यह श्रुति भी सविशेष ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है, न कि निर्विशेष ब्रह्म को।

अतो नारायणस्यैव० इत्यादि—अत एव सिद्ध होता है कि नारायण ही जगत् के कारण तथा मोक्ष प्रदान करने वाले हैं। वे ही ब्रह्म हैं। ब्रह्म सविशेष ही होता है, निर्विशेष नहीं। सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म का कारण है तथा स्थूल चेतना-चेतनविशिष्ट ब्रह्म का कार्य है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैतियों को अभिमत कारण से कार्य की अनन्यता सिद्ध होती है। यही विशिष्टाद्वैती वेदान्तियों का सम्प्रदाय है।

परमतनिरासपूर्वकं सिद्धान्त्यभिमतेश्वराङ्गीकारे दोषाभावसमर्थनम्

एवमीश्वराङ्गीकारात् निरीश्वरसांख्यमीमांसकादिमतनिरासः। एतस्यैवोपादानत्वस्वीकारात् योगपाशुपतनैयायिकमतनिरासः। तैर्निमित्तकारण-मात्रेश्वराङ्गीकारात्। ईश्वरस्य कार्यं प्रत्युपादानत्वनिमित्तत्ववत्कर्तृत्व-प्रेरकत्वनियन्तृत्वप्र(शासि)काशयितृत्वानुमन्तृत्वसहकारित्वोदासीनत्वा-दिकमप्युपपद्यते। बाल्ययौवनावस्थादयो दोषा यथा शरीरगता न तु शरीरिणि जीवे। एवं चिदचिच्छरीरिणः परमात्मनोऽपीति न निर्विकार-श्रुतिविरोधः। नियमेन तदाधेयत्व-विधेयत्व-शेषत्वादेः शरीरलक्षणस्य जगति विद्यमानत्वाज्जगच्छरीर ईश्वरस्तद्गतदोषैरसंसृष्टश्च।

अनुवाद—इस प्रकार से जगत् के कारण रूप से ईश्वर को स्वीकार करने से निरीश्वरवादी सांख्यों एवं मीमांसकों के मत का खण्डन हो जाता है। ईश्वर को ही जगत् का उपादानकारण स्वीकार करने से योगियों, पाशुपतों तथा नैयायिकों के मत का प्रत्याख्यान हो जाता है, क्योंकि वे ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण ही मानते हैं। कार्य जगत् के प्रति ईश्वर के उपादानत्व तथा निमित्तत्व के ही समान उसके कर्तृत्व, प्रेरकत्व, नियन्तृत्व, प्रकाशकत्व, अनमतिप्रदत्व, सहकारित्व, उदासीनत्व आदि गुणों की भी उपपत्ति हो जाती है। जिस प्रकार बालत्व, यौवनत्व आदि विकार शरीर में होते हैं, उसके अधिष्ठाता आत्मा में नहीं, उसी प्रकार चेतनाचेतनशरीरक परमात्मा

का भी उसके निर्विकारत्व प्रतिपादिका श्रुतियों से कोई विरोध नहीं होता है। परमात्मा के शरीरभूत जगत् में नियमतः परमात्माधेयत्व, परमात्मविधेयत्व तथा परमात्मशेषत्व नामक धर्म रहता है, जगत्-शरीरक ईश्वर की सिद्धि होती है तथा परमात्मा में जगत् के दोषों का संस्पर्श भी नहीं होता है।

ईश्वर-सिद्धि

भा० प्र०—ऊपर के अनुच्छेद में सिद्ध किया गया है कि ईश्वर जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है। किन्तु सांख्यमतावलम्बी तथा मीमांसक ईश्वर को स्वीकार नहीं करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ईश्वर होता तो उसकी भी उपलब्धि होती, चूँकि नहीं होती है, अत एव सिद्ध होता है कि ईश्वर नहीं है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि योग्यानुपलब्धि ही किसी भी वस्तु के अभाव को सिद्ध कर सकती है, अयोग्यानुपलब्धि के द्वारा किसी भी पदार्थ के अभाव को सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अनुपलब्धिप्रमाण का योग्य विषय वही होता है, जो उद्भूत रूप वाला तथा उद्भूत महत्त्व गुण वाला हो। ईश्वर इन दोनों प्रकार की विशेषताओं से रहित होने के कारण अनुपलब्धिप्रमाण का योग्य विषय नहीं है। यदि अयोग्य विषयों को भी अभाव प्रमाण अपना विषय बनाए तो फिर स्वात्म-परात्म का भेद भी आप सिद्ध नहीं कर सकते हैं। परात्मा प्रत्यक्ष का योग्य विषय नहीं है। अतएव उसका साक्षात्कार नहीं होता, एतावता उसका अनुपलब्धिप्रमाण के द्वारा अभाव भी सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

इस पर चार्वाक मतानुयायी कह सकते हैं कि हम तो शरीर को ही आत्मा मानते हैं। अत एव परात्मा का साक्षात्कार होता ही है? तो इसका उत्तर है कि आप शरीर का साक्षात्कार कर सकते हैं, किन्तु उसके ज्ञान का तो आप साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। यदि कहें कि दूसरे शरीरात्मा के ज्ञान को हम प्रत्यक्ष से भिन्न प्रमाण के द्वारा जान लेते हैं। जहाँ-जहाँ शरीरात्मा रहता है, वहाँ-वहाँ ज्ञान रहता है, मेरे शरीरात्मा के समान। यह भी शरीरात्मा है, अत एव इसमें भी ज्ञान है। इस अनुमान के द्वारा परात्मज्ञान के सद्भाव की सिद्धि होती है? तो इसका उत्तर है कि—ईश्वर को जगत् के कर्ता रूप में अनुमान किया जाता है। उस अनुमान का स्वरूप है कि—जो-जो कार्य होता है, उस-उस कार्य का कोई न कोई कर्ता अवश्य होता है। मही, महीधर, महार्णव इत्यादि भी कार्य हैं, अतएव इनका भी कोई न कोई कर्ता होगा। इन सबों का जो कर्ता है, वही ईश्वर है। मही, महीधर, महार्णवादि के कार्यत्व की सिद्धि इसलिए होती है कि वे सावयव हैं। जो-जो सावयव होता है, वह-वह घट के समान कार्य होता है। इस प्रकार मही, महीधर, महार्णवादि के कर्ता रूप में ईश्वर की सिद्धि होती है।

यहाँ पर पूर्वपक्षी कह सकते हैं कि ईश्वर यदि जगत् का कर्ता होता तो, वह भी शरीरधारी होता। जो-जो कर्ता होता है, वह-वह शरीरधारी होता है। जैसे—घटादि कर्ता के कुम्भकार आदि। ईश्वरवादियों को ईश्वर का शरीरी होना अभिप्रेत नहीं

है ? तो इस शंका का समाधान है कि हम कर्ता ईश्वर को मानते हैं, शरीर तो कर्ता है ही नहीं। शरीर तो कर्ता का एक साधनमात्र होता है। लोक में देखा जाता है कि समर्थ कर्ता सर्वत्र देखे जाने वाले साधनों के अभाव में भी तत्-तत् कार्यों को कर डालते हैं। ईश्वर को तो श्रुतियाँ सर्वसमर्थ बतलाती हैं। अतएव वह शरीरादि साधन-सामग्री के बिना भी अपने सत्यसंकल्पादि के द्वारा ही जगद्-व्यापार को सम्पादित करता है। किञ्च श्रुतियाँ जगत् की सृष्टि के लिए उपयोगी परमात्मा के चेतनाचेतनशरीरकत्व का प्रतिपादन करती ही हैं। किञ्च श्रुतियाँ स्पष्ट रूप से कहती हैं कि ब्रह्म ही जगत् का स्रष्टा, पालक, संहारक तथा मोक्षप्रद है। 'जन्माद्यस्य यतः' (शा० मी० १।१।२) सूत्र में महर्षि बादरायण इस अर्थ का अच्छी तरह से प्रतिपादन किये हैं।

यदि यह कहें कि ईश्वर यदि होता तो तत्त्ववेताओं में अग्रगण्य महर्षि कपिल उसका प्रतिपादन अवश्य करते ? चूंकि वे ऐसा नहीं करते हैं, अतएव पता चलता है कि ईश्वर नहीं है। महर्षि कपिल तो स्वतन्त्र प्रकृति को ही जगत् का कारण बतलाते हैं ? तो ऐसी बात नहीं है। योगियों को भी जीव-स्वभाव के कारण भ्रम हो जाता है। भ्रमपूर्ण होने के ही कारण महर्षि बादरायण स्मृतिविरोधाधिकरण में 'स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृति अनवकाशदोषप्रसङ्गात्' (शा० मी० २।१।१) सूत्र के द्वारा कापिलस्मृति को अनुपादेय बतलाते हैं।

ईश्वर को नहीं मानने वाले कर्ममीमांसक भी महर्षि जैमिनि के अभिप्राय को नहीं समझ पाते हैं। 'परं जैमिनिर्मुख्यत्वात्' इस शारीरक-सूत्र से स्पष्ट है कि महर्षि जैमिनि को भी ईश्वर का सद्भावाभ्युपगम स्वीकार है।

पाशुपतमतावलम्बी तथा योगमतावलम्बी मानते हैं कि ईश्वर का सद्भाव तो स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु उसे जगत् का उपादान और निमित्त, दोनों प्रकार का कारण नहीं माना जा सकता है। क्योंकि कार्य का उपादानकारण कोई जड़ ही हो सकता है, उपादानकारण का कार्य के रूप में परिणाम होता है। ईश्वर चेतन है, सर्वज्ञ है। ज्ञाता ईश्वर का कार्य के रूप में परिणाम स्वीकार करना उचित नहीं है। अतएव ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण मानना ही उचित है। 'यतो वा' इत्यादि श्रुति ईश्वर को जगत् का निमित्तकारण ही बतलाती है। वह जगत् का अधिष्ठाता होने के कारण भी जगत् का निमित्तकारण उसी प्रकार सिद्ध होता है, जिस प्रकार घट का अधिष्ठाता कुलाल जगत् का निमित्तकारण है।

किन्तु ईश्वर को जगत् का निमित्तकारणवादी विचारकों का विचार इसलिए ठीक नहीं है कि ईश्वर को सिद्ध करने में समर्थ प्रमाण श्रुतियाँ ही ईश्वर को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाती हैं। किञ्च ईश्वर तो सर्वशक्तिमान है। जिस प्रकार वह जगत् का निमित्तकारण होने में समर्थ है, उसी प्रकार वह जगत् का उपादानकारण भी हो सकता है। अपने सूक्ष्म चेतनाचेतन रूप प्रकारांश को छोड़कर

स्थूल चेतनाचेतन रूप प्रकारांश को ग्रहण करके कार्य के रूप में परिणत होता है। नामरूप विभागानहार्वस्था को छोड़कर नामरूप विभागार्हावस्था को प्राप्त हो जाना ही उपादानभूत ईश्वर का कार्य जगत् के रूप में परिणाम होना है। अतएव ईश्वर को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानने में कोई भी आपत्ति नहीं है।

जिस प्रकार ब्रह्म में उपादानत्व एवं निमित्तत्व आदि विशेषताओं की सिद्धि होती है, उसी प्रकार ब्रह्म में कर्तृत्व आदि गुणों की भी सिद्धि हो जाती है। 'हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' श्रुति ब्रह्म में जगत् के नामरूप व्याकर्तृत्व का प्रतिपादन करती है। 'क्षरं प्रधानममृताक्षरं हर क्षरात्मानावीशते देव एकः' यह श्रुति कहती है कि विकारवती प्रकृति का उपभोग करने के लिए जीव अमृत हरण करता है तथा प्रकृति और जीव इन दोनों को परमात्मा अकेले नियमन करता है। यह श्रुति ईश्वर के नियन्तृत्व का प्रतिपादन करती है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' श्रुति बतलाती है कि परमात्मा से प्रकाश को पाकर यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है।

जिस प्रकार बालत्व, युवत्व आदि अवस्थाएँ शरीर में होती हैं, किन्तु शरीरी आत्मा निर्विकार बना रहता है, उसी प्रकार परमात्मा के शरीरभूत चेतनाचेतनों में जो दोष होते हैं, उन दोषों से उनके आत्माभूत परमात्मा से सम्पर्क नहीं होता है। अतएव चेतनाचेतनों में विकार होने पर भी उनके आत्मभूत परमात्मा में कोई भी विकार नहीं होता है। अतएव परमात्मा को निर्विकार बतलाने वाली श्रुतियों से चेतनाचेतनात्मा परमात्मा को मानने में कोई भी विरोध नहीं होता है। चेतनाचेतनात्मक जगत् को परमात्मा का शरीर इसलिए माना जाता है कि शरीर के जो लक्षण हैं, वे सभी लक्षण जगत् में मिलते हैं। जो जिसका शरीर होता है, वह अपने आश्रयभूत चेतन का नियमतः आधेय, विधेय और शेष होता है। जगत् भी परमात्मा का नियमतः आधेय, विधेय और शेष हैं। परमात्माश्रित होने के कारण जगत् परमात्मा का आधेय है। परमात्मा के द्वारा प्रेरित एवं नियन्त्रित होने के कारण यह परमात्मा का नियमतः विधेय है। परमात्मा जिस प्रकार से चाहता है, उसी प्रकार जगत् से लीलादि रस का अनुभव करते हुए उसका उपभोग करता है, अतएव जगत् परमात्मा का शेष है।

परमात्मन आनन्त्यप्रतिपादनम्

स चेश्वरो विभुस्वरूपश्च। विभुत्वं नाम व्यापकत्वम्। तच्चेश्वरस्य त्रिधा–स्वरूपतो, धर्मभूतज्ञानतो विग्रहतश्च। स चानन्त इत्युच्यते। अनन्तो नाम त्रिविधपरिच्छेदरहितः। त्रिविधपरिच्छेदस्तु– देशतः, कालतो वस्तुतश्च। सत्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वामलत्वादय ईश्वरस्य स्वरूपनिरूपकधर्माः। ज्ञानशक्त्यादयस्तन्निरूपितस्वरूपधर्माः। सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादयः सृष्ट्युपयुक्तधर्माः। वात्सल्यसौशील्यसौलभ्यादय आश्रयणोपयुक्तधर्माः। कारुण्या-

दयो रक्षणोपयुक्तधर्माः। एतेषां स्वरूपं बुद्धिपरिच्छेदे निरूपितमिति नेह प्रपञ्च्यते।

अनुवाद—वह ईश्वर स्वरूपतः विभु है। विभु व्यापक को कहते हैं। वह ईश्वर जगत् में तीन प्रकार से व्यापक हैं—स्वरूप द्वारा, धर्मभूत ज्ञान के द्वारा तथा अपने विग्रह (शरीर) के द्वारा। ईश्वर को अनन्त कहा जाता है। अनन्त उसे कहते हैं, जो तीन प्रकार के परिच्छेद (सीमाओं) से रहित हो। देशपरिच्छेद, कालपरिच्छेद और वस्तुपरिच्छेद ये तीन प्रकार के परिच्छेद हैं। सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व तथा अमलत्व आदि ईश्वर के स्वरूप-निरूपक धर्म हैं। ज्ञान-शक्ति आदि स्वरूप-निरूपक धर्मों के द्वारा निरूपित धर्म हैं। सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि परमात्मा की सृष्टि के लिए उपयोगी धर्म हैं। वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य आदि ईश्वर के आश्रयणोपयुक्त धर्म हैं। कारुण्य आदि ईश्वर के रक्षणोपयुक्त धर्म हैं। इन गुणों के स्वरूप का निरूपण बुद्धि-परिच्छेद में किया जा चुका है, अतएव यहाँ पर उनके स्वरूप को निरूपित नहीं किया जा रहा है।

ईश्वर की त्रिविध व्यापकता

भा० प्र०—इस परिच्छेद में ईश्वर की व्यापकता का वर्णन करते हुए यतीन्द्र-मतदीपिकाकार कहते हैं—**स चेश्वरः इत्यादि**—अर्थात् उपर्युक्त ईश्वर विभुस्वरूप वाला है। विभुत्व व्यापकता को कहते हैं। ईश्वर तीन प्रकार से व्यापक है—१. स्वरूप द्वारा २. धर्मभूतज्ञान द्वारा तथा ३. शरीर द्वारा।

(१) **ईश्वर की स्वरूपतः व्यापकता**—सभी व्याप्य द्रव्यों का संयोग जिससे हो, उसे व्यापक कहते हैं। ईश्वर जगत् का व्यापक है, जगत् उसका व्याप्य है। उसकी स्वरूपतः व्यापकता का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'ईशा वास्यमिदं सर्वम्' (ईशोपनिषद् १)। अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का व्याप्य है और ईश्वर जगत् में व्यापक है। 'यच्च किञ्च जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।' अर्थात् जो कुछ भी जगत् में देखा अथवा सुना जाता है, उन सभी के भीतर व्यापक रूप से भगवान् नारायण विद्यमान हैं। ईशावास्योपनिषद् की 'तदन्तस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।' अर्थात् वह ईश्वर इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर तथा बाहर दोनों प्रकार से व्यापक है। भगवान् से अर्जुन कहते हैं—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।' अर्थात् श्रीभगवान् आप सभी वस्तुओं में पूर्णरूप से व्याप्त हैं, अत एव आपको सर्व शब्द से अभिहित किया जाता है। संसार की सभी वस्तुओं से स्वरूपतः महान् होने के कारण ही श्रीभगवान् के विषय में श्रुति कहती है—'महतो महीयान्' महान् वस्तुओं से भी महान् श्रीभगवान्। विष्णु नाम की निरुक्ति करते हुए कहा गया है—'चराचरेषु सर्वेषु वेशनाद्विष्णुरुच्यते।' अर्थात् ईश्वर को विष्णु नाम से इसलिए अभिहित किया जाता है क्योंकि वे सम्पूर्ण चराचर जगत् के भीतर व्याप्त हैं। चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् में व्यापक होने के कारण ही 'अप्रमेयात्मा'

शब्द से भी ईश्वर को अभिहित किया जाता है। ईश्वर के ब्रह्म नाम की व्याख्या करते हुए महर्षि यास्क कहते हैं—'ब्रह्म परिवृढं सर्वत:' अर्थात् ब्रह्म सभी प्रकार से सभी वस्तुओं से बढकर हैं। इस प्रकार ईश्वर की स्वरूपत: व्यापकता सिद्ध होती है।

(२) **धर्मभूत ज्ञान के द्वारा ईश्वर की व्यापकता**—यह है कि वह अपने ज्ञान के द्वारा सभी वस्तुओं को—चाहे वे वर्तमानकालिक हों, या अतीतकालिक अथवा अनागतकालिक—सर्वदा विषय बनाता है। कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका परमात्मा अपरोक्ष नहीं करता हो। देश एवं काल की सीमा परमात्मा के ज्ञान की प्रतिबन्धक नहीं बनती है। श्रुति कहती है—य: सर्वज्ञ: सर्ववित्' अर्थात् जो परमात्मा सभी वस्तुओं को सामान्य रूप से तथा विशेष रूप से जानता है। अतएव सभी वस्तुओं को अपने ज्ञान का विषय बनाने के कारण परमात्मा धर्मभूत ज्ञान के द्वारा व्यापक सिद्ध होता है।

(३) **शरीर के द्वारा व्यापकता**—परमात्मा अपने विराट् रूप के द्वारा जगत् में व्यापक है। इसीलिए—'यस्यात्मा शरीरम्' अर्थात् आत्मा जिसका शरीर है। 'यस्य पृथिवी शरीरम्' अर्थात् पृथिवी जिसका शरीर है। 'यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्' अर्थात् सम्पूर्ण भूत जिसका शरीर है; इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा को सम्पूर्ण जगत्शरीरक बतलाती हैं।

ईश्वर का आनन्त्य

ईश्वर को 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' श्रुति अनन्त बतलाती है। अनन्त उस वस्तु को कहा जाता है, जो किसी देश-विशेष, काल-विशेष तथा वस्तु-विशेष में व्यापक न रहकर सभी देशों, सभी कालों तथा सभी वस्तुओं में व्यापक हो। 'स भूमिं सर्वत: स्पृत्वाऽत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (पुरुषसूक्त १)। अर्थात् वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् में सब प्रकार से व्यापक रहकर उसके बाहर भी अनन्त प्रदेश तक व्याप्त है। यह श्रुति परमात्मा को सर्वदेश-व्यापक बतलाकर उसे देश की सीमा से रहित बतलाती है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यत:' अर्थात् परमात्मा इस सम्पूर्ण जगत् के बाहर एवं भीतर व्याप्त है, यह श्रुति तथा 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' श्रुति परमात्मा को सभी वस्तुओं में व्यापक बतलाकर उसे 'वस्तु की सीमा से रहित बतलाती हैं। जो पदार्थ परिच्छिन्न गुणवाला तथा परिच्छिन्न विभूतिवाला हो, उसमें वस्तुपरिच्छेद विद्यमान रहता है; ब्रह्म में वस्तुपरिच्छेद नहीं है। भाव यह है कि स्वरूप, गुण, विभूति तथा अन्य किसी आकार की दृष्टि से जो पदार्थ दूसरे पदार्थ में निम्न कोटि से रहता है, उसमें वस्तुपरिच्छेद माना जाता है। इन दृष्टियों से विचार करने पर भी ब्रह्म किसी वस्तु से निम्न कोटि का नहीं है; अतएव वह वस्तुपरिच्छेद से रहित है। श्रीभगवान् नित्य हैं। सर्वकालविद्यमानत्व को नित्यता कहते हैं। 'नित्यो नित्यानाम्' अर्थात् परमात्मा नित्य जीवों से भी बढ़कर नित्य है। यह श्रुति परमात्मा को काल की सीमा से रहित बतलाती है। देश; काल एवं वस्तु की सीमा से रहित होने के कारण ही श्रीभगवान् अनन्त शब्द से अभिहित किये जाते हैं।

श्रीभगवान् को समस्तकल्याणगुणगणाकर कहा जाता है। ये सभी गुण श्रीभगवान् के धर्म हैं तथा श्रीभगवान् धर्मी हैं। ये गुण श्रीभगवान् में कई प्रकार के धर्मरूप में विद्यमान हैं। सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व एवं अमलत्व आदि श्रीभगवान् के स्वरूप-निरूपक धर्म हैं। अर्थात् इन गुणों से श्रीभगवान् के स्वरूप को निरूपित किया जाता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति बतलाती है कि ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप तथा अनन्तस्वरूप है। 'आनन्दं ब्रह्म' यह श्रुति ब्रह्म को आनन्दस्वरूप बतलाती है। 'अपहतपाप्मा' श्रुति ब्रह्म को कर्मबन्ध रूप मल से रहित स्वरूपवाला बतलाती है। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज ये षाड्गुण्य भी स्वरूप-धर्म हैं, किन्तु ये ज्ञानत्वादि स्वरूप-निरूपक धर्मों के द्वारा निरूपित होते हैं। ईश्वर में विद्यमान सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्व ये दोनों धर्म सृष्टि करने के किए उपयोगी हैं। सर्वशक्तिमान ईश्वर सब कुछ करने में समर्थ है, अतएव वह जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होने के कारण पूर्वकल्पानुसारी सभी सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि की सृष्टि करके उनका नामरूप विभाग करता है।

श्रीभगवान् के वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य आदि गुणों का ही अनुसन्धान करके जीव श्रीभगवान् की शरणागति प्राप्त करते हैं। अतएव ये गुण श्रीभगवान् के आश्रयणोपयुक्त हैं। श्रीभगवान् करुणा के द्वारा ही प्रेरित होकर इन अनादि काल से पराङ्मुख जीवों की रक्षा किया करते हैं। 'हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इस नामरूप व्याकरण श्रुति के 'हन्त' इस अव्यय पद के द्वारा भी 'हन्त हर्षे कृपायाञ्च' इस कोशवाक्य के अनुसार श्रीभगवान् की कृपा सूचित होती है। 'क्रीडा कारुण्यतन्त्रः सृजति समतया जीवकर्मानुरूपम्' (तत्त्वमुक्ताकलाप ३।१) इस कारिका में वेदान्तदेशिक बतलाते हैं कि जीवों के प्राचीन कर्मों को देखते हुए परमात्मा सभी को समानरूप से अपनी करुणा के आधीन होकर तथा लीलारस का अनुभव करने के लिए सृष्टि करते हैं। दयाशतक नामक स्तोत्र-ग्रन्थ में श्रीमद् वेदान्तदेशिक श्रीभगवान् की सर्वकार्यनिर्वाहिका शक्ति करुणा नामक गुण को बतलाते हैं।

ईश्वरस्यैव सृष्टिस्थितिसंहारकर्तृत्वम्

अयमीश्वरः अण्डसृष्ट्यनन्तरं चतुर्मुखदक्षकालादिष्वन्तर्यामितया स्थित्वा सृष्टिं करोति। विष्णववताररूपेण मनुकालाद्यन्तर्यामिरूपेण च स्थित्वा रक्षको भवति। रुद्रकालान्तकादीनामन्तर्यामितया संहारमपि करोति। अतः सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता चेति।

अनु०—यह ईश्वर ब्रह्माण्ड की सृष्टि के पश्चात् चतुर्मुख (ब्रह्मा), दक्ष तथा काल आदि के अन्तर्यामी रूप से रहकर सृष्टि करता है। विष्णु के अवतार रूप से मनु तथा काल आदि के अन्तर्यामी रूप से रहकर जगत् की रक्षा करता है। रुद्र,

काल तथा यमराज आदि के अन्तर्यामी रूप से रहकर जगत् का संहार भी करता है। इस प्रकार ईश्वर जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करनेवाला है।

भा० प्र०—परमात्मा को—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' यह श्रुति ब्रह्म को ही जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार का कर्त्ता बतलाती है। जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने की क्रिया को ही श्रीभगवान् का जगद्व्यापार कहा जाता है। यह जगद्व्यापार परमात्मा दो प्रकार से किया करता है—साक्षात् (अद्वारक) तथा माध्यम से (सद्वारक)।

परमात्म-सृष्टि का स्वरूप—परमात्मा के द्वारा की जानेवाली सृष्टि का अर्थ है कि परमात्मा अपने सत्यसंकल्प के द्वारा उचित वस्तुओं का स्वरूपतः परिणाम करता है तथा चेतन जीवों को शरीर, इन्द्रियाँ आदि प्रदान करके उनके धर्मभूत ज्ञान को विकसित कर देता है। लोकाचार्य कहते हैं—'ईश्वरेण क्रियमाणा सृष्टि-र्नाम—अचितः परिणामनं चेतनस्य शरीरेन्द्रियप्रदानपुरस्सरं ज्ञानस्य विकासनञ्च' (तत्त्वत्रयम् ३।२४)।

ईश्वर ब्रह्मा एवं ब्रह्माण्ड की साक्षात् सृष्टि करते हैं। यह ईश्वर की अद्वारक सृष्टि है। इसके पश्चात् की जानेवाली सृष्टि सद्वारक सृष्टि कहलाती है।

परमात्मा की चार प्रकार की सद्वारक सृष्टियाँ—परमात्मा की सद्वारक सृष्टि चार प्रकार से होती है—ब्रह्माकृत, नित्यसृष्टिकर्ता प्रजापतिकृत, कालकृत तथा माता-पिता आदि रूप से जीवकृत। परमात्मा इन चारों के भीतर अन्तर्यामी रूप से रहकर चारों प्रकार की सृष्टियों को सम्पादित करते हैं। श्रीभगवान् रजोगुण से युक्त होकर इन चारों प्रकार की सृष्टियों को सम्पादित करते हैं, इस बात को बतलाते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—

'एकेनांशेन ब्रह्मासौ भवत्यव्यक्तमूर्तिमान्।
मरीचिमिश्राः पतयः प्रजानां चान्यभागशः ॥' (वि० पु० १।२२।२४)

अर्थात्—वे अव्यक्तस्वरूप भगवान् अपने एक अंश से ब्रह्मा होते हैं, दूसरे अंश से मरीचि आदि प्रजापति होते हैं, तीसरे अंश से काल होते हैं और चौथे अंश से सभी भूतों में अन्तर्यामी रूप से स्थित होते हैं।

परमात्मा के द्वारा जगत् की स्थिति (पालन) का स्वरूप—जिस प्रकार जल क्षेत्र के एकदेश में रहनेवाले सस्यादि के भीतर प्रवेश करके, उनका जीवनाधार बन जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी 'सच्चत्यच्चाभवत्' इस श्रुति के अनुसार जड़-चेतनात्मक जगत् की सृष्टि करके—'हन्ताहम् इमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनु-प्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६।३।२)। 'अरे! मैं इन पृथिवी, जल एवं तेज रूपी तीनों देवताओं के भीतर इस जीवात्मा के साथ स्वयम् अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके इनके नाम एवं रूप का विभाग करूँ।' इस श्रुति के अनुसार अपने सत्य-संकल्प के द्वारा सम्पूर्ण जगत् के भीतर अन्तर्यामी रूप से प्रवेश करके उन सृष्ट सभी वस्तुओं की सभी प्रकार से रक्षा करता है, यह परमात्मा का जगत्पालनकर्तृत्व है।

परमात्मा द्वारा जगत् का चार प्रकार से पालन—'येन जातानि जीवन्ति' इस श्रुति के अनुसार परमात्मा सृष्ट जगत् का पालन करते हैं। पालन का कार्य परमात्मा चार प्रकार से करते हैं—१. स्वयं विष्णु रूप से अवस्थित रहकर; २. मनु, वाल्मीकि, पराशर तथा शौनक आदि महर्षियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित होकर, उनके द्वारा सन्मार्ग पर प्रवर्तित करने वाले शास्त्रों का निर्माण करवाकर श्रीभगवान् जीवों का पालन करने का कार्य करते हैं; ३. काल के अन्तर्यामी रूप से रहकर भी परमात्मा जीवों की रक्षा करते हैं तथा ४. विभिन्न माता-पिता, मित्र आदि रक्षकों के अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहकर परमात्मा तत्-तत् जीवों की रक्षा करने का कार्य उनके माध्यम से सम्पादित करवाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी प्रकार से होने वाली रक्षाओं के कारण श्रीभगवान् ही हैं। महर्षि पराशर भी कहते हैं—

'एकांशेन स्थितो विष्णुः करोति परिपालनम्।
मन्वादिरूपश्चान्येन कालरूपोऽपरेण च॥
सर्वभूतेषु चान्येन संस्थितः कुरुते स्थितिम्।
सत्त्वगुणं समाश्रित्य जगतः पुरुषोत्तमः॥'

(वि० पु० १।२२।२६-२७)

अर्थात् अपने एक अंश से विष्णु रहकर ही वे जीवों का पालन करते हैं, दूसरे अंश से वे मनु आदि का रूप धारण करते हैं, तीसरे अंश से वे काल रूप होकर जगत् की रक्षा करते हैं तथा चौथे अंश से सभी भूतों में अवस्थित रहकर सत्त्वगुण को आश्रित करके श्रीपुरुषोत्तम जगत् की रक्षा करते हैं।

परमात्मकृत जगत् के संहार का अभिप्राय—

'विचित्रा देहसम्पत्तिरीश्वराय निवेदितुम्।
पूर्वमेव कृता राजन्! हस्तपादादि संयुता॥'

अर्थात् हे राजन्! परमात्मा को निवेदित करने के लिए मैंने पहले ही हाथ, पैर आदि अवयवों वाली विचित्र देह रूपी सम्पत्ति जीवों को प्रदान की है। इस सूक्ति के अनुसार परमात्मा का समाश्रयण करके अपने जीवन का उन्नयन करने के लिए परमात्मा के द्वारा प्रदत्त इन्द्रियों को परमात्मा की उपासना में विनियुक्त न करके देहादि में आत्माभिमान के कारण, जीवों के विषय-प्रावण्य को देखकर परमात्मा उनकी इन्द्रियों का उसी प्रकार निग्रह करता है, जिस प्रकार किसी उन्मार्गगामी पुत्र का सुधार करने के लिए पिता उसे बेड़ियों में जकड़ देता है। परमात्मा के द्वारा जीवों के इन्द्रियादि के निग्रह को ही संहार कहते हैं।

परमात्मा द्वारा किये जाने वाले संहार के चार प्रकार—जब परमात्मा संहार-कर्म में प्रवृत्त होते हैं तो वे उस प्रकार के निर्दय कर्म करने के लिए उपयोगी तमोगुण से युक्त होकर संहारकर्त्ताओं में प्रधान रुद्र के अन्तर्यामी रूप से, रुद्र के पश्चात् अवान्तर संहारकर्ता यम तथा अग्नि आदि के अन्तर्यामी रूप से, संहार-कर्म के सहकारी काल के अन्तर्यामी रूप से तथा परस्पर में नाशक जीवों के अन्तर्यामी रूप से संहार-

कार्य को सम्पादित करते हैं । इस प्रकार रुद्र, अग्नि, यम, काल तथा परस्पर में एक-दूसरे के नाशक जीवों के अन्तर्यामी होकर परमात्मा ही जगत् के संहार का कार्य सम्पादित करते हैं । महर्षि पराशर कहते हैं—

'आश्रित्य तमसोवृत्तिमन्तकाले तथा प्रभुः ।
रुद्रस्वरूपो भगवानेकांशेन भवत्यजः ॥
अग्न्यन्तकादिरूपेण भागेनान्येन वर्तते ।
कालस्वरूपो भागोऽन्यः सर्वभूतानि चापरः ॥
विनाशं कुर्वतस्तस्य चतुर्द्धैव महात्मनः ।
विभागकल्पना ब्रह्मन् ! कथ्यते सार्वकालिकी ॥

(वि० पु० १।२२।२८-३०)

अर्थात् अन्तकाल में अजन्मा वे परमात्मा तमोगुण की वृत्ति को अपना कर एक अंश से रुद्र-रूप, दूसरे अंश से अग्नि-अन्तकादि-रूप, तीसरे अंश से काल-रूप और चौथे अंश से सम्पूर्ण भूत-स्वरूप हो जाते हैं । हे ब्रह्मन् ! विनाश करने के लिए उन महात्मा की यह चार प्रकार की सार्वकालिकी विभाग-कल्पना कही जाती है ।

ईश्वरस्य पञ्चप्रकाराः

एवम्प्रकार ईश्वरः परव्यूहविभवान्तर्याम्यर्चावतार रूपेण पञ्चप्रकारः ।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार के ईश्वर के पाँच रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार ।

भा० प्र०—विशिष्टाद्वैत दर्शन में अर्थपञ्चक-विज्ञान का बड़ा ही महत्त्व है । उस अर्थपञ्चक-विज्ञान के अनुसार ईश्वर के पाँच रूप हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार । श्रीभगवान् अपने इन पाँच रूपों का वर्णन करते हुए पाञ्चरात्रागम में कहते हैं—

'मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः ।
परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम् ॥
अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः ।
इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः ॥'

अर्थात् वेदान्तों के जानकारों ने मेरे प्रकारों को इस प्रकार बतलाया है—पर, व्यूह, विभव, सभी शरीरधारियों के नियामक-रूप से अन्तर्यामी तथा पुरुषाकार एवं दयालु अर्चावतार । इस प्रकार रहस्यों के जानकारों ने मुझे पाँच प्रकार का बतलाया है ।

ईश्वरस्य पररूपस्य वर्णनम्

तत्र परो नाम त्रिपाद्विभूतौ कुमुदकुमुदाक्षपुण्डरीकवामनशङ्कुकर्णसर्प-(वं)नेत्रसुमुखसुप्रतिष्ठितादिभिर्दिव्यायुधभूषणपरिजनपरिच्छदान्वितैर्दिव्य-नगरपालकैः परिरक्षिते श्रीमद्वैकुण्ठाख्ये पुरे चण्डप्रचण्डभद्रसुभद्रजयविजय-

धातृविधातृप्रभृतिभिर्द्वारपालकैरुपेते श्रीमद्दिव्यालये श्रीमहामणिमण्डपे धर्माद्यष्टपादविरचितसिंहासने शेषपर्यङ्कचतुर्भुजदिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टः श्रीभूनीलादिसहितः शङ्खचक्रादिदिव्यायुधोपेतः किरीटादिदिव्यभूषणभूषितः अनन्तगरुडविष्वक्सेनादिभिर्नित्यैस्सामगानपरैरन्यैर्मुक्तैश्चानुभूयमानो ज्ञानशक्त्याद्यनन्तकल्याणगुणगणविशिष्टः परब्रह्मपरवासुदेवादिशब्दवाच्यो नारायणः ।

अनुवाद—पर-रूप से श्रीभगवान् त्रिपाद्विभूति में दिव्य आयुध, भूषण, परिजन तथा परिच्छद से युक्त कुमुद, कुमुदाक्ष, पुण्डरीक, वामन, शंकुकर्ण, सर्पनेत्र, सुमुख तथा सुप्रतिष्ठित आदि नगरपालकों द्वारा सुरक्षित श्रीवैकुण्ठ नामक नगर में, चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, जय, विजय, धाता, विधाता आदि द्वारपालकों से युक्त ऐश्वर्य-सम्पन्न दिव्य आलय के श्रीमहामणिमण्डप में धर्म आदि आठ पादों से विनिर्मित सिंहासन के ऊपर शेषशय्या पर, चतुर्भुज दिव्यमङ्गल विग्रह से युक्त होकर, श्रीदेवी, भूदेवी तथा नीलादेवी के साथ शंख-चक्र आदि दिव्य आयुधों से समलङ्कृत होकर, किरीट आदि दिव्य भूषणों से भूषित, सामगान करने में तत्पर अनन्त, गरुड़ तथा विष्वक्सेन आदि नित्यजीवों एवं दूसरे मुक्तजीवों के द्वारा किये जाने वाले ज्ञान, शक्ति आदि अनन्त कल्याणकारी गुणसमूहों से विशिष्ट रहकर भगवान् नारायण परब्रह्म, परवासुदेव आदि शब्दों से अभिहित किये जाते हैं ।

ईश्वर के पर-रूप का वर्णन

भा० प्र०—पर-रूप से भगवान् त्रिपाद्विभूति में विराजमान रहते हैं । ये दिव्य-मङ्गलविग्रह से विशिष्ट रहते हैं । श्रीवैकुण्ठ नामक दिव्य निलय में ये श्रीदेवी, भूदेवी एवं नीलादेवी से सुसेवित रहते हैं । त्रिपाद्विभूतिस्थ श्रीभगवान् का नित्य-मुक्त जीव सेवन किया करते हैं । श्रीभगवान् परवासुदेव, परब्रह्म तथा नारायण इत्यादि शब्दों से अभिहित किये जाते हैं । परवासुदेव भगवान् का वर्णन करते हुए पाञ्चरात्र में कहा गया है—

'वैकुण्ठे तु परे लोके श्रीसहायो जनार्दनः ।
उभाभ्यां भूमिनीलाभ्यां पार्श्वद्वयसुशोभितः ॥'

अर्थात् परमपद श्रीवैकुण्ठलोक में श्रीभगवान् लक्ष्मीजी के साथ विद्यमान रहते हैं । उनके दोनों बगल में भूदेवी तथा नीलादेवी, ये दो देवियाँ विराजमान रहती हैं । भगवान् परवासुदेव का वर्णन करते हुए श्रीवात्स्य वरदाचार्य कहते हैं—

'उद्यद्भानुसहस्रभास्वरपरव्योमास्मदं निर्मल-
ज्ञानानन्दघनस्वरूपममलज्ञानादिभिः षड्गुणैः ।
जुष्टं सूरिजनाधिपं धृतरथाङ्गाब्जं सुभूषोज्ज्वलम्
श्रीभूसेव्यमनन्तभोगिनिलयं श्रीवासुदेवं भजे ॥'

उदीयमान सहस्रों सूर्यों से भी अधिक देदीप्यमान परमव्योम ही जिनका निवास स्थान है, निर्गल ज्ञान एवं आनन्द के मूर्तस्वरूप, निर्दोष ज्ञान आदि (ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज) छह गुणों से युक्त, दिव्यसूरियों के स्वामी, हाथों में चक्रादि दिव्य आयुधों को धारण करने वाले, सुन्दर भूषणों से भूषित, श्रीदेवी, भूदेवी आदि पटरानियों से सुसेवित, अनन्ताख्य शेष की फणाओं की छाया तले रहने वाले श्रीपरवासुदेव की मैं सेवा करता हूँ।

श्रीपराशरीय धर्मशास्त्र के उत्तरखण्ड में भी कहा गया है—

'एवं वैकुण्ठनाथोऽसौ राजते परमे पदे।
सेव्यमानः सदा नित्यैर्मुक्तैर्भोगपरायणैः॥'

(पराशरीयधर्मशास्त्र उ० ख० ६।४६)

उपर्युक्त प्रकारवाले वैकुण्ठनाथ परमपद में विराजमान रहते हैं। वे सदा भोग-परायण नित्य-मुक्तजीवों से सेव्यमान हैं।

ईश्वरस्य व्यूहरूपस्य वर्णनम्

व्यूहो नाम, पर एवोपासनार्थं जगत्सृष्टयाद्यर्थं च वासुदेवसङ्कर्षण-प्रद्युम्नानिरुद्धभेदेन चतुर्धाऽवस्थितः। तत्र षाड्गुण्यपरिपूर्णो वासुदेवः। ज्ञानबलाभ्यां सङ्कर्षणः। ऐश्वर्यवीर्याभ्यां प्रद्युम्नः। शक्तितेजोभ्यामनिरुद्ध इति गुणविभागः। एतेषु चतुर्षु प्रत्येकं त्रयस्त्रयोऽवतीर्णाः केशवादयो व्यूहान्तराणि द्वादश द्वादशमासानां द्वादशादित्यानाञ्चाधिदेवतानि। ऊर्ध्व-पुण्ड्रेषु च तेषामवस्थापनं विधीयते। तत्र कनकप्रभः केशवश्चतुश्चक्रधरः। श्यामो नारायणश्चतुश्शङ्खधरः। मणिप्रभाऽऽभो माधवश्चतुर्गदः। चन्द्राभो गोविन्दश्चतुश्शार्ङ्गः। पद्मकिञ्जल्कसन्निभो विष्णुश्चतुर्हलः। अब्जाभो मधुसूदनश्चतुर्मुसलः। अग्निवर्णस्त्रिविक्रमश्चतुःखड्गः। बालसूर्याभो वामन-श्चतुर्वज्रधरः। पुण्डरीकाभः श्रीधरश्चतुःपट्टीसधरः। तडित्प्रभो हृषीकेश-श्चतुर्मुद्गरधरः। सूर्याभः पद्मनाभः पञ्चायुधधरः। इन्द्रगोपनिभो दामोदर-श्चतुष्पाशधरः।

अनुवाद—परवासुदेव ही उपासना तथा सृष्टि आदि कार्यों के लिए जो वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध इन चार-रूपों को धारण कर लेते हैं, उसे ही श्रीभगवान् का व्यूह रूप कहा जाता है। उनमें वासुदेव षाड्गुण्य से परिपूर्ण रहते हैं। संकर्षण ज्ञान एवं बल से परिपूर्ण रहते हैं। प्रद्युम्न ऐश्वर्य एवं वीर्य से परिपूर्ण रहते हैं। अनिरुद्ध शक्ति एवं तेज से परिपूर्ण रहते हैं। इस प्रकार से भगवान् के गुणों का विभाग किया जाता है। इस प्रकार इन प्रत्येक चारों में तीन-तीन अवतीर्ण होकर केशवादि व्यूहान्तरों की संख्या द्वादश होती है। ये बारहों व्यूहान्तर द्वादश मासों तथा द्वादश आदित्यों के अधिष्ठातृ देवता होते हैं। धारण किये जाने वाले द्वादश ऊर्ध्वपुण्ड्रों

में उनकी स्थापना की जाती है। उनमें केशव स्वर्ण के सदृश कान्तिवाले तथा चार चक्र धारण करने वाले हैं। नारायण श्याम वर्ण के तथा चार शंख धारण करने वाले हैं। मणि के समान प्रभावाले माधव चार गदाओं को धारण करते हैं। चन्द्रमा के समान कान्तिवाले गोविन्द चार शार्ङ्ग धारण करते हैं। पद्मपराग के सदृश कान्तिवाले विष्णु चार हल धारण करते हैं। कमल के समान कान्तिवाले मधुसूदन चार मुसल धारण करते हैं। अग्नि के समान कान्तिवाले त्रिविक्रम चार खड्ग धारण करते हैं। बालसूर्य के समान कान्तिवाले वामन चार वज्र धारण करते हैं। पुण्डरीक के समान कान्तिवाले श्रीधर चार पट्टीस धारण करते हैं। विद्युत् के समान प्रभावाले हृषीकेश चार मुद्गर धारण करते हैं। सूर्य के समान आभावाले पद्मनाभ पञ्चायुध (शंख, चक्र, गदा, कृपाण एवं धनुष्) धारण करते हैं। इन्द्रगोप के समान प्रभावाले दामोदर चार पाश धारण करते हैं।

ईश्वर के व्यूह-रूप का वर्णन

भा० प्र०—व्यूह-रूप में परवासुदेव ही चार रूपों को धारण कर लेते हैं—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। व्यूहों की संख्या के विषय में मतभेद है। कुछ लोग तीन ही व्यूह को मानते हैं। वे लोग वासुदेव को व्यूह के अन्तर्गत नहीं मानते हैं, क्योंकि व्यूह-रूप में भी वासुदेव षाड्गुण्य से परिपूर्ण रहते हैं। किञ्च संकर्षणादि तीन व्यूह-रूपों में षाड्गुण्य का विभाग होता है। अतएव चार व्यूहों को स्वीकार नहीं करके वे तीन व्यूहों को ही स्वीकारते हैं।

व्यूह-रूपों का प्रयोजन—यतीन्द्रमतदीपिकाकार श्रीभगवान् के व्यूह-रूप में अवतीर्ण होने के दो प्रयोजनों का निर्देश करते हैं—उपासकों पर अनुग्रह तथा सृष्टि, स्थिति एवं संहार-क्रिया का सम्पादन। तत्त्वत्रयकार लोकाचार्य व्यूह-रूप धारण करने का तीसरा प्रयोजन बतलाते हैं—संसारी जीवों का संरक्षण। तथाहि—'व्यूहो नाम सृष्टिस्थितिसंहारार्थं संसारिसंरक्षणार्थम् उपासकानुग्रहार्थं च सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धरूपेणावस्थानम्' (तत्त्वत्रयम् ३।३६)। इससे स्पष्ट है कि लोकाचार्य भी तीन ही व्यूहों को मानते हैं। पाञ्चरात्र की विश्वामित्रसंहिता में कहा गया है—

'वासुदेवात् ततो जज्ञे सङ्कर्षणसमाह्वयः।
तस्मात् प्रद्युम्नसम्भूतिरनिरुद्धस्ततोऽभवत्॥
एते सर्वे चैकवक्त्राः चतुर्बाहुसमन्विताः॥'

(विश्वामित्रसंहिता ४।१५-१६)

अर्थात् तदनन्तर वासुदेव से भगवान् संकर्षण नाम से उत्पन्न हुए, उनसे प्रद्युम्न की उत्पत्ति हुई और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुए। श्रीभगवान् के ये सभी रूप एक मुख वाले एवं चार भुजाओं वाले हैं। भगवत्-शास्त्र में भगवान् के व्यूह-रूपों के प्रयोजन का निर्देश करते हुए कहा गया है कि—

'उपासकानुग्रहार्थं जगतो रक्षणाय च।
आविरासीद् भगवतः पञ्चायुधपरिष्कृतः॥

सोऽयं सङ्कर्षणाख्योऽभूत् तदेकान्तवपुर्धरः।
रुक्माभः सोऽयममलः सर्वशास्त्रेषु शब्दितः॥
सोऽयं प्रद्युम्ननामाऽभूत् तदेकान्तवपुर्धरः।
इन्द्रनीलप्रतीकाश एष शास्त्रेषु शब्दितः॥
ततो नाम्नाऽनिरुद्धोऽयं स्वयमेवाऽभवन् मुने।
तदेकान्तवपुर्युक्तः तादात्विकघनप्रभः॥'

अर्थात् उपासकों पर कृपा करने के लिए तथा जगत् की रक्षा करने के लिए पञ्चायुधधारी जो भगवान् का रूप आविर्भूत हुआ, वही संकर्षण के नाम से प्रख्यात हुआ। भगवान् का वह रूप सुवर्ण के समान स्वच्छ, पीत वर्ण वाला सभी शास्त्रों में बतलाया गया है। उनसे ही प्रद्युम्न नामक भगवान् का रूप आविर्भूत हुआ, जिसे शास्त्रों में इन्द्रनीलमणि के समान कान्तिवाला बतलाया गया है। उनसे स्वयं भगवान् अनिरुद्ध नाम से आविर्भूत हुए और उनकी कान्ति तत्कालीन मेघ के समान हुई।

वासुदेव-रूप का वर्णन—यतीन्द्रमतदीपिकाकार चार व्यूहों को स्वीकारते हुए कहते हैं—**तत्र षाड्गुण्यपरिपूर्ण० इत्यादि**—अर्थात् भगवान् का जो वासुदेव व्यूह-रूप होता है, उसमें उनके ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य एवं तेज—ये छह गुण आविर्भूत स्वरूप रहते हैं। इनका अनुभव नित्य-मुक्तजीव ही कर पाते हैं।

संकर्षण-रूप का वर्णन—भगवान् के संकर्षण-रूप में उनके ज्ञान और बल ये दो गुण उद्रिक्त रहते हैं। इसके अतिरिक्त उनके अन्य चार गुण अभिभूत रहते हैं। भगवान् के संकर्षण-रूप का वर्णन करते हुए विष्वक्सेनसंहिता में कहा गया है कि—

'तत्र ज्ञानबलद्वन्द्वाद्रूपं सङ्कर्षणं हरेः।
बलज्ञानगुणौ तस्य स्फुटौ कार्यवशान्मुने॥
सोऽयं समस्तजीवानामधिष्ठातलया स्थितः।
जीवतत्त्वमधिष्ठाय प्रकृतेस्तु विविच्य तत्॥'

अर्थात् श्रीभगवान् के उन छह गुणों में-से ज्ञान और बल से परिपूर्ण भगवान् संकर्षण का रूप होता है। हे मुने! कार्यवशात् संकर्षण-रूप में श्रीभगवान् के ज्ञान और बल, ये दो गुण स्फुट रहते हैं। संकर्षण-रूप से भगवान् समस्त जीवों के अधिष्ठाता-रूप से विद्यमान रहते हैं। जीवतत्त्व को अधिष्ठित करके उसे प्रकृति से विविक्त करते हैं।

विश्वामित्रसंहिता में आगे कहा गया है कि—

'विवेकानन्तरं देवः प्रद्युम्नत्वमवाप सः।
शास्त्रप्रवर्तनञ्चापि संहारञ्चैव देहिनाम्।
बलेन हरतीदं स गुणेन निखिलं मुने॥'

प्रकृति से पुरुष को अलग करके भगवान् संकर्षण प्रद्युम्न-रूप को धारण कर

लिए। भगवान् संकर्षण ही शास्त्रों का प्रवर्तन तथा शरीरधारियों का विनाश करते हैं। हे मुने ! ये बल नामक गुण के द्वारा सम्पूर्ण जगत् का संहार करते हैं।

प्रद्युम्न-रूप का वर्णन—करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—**ऐश्वर्य-वीर्याभ्याम् इत्यादि**—अर्थात् भगवान् के प्रद्युम्न-रूप में उनके ऐश्वर्य एवं वीर्य ये दो गुण उद्रिक्त होते हैं। इस रूप से वे मनस्तत्त्व के अधिष्ठाता होते हैं। इस रूप से भगवान् धर्म का उपदेश तथा मनु-चतुष्टय आदि शुद्ध वर्ग की सृष्टि करते हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए विष्वक्सेनसंहिता में कहा गया है कि—

'ऐश्वर्यवीर्यसम्भेदाद्रूपं प्रद्युम्नमुच्यते।
मनसोऽयमधिष्ठाता मनोमय इतीरितः॥
ऐश्वर्येण गुणेनासौ सृजते तच्चराचरम्।
वीर्येण सर्वधर्मान् प्रवर्तयति सर्वशः॥
मनूनां सर्गमकरोत् मुखबाहूरुपादतः।
चतुर्णां ब्राह्मणादीनां सर्गद्वारं जगत्पतिः॥
द्विजयुग्मं क्षत्रयुग्मं वैश्ययुग्मं तथैव च।
मिथुनश्च चतुर्थस्य एतन्मनुचतुष्टयम्॥'

ऐश्वर्य एवं वीर्य नामक गुण के उद्रिक्त होने के कारण भगवान् का यह रूप प्रद्युम्न कहलाता है। मनस्तत्त्व का अधिष्ठाना होने के कारण भगवान् का यह रूप मनोमय कहलाता है। भगवान् प्रद्युम्न अपने ऐश्वर्य नामक गुण के द्वारा चराचर की सृष्टि करते हैं। वीर्य नामक गुण के द्वारा ये सभी धर्मों को प्रवर्तित करते हैं। इन्होंने मुख, बाहु, उरु और पाद के द्वारा ब्राह्मण आदि चार मनुओं की सृष्टि की, जो सृष्टि के द्वार हैं। ब्राह्मण युगल, क्षत्रिय युगल, वैश्य युगल तथा शूद्र युगल ही मनु-चतुष्टय कहलाते हैं।

अनिरुद्ध-रूप का वर्णन—करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—'**शक्ति-तेजोभ्याम् इत्यादि**—अर्थात् भगवान् के अनिरुद्ध-रूप में उनके शक्ति एवं तेज नामक दो गुण आविर्भूत रहते हैं। अनिरुद्ध-रूप से भगवान् जगत् की रक्षा करते हैं। इसी रूप से वे तत्त्वज्ञान-प्रदान, कालसृष्टि तथा मिश्रसृष्टि का निर्वाह करते हैं। पराशरीय धर्मशास्त्र के उत्तरखण्ड में कहा गया है—

'जगत् सृष्टिस्थितिलयान् कुर्वतो गुणभेदतः।
ऐश्वर्यवीर्यवान् सर्वे प्रद्युम्नं प्रत्यपद्यत॥
तेजः शक्तिः समाविश्य ह्यनिरुद्धोऽप्यपालयत्।
ज्ञानवान् बलवान् लोकान् ग्रसत् सङ्कर्षणोऽव्ययः॥'

(पराशरीय-धर्मशास्त्र उ० ख० ६।६९-७०)

अर्थात् भगवान् तत्-तत् रूपों में होने वाले गुणों के भेद से जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने का कार्य करते हैं। वे अपने ऐश्वर्य एवं वीर्य सम्पन्न प्रद्युम्न-रूप से जगत् को उत्पन्न करते हैं। तेज तथा शक्ति सम्पन्न अनिरुद्ध-रूप से वे जगत् का पालन

करते हैं। ज्ञान एवं बल सम्पन्न अपने संकर्षण-रूप से जगत् का संहार का कार्य करते हैं।

द्वादश व्यूहान्तरों का निरूपण—चार व्यूहों में-से प्रत्येक से तीन-तीन व्यूहान्तरों का आविर्भाव होता है। केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ और दामोदर, ये द्वादश भगवान् के व्यूहान्तर-रूप कहे जाते हैं। ये क्रमशः बारह महीनों तथा बारह आदित्यों के अधिष्ठातृ देवता होते हैं (पीछे द्वादश आदित्यों के नाम बतलाए जा चुके हैं)। इन द्वादश व्यूहान्तरों का स्थान श्रीवैष्णवों के द्वारा धारण किये जाने वाले द्वादश ऊर्ध्वपुण्ड्रों में होता है। इन द्वादश व्यूहान्तरों के स्वरूप का निरूपण यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने मूल में यहाँ विस्तृत रूप से किया है।

ईश्वरस्य विभवरूपस्य वर्णनम्

विभवो नाम तत्तत्सजातीयरूपेणाविर्भावः। स प्रसिद्धिप्राधान्येन दशधा। ते च मत्स्यकूर्मादयोऽवतारविशेषाः। तत्र वेदापहारिदैत्यनिरासपूर्वकं ब्रह्मणे वेदप्रमाणप्रदानार्थमवतीर्णो मत्स्यावतारः। देवानामजरामरणहेतुभूतामृतोत्पादनमन्दराधारत्वेनावतीर्णः कूर्मावतारः। संसारसागरनिमग्नजनोद्धरणकामः (भूम्युद्धरणार्थं) स्वमहिषीमुद्धर्तुमवतीर्णो वराहावतारः। आश्रितरक्षणार्थं महासुरगृहस्तम्भोद्भूतो नरसिंहावतारः। त्रिविक्रमो भूत्वा स्वपादारविन्दोद्भवेन जलेन जगत्पापापहरणेन जगद्रक्षणार्थमवतीर्णो वामनावतारः। दुष्टक्षत्रियनिरसनार्थमवतीर्णः परशुरामावतारः। शरणागतरक्षणधर्मसंस्थापनार्थमवतीर्णो (श्रीरामः) (रामचन्द्रः) रामावतारः। प्रलम्बादिनिरसनार्थमवतीर्णो बलभद्रावतारः। मोक्षोपायप्रदानार्थमवतीर्णः (श्रीकृष्णः) कृष्णावतारः। अधर्मिष्ठान्निरस्य पूर्णधर्मप्रवर्तनार्थ(थंकलिनिर्मोचनार्थ)मवतीर्णः कल्क्यवतारः। एवं दशावतारेष्वप्येकैकावतारोऽनन्तप्रकारः। पद्मनाभादयोऽपि षट्त्रिंशदवताराः सन्ति। पुनर्दधिभक्तहयग्रीवनरनारायणादयोऽपि। एवमेते मुख्यगौणपूर्णांशावेशाख्यावान्तरभेदेन बहुप्रकाराः। तेषूपास्यानुपास्यविभागो द्रष्टव्यः। अवतारा णामिच्छैव हेतुः। न तु कर्म। प्रयोजनं तु दुष्टनिरासपूर्वकसाधुपरित्राणमेव।

अनुवाद—विभव-रूप में भगवान् देव-मनुष्यादि के सजातीय रूप से अवतीर्ण होते हैं। श्रीभगवान् के प्रसिद्ध तथा प्रधान दश विभव-रूप हैं। ये सभी भगवान् के मत्स्य, कूर्म आदि अवतार-विशेष हैं। वेदों का अपहरण करने वाले दैत्य हिरण्याक्ष का वध करके ब्रह्मा को वेद रूपी प्रमाण (शास्त्र) प्रदान करने के लिए भगवान् मत्स्यावतार के रूप में अवतीर्ण हुए। देवताओं को अजर-अमर बनाने के लिए अमृत

उत्पन्न करने के लिए मन्दराचल पर्वत के आधार-रूप से अवतीर्ण होने वाला भगवान् का कूर्मावतार है। संसारसागर में डूबते हुए जीवों का उद्धार करने के लिए तथा अपनी पत्नी भूदेवी का उद्धार करने के लिए अवतीर्ण होने वाला भगवान् का वराहावतार है। अपने आश्रित (प्रह्लाद) की रक्षा करने के लिए महाराक्षस (हिरण्यकशिपु) के घर के स्तम्भ से उत्पन्न भगवान् का नरसिंहावतार है। त्रिविक्रम होकर भगवान् अपने चरणारविन्द से उत्पन्न जल के द्वारा संसार का पाप विनष्ट करके संसार की रक्षा करने के लिए अवतीर्ण श्रीभगवान् का वामनावतार है। दुष्ट क्षत्रियों का विनाश करने के लिए होने वाला भगवान् का परशुरामावतार है। शरणागत जीवों की रक्षा रूपी धर्म की संस्थापना हेतु होने वाला भगवान् का अवतार श्रीरामावतार है। प्रलम्ब आदि राक्षसों का विनाश करने के लिए होने वाला भगवान् का अवतार बलरामावतार है। मोक्ष के उपाय का ज्ञान प्रदान करने हेतु होने वाला भगवान् का अवतार श्रीकृष्णावतार है। अधार्मिकों का विनाश करके पूर्ण धर्म को प्रवर्तित करने के लिए होने वाला भगवान् का अवतार कल्की अवतार है। इन दस अवतारों में-से प्रत्येक अवतार अनन्त प्रकार के हैं। भगवान् के पद्मनाभ आदि भी छत्तीस अवतार हैं तथा दधिभक्त, हयग्रीव एवं नर-नारायण आदि भगवान् के अवतार हैं। इस प्रकार से भगवान् के अवतार के—मुख्यावतार, गौणावतार, पूर्णावतार तथा आवेशावतार आदि अनेक भेद हैं। इन अवतारों के दो भेद किये जाते हैं—उपास्यावतार तथा अनुपास्यावतार। भगवान् अपनी इच्छा से ही तत्-तत् अवतारों को धारण करते हैं, उनके अवतार कर्म-प्रेरित नहीं होते हैं। अवतारों का प्रयोजन दुष्टों का निरासपूर्वक सज्जनों की सुरक्षा ही हैं।

ईश्वर के विभव-रूपों का वर्णन

भा० प्र०—श्रीभगवान् के विभवावतारों की संख्या अनन्त है। फिर भी उन अवतारों को दो भागों में विभक्त किया जाता है—मुख्यावतार एवं गौणावतार। भगवान् का मनुष्यादिकों के सजातीय रूप से अवतीर्ण होने को उनका विभवावतार कहा जाता है। भगवान् के साक्षात् अवतार मुख्यावतार कहे जाते हैं और उनके आवेशावतारों को गौण अवतार कहा जाता है। राम-कृष्ण आदि के रूप में होने वाले अवतार भगवान् के साक्षात् अवतार हैं। अतएव ये अवतार मुख्यावतार हैं और श्रीपरशुराम आदि में शक्ति का आवेश होने से ये अवतार आवेशावतार हैं।

जिस प्रकार भगवान् अपनी इच्छा से ही राम-कृष्ण आदि मनुष्य रूप से, मत्स्य, कूर्म, वाराह आदि तिर्यक् रूप से अवतरित होते हैं, उसी प्रकार शक्ति आदि के आवेश से होने वाले गौणावतार भी अपनी इच्छा मात्र से भगवान् धारण करते हैं। श्रीभगवान् का गौणावतार भी स्वाभाविक ही है।

जिस प्रकार किसी प्रदीप से जलाया गया दूसरा प्रदीप अपने कारणभूत प्रदीप के समान स्वभाव से युक्त होता है, उसी प्रकार गौण एवं मुख्य, इन दो भेदों से युक्त

भगवान् के अवतार भी मुमुक्षु जीवों के द्वारा भगवान् के ही समान उपास्य होते हैं, क्योंकि ये अवतार भी दिव्य विग्रह, ऐश्वर्य एवं स्वभाव आदि से युक्त होते हैं।

केवल नित्य-मुक्त जीवों द्वारा ही अनुभव किये जाने योग्य होने से परवासुदेव को नित्योदित कहा जाता है तथा व्यूहमूर्ति वासुदेव शान्तोदित कहे जाते हैं। विष्वक्सेनसंहिता में श्रीभगवान् के छत्तीस विभवावतार बतलाए गये हैं।

भगवान् के अवतारों के प्रयोजन को बतलाते हुए कहा गया है कि भगवान् दुष्टों का निरास तथा सज्जनों की सुरक्षा करने हेतु अवतार ग्रहण करते हैं। गीता में भगवान् के अवतार ग्रहण का प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥'

अर्थात् सज्जनों की सुरक्षा करने के लिए, दुष्टों का विनाश करने के लिए तथा धर्म की संस्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युगों में अवतार ग्रहण करता हूँ। इन सभी अवतार के प्रयोजनों में सज्जनों का परित्राण ही मुख्य प्रयोजन है। धर्मसंस्थापन तथा दुष्टों का विनाश तो सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् श्रीवैकुण्ठलोक में रहकर अपने सत्यसंकल्पमात्र से भी कर सकते हैं, किन्तु सज्जनों की सुरक्षा का कार्य वैकुण्ठलोक में रहकर नहीं किया जा सकता है। जो जीव दीर्घकाल से निरन्तर निरन्तराय इसीलिए तपस्या करते हैं कि मैं श्रीभगवान् के दिव्यमङ्गलमय विग्रह को देख सकूँ। उनको अपने पुत्र-रूप में प्राप्त कर सकूँ तो ऐसे सज्जनों की सुरक्षा तो भगवान् अपने अवतार को ग्रहण करके ही कर सकते हैं। अतएव अवतार-ग्रहण का मुख्य प्रयोजन है—सज्जन-परित्राण।

ईश्वरस्य अन्तर्यामिरूपस्य वर्णनम्

अन्तर्यामित्वं नाम स्वर्गनरकाद्यनुभवदशायामपि जीवात्मनः सुहृत्त्वेन योगिभिर्द्रष्टव्यतया हृदयप्रदेशावस्थितरूपम्। जीवेन साकं विद्यमानोऽपि तद्गतदोषैरसंस्पृष्टो वर्तते।

अनुवाद—जीवों द्वारा स्वर्ग, नरक आदि के अनुभव की दशा में भी जीवात्मा के मित्र रूप से योगियों द्वारा देखे जाने योग्य रूप से जीवों के हृदय-प्रदेश में रहने वाला जो भगवान् का रूप है, वही अन्तर्यामी कहलाता है। जीव के साथ रहने पर भी जीव के दोषों से परमात्मा के इस रूप का संस्पर्श नहीं होता है।

ईश्वर के अन्तर्यामी-रूप का वर्णन

भा० प्र०—अन्तर्यामी रूप का वर्णन करते हुए भगवान् स्वयं गीता में कहते हैं—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति।' अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर सभी जीवों के हृदय में अन्तर्यामी-रूप से सदा विद्यमान रहता है। श्रीभगवान् अन्तर्यामी-रूप से जीव के साथ सर्वदा रहा करते हैं। वे कभी भी जीव का साथ नहीं छोड़ते हैं। जीव के स्वर्गादि सुखों के अनुभव तथा नारकीय दुःखादि के अनुभव-काल में भी वे उनके

साथ सदा बने ही रहते हैं। वे जीवों के हृदय-प्रदेश में सदा विद्यमान रहते हैं। यहाँ पर कोई कह सकता है कि यदि भगवान् अन्तर्यामी-रूप से सर्वदा उसके साथ विद्यमान रहते हैं तो वे जीवों के द्वारा सुख-दुःखादि का अनुभव करते समय स्वयं भी सुखादि का अनुभव करते होंगे? तो इस शंका का समाधान करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि जीवों के साथ सदा रहते हुए भी अन्तर्यामी भगवान् जीवों के दोषों से उसी प्रकार असंस्पृष्ट रहते हैं, जिस प्रकार जीवात्मा सदा शरीर के साथ रहकर भी शरीर के दोषों से असंस्पृष्ट रहता है। परमात्मा के इस अन्तर्यामी-रूप का वर्णन करती हुई श्रुति कहती है—'य आत्मानमन्तरो यमयति स ते आत्मान्तर्याम्यमृतः' (शतपथब्राह्मण १४।५।३०)। अर्थात् जो परमात्मा आत्मा के भीतर रहकर उसका नियमन करता है, वही तुम्हारी आत्मा अमृत अन्तर्यामी है। 'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै० आ० ३।११।३) श्रुति कहती है कि आत्मा सभी जीवों के भीतर प्रवेश करके नियमन करने के कारण सबों की आत्मा है।

परमात्मा के इस अन्तर्यामी-रूप का ही योगिजन साधनसप्तकानुगृहीत अन्तःकरण के हो जाने पर अष्टाङ्गयोग के क्रम से निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में पहुँच कर तैलधारावदविच्छिन्नस्मृति-सन्तान के द्वारा क्रमशः विशद, विशदतर, विशदतम तथा अन्ततः यथावत् रूप से साक्षात्कार करते हैं।

ईश्वरस्य अर्चावताररूपस्य वर्णनम्

अर्चावतारो नाम देशकालविप्रकर्षरहित आश्रिताभिमतद्रव्यादिकं शरीरतया स्वीकृत्य तस्मिन्नप्राकृतशरीरविशिष्टस्सन्नर्चकपराधीनस्नानभोजनासनशयनस्थितिः सर्वसहिष्णुः परिपूर्णो गृहग्रामनगरप्रशस्तदेशशैलादिषु वर्तमानो मूर्तिविशेषः। स च स्वयंव्यक्तदैवसैद्धमानुषभेदाच्चतुर्विधः। एवमुक्तासु पञ्चावस्थास्वपि श्रीविशिष्ट एव भगवान् वर्तत इति श्रुत्यादिप्रमाणसिद्धोऽर्थः। एतेनैकायनोक्तनिः श्रीकवादनिरासः। एवमीश्वरो निरूपितः।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषाया-मीश्वरनिरूपणं नाम नवमोऽवतारः।

अनुवाद—देशविप्रकर्ष तथा कालविप्रकर्ष आदि का त्याग करके आश्रित जीवों के अनुकूल द्रव्य आदि को शरीर रूप से स्वीकार करके, उसी में दिव्य शरीर से युक्त होकर अर्चक के पराधीन स्नान, भोजन, आसन, शयन तथा स्थिति करने वाले सब कुछ सहने के स्वभाव वाले, परिपूर्ण गृह, ग्राम, नगर, प्रशस्त देश तथा पर्वत आदि पर रहने वाले श्रीभगवान् के मूर्तिविशेष को अर्चावतार कहते हैं। अर्चावतार के

चार भेद हैं—स्वयम्, व्यक्त, दैव, सैद्ध तथा मानुष। इस प्रकार से वर्णित पाँचो अवस्थाओं में भगवान् श्रीलक्ष्मीजी के साथ ही रहते हैं। इस अर्थ का प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं। इस प्रतिपादन से एकायन (मध्व) के द्वारा प्रोक्त नि.श्रीकवाद का निरास हो गया। इस प्रकार ईश्वर का निरूपण किया गया।

भगवान् का सुलभतम रूप अर्चावतार

भा० प्र०—सहस्रगीति के प्रणेता श्रीशठकोपसूरि ने 'तमं रुहन् ददेव्वुरुवम्' इस गाथा में कहा है कि भक्तों की इच्छा के ही अनुसार श्रीभगवान् अपना रूप बना लेते हैं। इस सूक्ति के अनुसार भगवान् अपने आश्रित जीवों का कल्याण करने के लिए अर्चावतार नामक रूप ग्रहण कर लेते हैं। श्रीभगवान् के इस रूप का माहात्म्य बतलाते हुए कृष्णपादसूरि आचार्य-हृदय नामक सूत्रग्रन्थ में कहते हैं—'सौलभ्यसीमाभूमिरर्चावतारः।' अर्थात् श्रीभगवान् अर्चावतार रूप को धारण कर अपनी सुलभता की सीमा की पराकाष्ठा का स्पर्श कर लेते हैं। पररूप में देश विप्रकर्ष बना रहता है। उस रूप का अनुभव श्रीवैकुण्ठलोकवासी नित्यमुक्त-जीव ही कर सकते हैं। हम जैसे जीवों के लिए श्रीभगवान् का वह रूप अनुभाव्य नहीं है। व्यूहरूप भी देवताओं के ही द्वारा अनुभाव्य है, सामान्य जीवों के द्वारा नहीं। विप्रकृष्ट देश में विद्यमान उस रूप का साक्षात्कार हम लोग नहीं कर सकते हैं। विभवावतार में श्रीभगवान् अपने देश विप्रकर्ष को त्याग कर इस मानवी मेदिनी को अवश्य पावित करते हैं, किन्तु सभी जीव श्रीभगवान् के उस रूप का अनुभव नहीं कर सकते हैं। अयोध्या, मथुरा आदि पावन देशों में रहने वाले ही श्रीभगवान् के श्रीराम, कृष्ण आदि रूपों का साक्षात्कार कर सके। किञ्च त्रेता, द्वापर आदि युगों में श्रीरामावतार, श्रीकृष्णावतार के समय में शरीर धारण करने वाले जीव ही श्रीभगवान् के उस रूप का दर्शन कर सकें। श्रीभगवान् का अन्तर्यामी-रूप यद्यपि सर्वदेश, सर्वकाल तथा सर्वावस्था में विद्यमान रहता है, किन्तु उस रूप का साक्षात्कार हम जैसे जीवों के लिए कहाँ सम्भव है? श्रीभगवान् के अन्तर्यामी-रूप का साक्षात्कार तो विवेक-विमोकादि साधनसप्तक से संस्कृत मन। वाले अष्टाङ्गयोग की प्रक्रिया से निर्विकल्पक समाधि की अवस्था में पहुँचकर कोई साधनलीन योगी ही क्रमशः विशद, विशदतर, विशदतम, अन्ततः यथावत् रूप से कर सकता है। अस्मदादि पाप-परायण साधन-विहीन विषय-प्रावण्य मन वालों के लिए श्रीभगवान् का अन्तर्यामी-रूप भी सुलभ नहीं है। किन्तु श्रीभगवान् का अर्चावतार-रूप अपनी सुलभता की पराकाष्ठा को छू लेता है।

'वैकुण्ठे तु परे लोके श्रिया सार्द्धं जगत्पतिः।
आस्ते विष्णुरचिन्त्यात्मा भक्तैर्भागवतैः सह ॥'

इस सूक्ति के अनुसार श्रीदेवी, भूदेवी तथा नीलादेवी जैसी मनःकान्ताओं के साथ नित्य-मुक्त जीवों के द्वारा परमपद वैकुण्ठलोक में सर्वदा सेवा किये जाने वाले

श्रीभगवान् हम अनादिकाल से स्वभावप्राप्त भगवदनुसंधानपराङ्मुख जीवों को अपनाने के लिए ही उस वैकुण्ठलोक को त्याग कर अर्चावतार जैसे रूप को धारण कर लेते हैं। श्रीभगवान् का यह रूप हम लोगों के लिए देश और काल के विप्रकर्ष से रहित है। इस रूप में श्रीभगवान् भक्त जैसा चाहता है, उसके अनुकूल ही द्रव्य-मय अपना शरीर बना लेते हैं। श्रीभगवान् की वे मूर्तियाँ भी दिव्यमङ्गलविग्रह रूप होती हैं। 'एहि आश्मानमातिष्ठ आश्मा भवतु ते तनुः।' अर्थात् हे भगवन् ! आप आएँ, इस आश्मा (पत्थर की मूर्ति) में प्रवेश करें, यह आश्मा ही आपका दिव्य मङ्गलविग्रह बन जाय। प्रतिष्ठा के पश्चात् भक्त के द्वारा की जाने वाली इस श्रौत प्रार्थना को सुनकर श्रीभगवान् अपने दिव्यमंगलमय विग्रह को मूर्ति-रूप ही बना लेते हैं। अर्चावतार में भगवान् अपने जगन्नियन्तृत्व नामक गुण को छोड़कर स्वयम् अर्चक-परतन्त्र हो जाते हैं। अर्चक की ही इच्छा के अनुसार स्नान, भोजन, शय्या आदि स्वीकार करते हैं। इस रूप में श्रीभगवान् अपने भक्तों द्वारा प्रमादादिवश हुए सभी अपराधों को सहन करते हैं। इस रूप में भी श्रीभगवान् षाड्गुण्य से परिपूर्ण रहते हैं। वे भक्तों के मनोनुकूल ही गृहों, ग्रामों, नगरों तथा श्रेष्ठ वेङ्कटाद्रि, यादवाद्रि, करिगिरि, वानाद्रि आदि पर्वतों पर तत्-तत् रूपों को धारण कर निवास करते हैं तथा अपने सभी भक्तों को श्रीरङ्गनाथ, वेङ्कटेश, वरदराज, सम्पत्कुमार आदि मूर्तियों के रूप में दर्शन दिया करते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् का अर्चावतार रूप सुलभता की पराकाष्ठा है।

भगवान् के अर्चावतार-रूपों को चार भागों में विभक्त किया जाता है—स्वयम्-व्यक्त, दैव, सैद्ध एवं मानुष। विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार सम्पूर्ण भारतवर्ष में अष्टोत्तरशत ऐसे अर्चावतार-स्थल हैं, जो दिव्यदेश के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इन दिव्यदेशों का श्रीसम्पदाय के प्रवर्तक दश दिव्यसूरियों में कोई न कोई अथवा सभी दिव्यसूरियों ने मङ्गलानुशासन किया है।

भगवान् अपने उपरिवर्णित पाँचों अवस्थाओं में श्रीदेवी के साथ ही रहा करते हैं। अतएव श्रीविशिष्ट श्रीभगवान् ही सभी जीवों के परमप्राप्य हैं। मध्वाचार्य ने केवल विष्णु को ही जीवों के लिए प्राप्य बतलाया है, श्रीविशिष्ट भगवान् की ही प्राप्यता श्रुतियाँ बतलाती हैं, अतएव उनका निश्श्रीकवाद अमान्य ठहरता है।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन् महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा का ईश्वर-निरूपण नामक नवाँ अवतार पूर्ण हुआ।

अथ दशमोऽवतारः

अद्रव्यलक्षणं तद्भेदाश्च

एवं द्रव्यनिरूपणानन्तरं क्रमप्राप्तसद्रव्यं निरूप्यते। संयोगरहित-मद्रव्यम्। तदद्रव्यं च सत्त्वरजस्तमांसि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्संयोगश्शक्ति-रिति दशप्रकारमेव।

अनुवाद—उपर्युक्त प्रकार से द्रव्य के निरूपण के पश्चात् अद्रव्य का निरूपण किया जा रहा है। संयोगरहित पदार्थ अद्रव्य कहलाता है। वह अद्रव्य दश प्रकार का होता है—सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग एवं शक्ति।

भा० प्र०—ऊपर के चतुर्थ अवतार से लेकर नवम अवतार-पर्यन्त द्रव्यों का निरूपण किया जा चुका है। इस दशवें अवतार में अद्रव्य का निरूपण किया जा रहा है। अद्रव्य-सामान्य का लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—

अद्रव्य-सामान्य का लक्षण—'संयोगरहितमद्रव्यम्' अर्थात् जो पदार्थ संयोग से रहित होता है, उसे अद्रव्य कहते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जो पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से संयुक्त नहीं होता तथा जिससे किसी दूसरे पदार्थ का संयोग नहीं होता है, वह अद्रव्य कहलाता है।

अद्रव्यों की संख्या—इस प्रकार के अद्रव्य अनन्त हैं। प्रलयकाल में प्रतिक्षण सदृश अवस्थाओं की सन्तति होती रहती है तथा सृष्टिकाल में प्रतिक्षण उसमें विसदृश अवस्थाओं की संतति होती रहती है। इस प्रकार काल में भी क्षणत्व, लवत्व से लेकर परार्ध-पर्यन्त प्रतिक्षण अवस्थाएँ होती रहती हैं। बुद्धि में भी प्रत्यक्षत्व, अनुमितित्व, शब्दत्व आदि अवस्थाएँ होती रहती हैं, इसी प्रकार शुद्धसत्त्व में भी अवस्थाएँ होती रहती हैं। ये सभी अवस्थाएँ अद्रव्य हैं। इनके प्रकारों और भेदों की गणना बिलकुल असंभव है। इन अवस्था रूपी अद्रव्यों को ही दृष्टिपथ में रखकर श्रीवरदविष्णुमिश्र ने कहा—'गुणाश्चानन्ताः' अर्थात् गुण अनन्त होते हैं। इस प्रकार अवस्था-रूप अद्रव्य अनन्त हैं। इनमें परस्पर भेद भी अनन्त हैं। उन सबों का निरूपण असंभव है। अतएव जिन अद्रव्यों का परिगणन किया जा सकता है, उनकी संख्या बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा कि अद्रव्य दश प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रजस्, तमस्, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, संयोग और शक्ति—ये दश अद्रव्यों के नाम हैं।

सत्त्वरजस्तमसां विवेचनम्

तत्र प्रकाशसुखलाघवादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं सत्त्वम्। तद्द्विविधम्—शुद्धसत्त्वं मिश्रसत्त्वं चेति। रजस्तमश्शून्यद्रव्य-

वृत्तिसत्त्वं शुद्धसत्त्वम्। तन्नित्यविभूतौ। उपचारात्तत्प्रवर्तकेश्वरे च। रजस्तमस्सहवर्तिसत्त्वं मिश्रसत्त्वम्। तत्त्रिगुणे तत्सम्बन्धिनि जीवे चोपचारात्। रागतृष्णालोभप्रवृत्त्यादिनिदानमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्त-मद्रव्यं रजः। प्रमादमोहादिनिमित्तमतीन्द्रियं शक्त्याद्यतिरिक्तमद्रव्यं तमः। त्रीण्यप्येतानि यावत्प्रकृतिव्याप्तानि; प्रकृतिवश्यपुरुषसम्बद्धान्यनि-त्यानि, नित्यसन्तानानि, प्रलयदशायां समानि, सृष्टयादौ विषमाणि, सृष्टि-स्थितिसंहारोपयुक्तानि, ईश्वरसङ्कल्पादिसहकारिभेदात्परस्पराभिभवोद्भ-वकराणीत्येतानि साधारणानि। सत्त्वगुणस्तु सम्यज्ज्ञानरूपसुखादिहेतु-र्मोक्षप्रदश्च। रजोगुणस्तु रागाद्यात्मकः कर्मसङ्गी दुःखादिहेतुः स्वर्गाद्या-मुष्मिकप्रदश्च। तमोगुणस्तु अज्ञानरूपालस्यादिहेतुर्नरकप्रदश्च। अतस्सत्त्वा-दयो गुणा न द्रव्यरूपाः।

अनुवाद—उन दशों द्रव्यों में जो प्रकाश, सुख एवं लाघव का कारण हो, अतीन्द्रिय हो तथा शक्ति से भिन्न हो, उस अद्रव्य को सत्त्व कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है—शुद्धसत्त्व एवं मिश्रसत्त्व। रजोगुण एवं तमोगुण से रहित द्रव्य में रहने वाला सत्त्व शुद्धसत्त्व है। वह नित्यविभूति में रहता है। औपचारिक रूप से यह नित्यविभूति के प्रवर्तक ईश्वर में भी पाया जाता है। रजोगुण एवं तमोगुण के साथ रहने वाला सत्त्व मिश्रसत्त्व कहलाता है। यह मिश्रसत्त्व प्रकृति में तथा प्रकृति-विशिष्ट जीव में भी उपचार के कारण पाया जाता है।

राग, तृष्णा, लोभ तथा प्रवृत्ति आदि का कारणभूत, अतीन्द्रिय तथा शक्ति से जो भिन्न अद्रव्य होता है, वह रजस् कहलाता है। प्रमाद, मोह आदि का जो कारण हो, उस शक्ति आदि से अतिरिक्त अतीन्द्रिय अद्रव्य को तमस् कहते हैं। ये तीनों (सत्त्व, रजस् एवं तमस्) सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त हैं। प्रकृति परतन्त्र पुरुष से ये संबद्ध रहते हैं तथा अनित्य हैं। इनका सन्तान हमेशा उत्पन्न होता रहता है। इनका प्रलयकाल में सदृश सन्तान उत्पन्न होता रहता है, सृष्टि आदि कालों में इनके विस-दृश सन्तान होते हैं। ये सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय के लिए उपयोगी होते हैं। ये ईश्वर-संकल्प आदि सहकारियों को प्राप्त करके परस्पर में प्रत्येक अपने से भिन्नों को अभि-भूत करके उद्रिक्त हुआ करते हैं। ये प्रकृति तथा सभी प्राकृत द्रव्यों में पाए जाते हैं।

सत्त्वगुण तो सम्यग् ज्ञान-रूप सुख आदि का कारण तथा मोक्ष प्रदान करने वाला है। किन्तु रजोगुण रागादि-रूप कर्मों में प्रवृत्त करने वाला दुःख आदि का कारण तथा स्वर्ग आदि परलोकों को प्रदान करने वाला होता है। तमोगुण तो अज्ञान-रूप आलस्य आदि का कारण तथा नरक प्रदान करने वाला होता है। इस प्रकार सत्त्व आदि गुण हैं, द्रव्य नहीं।

सत्त्वगुण का लक्षण

भा० प्र०—इससे पहले के अनुच्छेद में कहा गया है कि अद्रव्यों की संख्या दश हैं। उनमें सर्वप्रथम अद्रव्य सत्त्व को बतलाया गया है। उस सत्त्व का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि सत्त्व वह अद्रव्य है, जो प्रकाश, सुख एवं लाघव का कारण होता है। यह शक्ति से भिन्न होते हुए भी अतीन्द्रिय अद्रव्य है। सत्त्वगुण को प्रकाश, सुख एवं लाघव का निदान बतलाकर उसका रजोगुण एवं तमोगुण से भेद सूचित किया गया है। शब्दादि से उसकी भिन्नता बतलाने के लिए अतीन्द्रिय विशेषण दिया गया है। शक्ति तथा अतीन्द्रिय संयोग से उसकी भिन्नता बतलाने के लिए सत्त्व को शक्ति से अतिरिक्त बतलाया गया है।

सत्त्व के दो भेद—को बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा कि उसके शुद्धसत्त्व और मिश्रसत्त्व ये दो भेद होते हैं।

(१) **शुद्धसत्त्व**—वह है, जो रजोगुण एवं तमोगुण रहित द्रव्य में पाया जाता है। यह शुद्धसत्त्व नित्यविभूति में पाया जाता है, क्योंकि नित्यविभूति रजोगुण एवं तमोगुण रहित द्रव्य है। उस नित्यविभूति के प्रवर्तक ईश्वर हैं, अतएव ईश्वर में भी शुद्धसत्त्व पाया जाता है।

(२) **मिश्रसत्त्व**—रजोगुण एवं तमोगुण का सहवर्ती होता है। प्रकृति एवं प्राकृतिक पदार्थों में मिश्रसत्त्व पाया जाता है। प्रकृति एवं प्राकृतिक द्रव्य रजोगुण, तमोगुण एवं सत्त्वगुण, इन तीनों गुणों से युक्त रहते हैं। यह सत्त्व प्रकृति से संबन्ध रखनेवाले बद्ध जीवों में भी पाया जाता है। जीव का गुण सत्त्व नहीं है, किन्तु प्रकृति से संबन्ध होने के कारण मिश्रसत्त्व का सांसारिक जीवों से संबन्ध है। अतएव जीव के साथ मिश्रसत्त्व का संबन्ध औपचारिक है।

रजोगुण का लक्षण—बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि यह राग, तृष्णा, लोभ तथा प्रवृत्ति का कारण होता है तथा शक्ति आदि से भिन्न होते हुए भी अतीन्द्रिय अद्रव्य है। लक्षण में प्रथम वृत्ति विशेषण का प्रयोग तमोगुण तथा सत्त्व-गुण में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए किया गया है। अतीन्द्रिय विशेषण का प्रयोजन शब्दादि में अतिव्याप्ति के वारण के लिए है। शक्त्याद्यतिरिक्तत्व विशेषण का प्रयोजन शक्ति तथा अतीन्द्रिय-संयोग में लक्षण की अतिव्याप्ति के वारण के लिए है। यहाँ पर आदि पद से अतीन्द्रिय-संयोग का ही कथन अभिप्रेत है।

तमोगुण का लक्षण—बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि जो प्रमाद तथा मोह आदि का हेतु तथा शक्ति आदि (संयोग) से भिन्न होते हुए अतीन्द्रिय हो, उस अद्रव्य को तमस् कहते हैं। यहाँ भी लक्षण के प्रथम विशेषण का प्रयोजन रजोगुण तथा सत्त्वगुण में लक्षण की अतिव्याप्ति का वारण, द्वितीय अतिन्द्रिय विशेषण का प्रयोजन शब्दादि में अतिव्याप्ति का वारण तथा तृतीय शक्त्याद्यतिरिक्तत्व विशेषण का प्रयोजन संयोग एवं शक्ति में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए हैं।

तीनों गुणों की प्रकृति में व्यापकता

त्रीण्यप्येतानि० इत्यादि—ये तीनों—सत्त्व, रजस् एवं तमस् सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त है, इन सबों का प्रकृतिवश्य अर्थात् सांसारिक पुरुष से संबन्ध बना रहता है तथा ये तीनों अनित्य हैं, किन्तु इनका सन्तान धारा के समान सदा प्रवाहित होता रहता है। इन सबों के सन्तान दो प्रकार से प्रवाहित होते हैं—सदृश सन्तान तथा विसदृश सन्तान। प्रलयदशा में इन सबों के सदृश सन्तान प्रवाहित होते हैं और सृष्टि आदि के समय इनके विसदृश सन्तान प्रवाहित होते हैं। इन तीनों अद्रव्यों में-से सृष्टि में रजोगुण उपयुक्त होता है, स्थितिकाल में सत्त्वगुण उपयुक्त होता है तथा तमोगुण संहारकाल में उपयुक्त होता है।

ईश्वरसङ्कल्प० इत्यादि—ये गुण ईश्वर के संकल्प आदि सहकारी कारणों को पाकर परस्पर में एक-दूसरे को अभिभूत करनेवाले, बढानेवाले तथा उत्पन्न करनेवाले बन जाते हैं, क्योंकि विभिन्न अदृष्टों से संपन्न, विभिन्न पुरुषों में किसी में किसी गुण का आविर्भाव तथा साम्यावस्था में अवस्था नहीं दिखती है। लोक में भी देखा जाता है कि एक ही सुन्दरी अपने पति को सुख देती है, अपने सपत्नीजनों (सौतों) को दुःख देती है तथा अन्य कामुक पुरुषों में अज्ञान को उत्पन्न करती है। क्योंकि उस सुन्दरी को देखकर उसके पति में सत्त्वगुण उद्रिक्त होता है तथा रजोगुण एवं तमो-गुण अभिभूत हो जाते हैं। उस सुन्दरी को देखने से उसके सपत्नीजनों में रजोगुण उद्रिक्त हो जाता है तथा तमोगुण एवं सत्त्वगुण अभिभूत हो जाते हैं। इसी प्रकार उस सुन्दरी को देखकर अन्य कामुक जनों में तमोगुण का उद्रेक होता है तथा उनके सत्त्व-गुण एवं रजोगुण अभिभूत हो जाते हैं। उस सुन्दरी को देखकर भी जितेन्द्रिय पुरुष में किसी भी प्रकार का भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए महर्षि पराशर कहते हैं—

'वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च।
कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः ॥'

अर्थात् एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न पुरुषों में, दुःख, सुख एवं ईर्ष्या के उत्पन्न होने का कारण बन जाती है, अतएव कैसे कहा जा सकता हैं कि अमुक वस्तु दुःखात्मक, सुखात्मक अथवा मोहात्मक है। वे आगे कहते हैं कि—

'तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते।
तदेव कोपाय च यतः प्रसादाय च जायते।
तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चित्सुखात्मकम् ॥'

अर्थात् यह भी देखा जाता है कि एक ही वस्तु किसी समय में सुख देती है और किसी समय में दुःख। उसी से कभी क्रोध होता है तो कभी प्रसन्नता होती है। अतएव कोई भी वस्तु न तो दुःखद हैं और न तो सुखद।

गीता के चौदहवें अध्याय से स्पष्ट है कि सत्त्वगुण सम्यग् ज्ञान-रूप सुख का कारण है तथा मोक्षप्रद है। रजोगुण रागात्मक होता है तथा कर्मों में प्रवृत्त करके स्वाश्रय जीव में दुःखादि को उत्पन्न करता है। तमोगुण अज्ञान-रूप आलस्य को उत्पन्न करता है तथा नरकप्रद होता है। इस प्रकार सिद्ध होता है कि सत्त्व आदि गुण हैं, द्रव्य नहीं।

सत्त्वादि के अद्रव्यत्व की सिद्धि—सत्त्व, रजस् एवं तमस् के अद्रव्यत्व का स्पष्ट वर्णन श्रीभाष्य में उपलब्ध होता है। 'रचनानुपपत्तेश्च' (शा० मी० २।२।१) इत्यादि सूत्र में चकार का अर्थ करते समय कहा गया है कि सूत्रकार चकार से सांख्योक्त प्रधान के साधक अन्वयहेतु को लेकर प्रवृत्त होनेवाले अनुमान में व्यभिचार-दोष का समुच्चय करते हैं। सांख्यमतावलम्बी अन्वयहेतु के द्वारा प्रधान का अनुमान करते हुए कहते हैं कि, जिस प्रकार कार्य घटादि में अनुवृत्त होनेवाली मृत्तिका घटादि कार्य का कारण है, उसी प्रकार कार्य जगत् में सत्त्वरजस्तमोमय सुख, दुःख, मोह आदि भी अनुवृत्त होते हैं। अतएव अनुवर्तित होनेवाले सुख-दुःख-मोहात्मक सत्त्वरजस्तमस् जगत् के कारण हैं। सत्त्व, रजस् एवं तमस् का संघात ही प्रकृति है। इस प्रकार सांख्य अन्वित पदार्थ को हेतु मानकर, अन्वयहेतु से प्रधान का अनुमान करते हैं। उनका यह अन्वयहेतु व्यभिचार-दोष से दूषित होने के कारण हेत्वाभास हैं, क्योंकि गोव्यक्तियों में अनुवृत्त गोत्व गोव्यक्तियों का कारण नहीं होता है। गोव्यक्तियों के प्रति कारण न बनने वाली गोत्व जाति में अन्वयहेतु के विद्यमान रहने से व्यभिचार-दोष होता है। गोत्व अनुवर्तमान होने पर भी द्रव्य न होने से कारण नहीं बनते हैं, किन्तु सत्त्व, रजस् एवं तमस् अनुवर्तमान होते हुए द्रव्य हैं, अतएव इनको कारण मानने में कोई भी दोष नहीं है।

सांख्यों के इस कथन का खण्डन करते हुए उक्त सूत्र के श्रीभाष्य में कहा गया है कि सत्त्व, रजस् एवं तमस् द्रव्य के धर्म हैं, स्वयं द्रव्य नहीं हैं। सत्त्व इत्यादि गुण पृथिवी इत्यादि में होनेवाले लघुत्व एवं प्रकाश इत्यादि के कारण हैं तथा पृथिवी इत्यादि के स्वाभाविक धर्म हैं। जिस प्रकार मृत्तिका एवं सुवर्ण इत्यादि द्रव्य होकर कार्यभूत घट-कुण्डलादि में अनुवर्तमान प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार सत्त्वादि गुण द्रव्य होकर कार्य में अनुवर्तमान प्रतीत नहीं होते, किञ्च सत्त्वादि के गुणत्व की ही प्रसिद्धि है।

शब्दनिरूपणम्

अस्मदादिश्रोत्रग्राह्यः पञ्चभूतवर्ती शब्दः। स च द्विविधः—वर्णात्मको-ऽवर्णात्मकश्चेति। अकचटतपयादिपञ्चाशदक्षरात्मको वर्णात्मकः। स देव-मनुष्यादिताल्वादिव्यङ्ग्यः। भेर्यादिजन्योऽवर्णात्मकः। एवम्भूतश्शब्दः श्रोत्रेन्द्रियेण गृह्यते। श्रोत्रेन्द्रियगमनाद्वा व्यञ्जकवाय्वागमनाद्वाशब्दग्रहः।

ननु श्रुत्या शब्दस्य द्रव्यत्वं प्रतीयते, अद्रव्यत्वं कथमिति चेन्न। अकारादेः प्रणवोत्पादकत्वं वाच्यद्वारा सम्भवतीति परिहारादद्रव्यत्वमुपपद्यते।

अनुवाद—हम लोगों के श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिसका ग्रहण होता है, उसको शब्द कहते हैं। यह पाँचो भूतों में धर्मरूप से पाया जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है—१. वर्णात्मिक और अवर्णात्मक। अ-क-च-ट-त-प-य आदि पचास अक्षरों में-से कोई अक्षर जिसमें पाया जाता है, वह वर्णात्मिक शब्द है। वर्णात्मिक शब्द की देवताओं तथा मनुष्यों के तालु आदि स्थानों से अभिव्यक्ति होती है। भेरी आदि से उत्पन्न होने वाला शब्द अवर्णात्मिक होता है। इन दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। शब्द के ग्रहण में या तो श्रोत्रेन्द्रिय शब्द तक जाती है अथवा वाय्वात्मक शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक जाता है। प्रश्न उठता है कि श्रुति के अनुसार शब्द द्रव्य प्रतीत होता है, अतएव उसको अद्रव्य कैसे कहा जा सकता है? तो यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अकार आदि प्रणव के उत्पादक वाच्य द्वारा होते हैं, इस समाधान के द्वारा शब्द के अद्रव्यत्व की सिद्धि होती है।

शब्द का निरूपण

भा० प्र०—शब्द नामक अद्रव्य को लक्षित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि हम लोगों की श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा जिसका ग्रहण होता है, वह शब्द नामक अद्रव्य है। यह शब्द पाँचों भूतों में पाया जाता है। शब्द दो प्रकार का होता है—वर्णात्मिक और अवर्णात्मक। इनमें वर्णात्मिक शब्द वह होता है, जिसमें अ, क, च, ट, त, प, य आदि वर्णों का समुदाय पाया जाये। वर्णात्मिक शब्द उपर्युक्त प्रकार के वर्णों में-से कुछ वर्णों का समुदाय रूप होता है। वर्णात्मिक शब्दों मे पाए जाने वाले वर्णों की संख्या पचास हैं। वर्णों की संख्या के विषय में विवाद है, कुछ लोग तिरपन वर्ण मानते हैं, कुछ लोग बावन कुछ उनचास और कुछ पचास। वर्णों का रूप इस प्रकार है—

वर्णों की संख्या—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः, क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ, ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ब, भ, म, य, र, ल, व, श, ष, स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ,। इस प्रकार वर्णों की संख्या तिरपन होती है। कुछ लोग कहते है कि क्ष, त्र, और ज्ञ ये तीन वर्ण स्वतंत्र नही है, अपितु दो-दो वर्णों के मोल से बनते हैं। अतएव वर्णों की संख्या पचास हो जाती है। कुछ लोग ऌ तथा ॡ को नहीं मानते हैं, अतएव वर्णों की संख्या एक्यावन हो जाती हैं। कुछ लोग उपर्युक्त वर्णों में-से केवल ॡ वर्ण को नहीं मानते हैं। अतएव वर्णों की संख्या बावन हो जाती है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार वर्णों की संख्या पचास मानते हैं।

वर्णात्मिक शब्द देवता एवं मनुष्यों आदि के तालु आदि उच्चारण स्थानों से अभिव्यक्त होते हैं।

अवर्णात्मक शब्द भेरी आदि से उत्पन्न होते हैं।

शब्द के श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व के प्रकार का निरूपण—दोनों प्रकार के शब्दों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा होता है। शब्द के श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व के विषय में दो प्रकार के मत हैं—१. वायु आदि से अभिव्यक्त होकर श्रोत्रप्रदेश में पहुँचा हुआ शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय शब्दस्थान में पहुँचकर शब्द का ग्रहण नहीं करती है, क्योंकि वह बाहर जाती ही नहीं है। शब्द ही श्रोत्रेन्द्रिय प्रदेश तक आता है, तब श्रोत्रेन्द्रिय उसका ग्रहण करती है। इस पक्ष के अनुसार शब्द आकाश में ही रहता है, इसी का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। इस पक्ष में यह दोष है कि भेरी इत्यादि के अवयवों के शब्दगुण को लेकर श्रोत्र के समीप में आना असंभव है। अतः आकाशस्थ शब्द का ही ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा हो सकता है।

शब्द के श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्व के विषय में दूसके प्रकार के विचारक कहते हैं कि—वाद्य इत्यादि में विद्यमान शब्द वहाँ रहते समय, वहाँ पहुँची हुई श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा गृहीत होते हैं। इस पक्ष में पञ्चभूतों में विद्यमान होने पर भी शब्द श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहीत होता है। दूरस्थ शब्द के ग्रहण में श्रोत्रेन्द्रिय का उस शब्द के सन्निकट में पहुँचना कारण है। विशिष्टाद्वैतवादियों को दूसरे प्रकार का ही श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा शब्द का ग्रहण अभिप्रेत है।

शब्द के अद्रव्यत्व का प्रतिपादन—पूर्वपक्षी की शंका का अनुवाद करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—**ननु श्रुत्या० इत्यादि**। अर्थात् विशिष्टाद्वैती शब्द को ताल्वादिव्यंग्य तथा अद्रव्य मानते हैं। उनकी इस मान्यता का विरोध करते हुए पूर्व-पक्षी कहते हैं कि श्रुत्यादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि शब्द द्रव्य है तथा कार्य है। क्योंकि—

'यद् वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः॥'

यह श्रुति बतलाती है कि वेद के प्रारम्भ में जो प्रणव-रूप स्वर कहा गया है, जो प्रणव वेदान्तों में भी प्रतिष्ठित है, वह वेद कारण प्रणव अपनी प्रकृति अकार में लीन हो जाता है। उस प्रणव की प्रकृतिभूत अकार का वाच्य जो अर्थ है, वही महेश्वर है। इस श्रुति से स्पष्ट है कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का उपादान कारण होता है। शब्द को यदि अद्रव्य माना जाय तो फिर वह उपादान कारण नहीं बन सकता है। यदि उक्त श्रुति का तात्पर्य यह माना जाय कि एक वर्ण दूसरे वर्ण का निमित्त कारण होता है, उपादानकारण नहीं तो फिर श्रुति के उपादान का वाचक प्रकृति शब्द तथा लय के प्रतिपादक लीन शब्द में अस्वारस्य होगा; क्योंकि निमित्तकारण को न तो प्रकृति कहा जा सकता है और न तो कार्य का निमित्तकारण में लय ही संभव है। यहाँ पर निमित्तकारण के अर्थ में प्रकृति शब्द को तथा सम्बन्ध-सामान्य के अर्थ में लीन शब्द को लाक्षणिक भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि मुख्यार्थ का बाध हुए बिना किसी शब्द की लक्षणा किसी अर्थ में हो नहीं सकती है। वेदार्थसंग्रह

में श्रीभाष्यकार भी कहते हैं—'सर्वस्य वेदजातस्य प्रकृतिः प्रणवः। प्रणवस्य प्रकृतिरकारः। प्रणवविकारो वेदः स्वप्रकृतिभूते प्रणवे लीनः। प्रणवोऽप्यकारविकारः स्वप्रकृतावकारे लीनः। तस्य प्रणवप्रकृतिभूताकारस्य यः परोवाच्यः स एव महेश्वर इति। सर्ववाचकजातप्रकृतिभूताकारवाच्यः सर्ववाच्यजातप्रकृतिभूतो नारायणो यः स महेश्वर इत्यर्थः।' अर्थात् सम्पूर्ण वेद का उपादानकारण प्रणव है। प्रणव का उपादानकारण अकार है। प्रणव का विकार वेद अपनी प्रकृति अर्थात् उपादानकारण अकार में लीन हो जाता है। प्रणव भी प्रकार का विकार होने से अपनी प्रकृति अकार में लीन हो जाता है। प्रणव के प्रकृतिभूत उस अकार का जो वाच्य अर्थ है, वह महेश्वर है। यह इस मन्त्र का अर्थ है कि सम्पूर्ण वाचक शब्दों के समूह का कारण बनने वाले अकार का वाच्य अर्थ वही नारायण है, जो सम्पूर्ण वाच्य अर्थों के समूह का कारण है। यह नारायण ही महेश्वर है। किञ्च 'यस्य वेदाः शरीरम्' अर्थात् वेद जिस परमात्मा के शरीर हैं; इत्यादि वचनों से भी शब्द के द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, क्योंकि शरीर के लक्षण से स्पष्ट है कि द्रव्य ही शरीर होता है।

किञ्च आत्मसिद्धि नामक ग्रन्थ में यह कहा गया है कि शब्द आकाश का गुण नहीं, किन्तु वायु का धर्म है। शब्द उच्चारण के अनन्तर उत्पन्न होता है। वायु आदि को शब्द का व्यञ्जक मानना दोषग्रस्त है।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि शब्द को अद्रव्य तथा व्यङ्ग्य मानना ठीक नहीं है।

इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हुए विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि श्रीभाष्यकार ने जिन युक्तियों से सत्त्व, रजस् एवं तमस् को अद्रव्य सिद्ध किया है, उन्हीं युक्तियों से शब्द भी अद्रव्य सिद्ध हो जाता है। शब्द अद्रव्य तथा आगन्तुक धर्म है। वह कालविशेष में उत्पन्न होने वाला धर्म है। आगन्तुक होने के कारण शब्द को परिणाम कहा गया है। आगन्तुक परिणामत्व को दृष्टिपथ में रखकर शब्द परिणाम कहा जा सकता है। परिणाम कहने मात्र से शब्द का द्रव्यत्व नहीं सिद्ध हो सकता है। पराशर भट्टर ने वाक्य के निरूपण के प्रसङ्ग में 'गगनगुणशब्दादि स्वरूपस्थितीः' इत्यादि वाक्य से शब्द को आकाश का गुण कहा है। उक्त वचन का अर्थ है कि आकाश का गुण जो शब्द है, उसके स्वरूप एवं स्थिति को प्रवृत्त कराने वाले भगवान् ने शब्दप्रवाह के विषय में यही संकल्प कर रखा है कि प्रत्यक्ष से अबाधित अर्थों के प्रतिपादन में शब्दों का सामर्थ्य स्वाभाविक है। इस भगवत्संकल्प के अनुसार शब्द स्वभावतः सामर्थ्य से युक्त रहते हैं। शब्द अपने स्वभाव का उल्लंघन नहीं कर सकता है। इस पंक्ति में पराशर भट्ट ने शब्द को स्पष्ट रूप से आकाश का गुण कहा है। किञ्च—'यस्य वेदाः शरीरम्' श्रुति में वेद शब्द से वेदाभिमानी देवता को ईश्वर का शरीर कहा गया है और देवता द्रव्य ही है। किञ्च—'तस्य प्रकृतिलीनस्य' श्रुति में अकार को प्रणव का उपादानकारण बतलाने का अभिप्राय यह है कि अकारा-

भिमानी देवता प्रणव का उपादानकारण है। इस प्रकार शब्द को अद्रव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

प्रश्न उठता है कि दूरस्थ अद्रव्य शब्द का श्रवण कैसे होता है ? तो इस शंका का समाधान अनेक प्रकार से होता है—१. जिस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय की वृत्ति दूर देश तक पहुँच कर दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है, उसी प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय की वृत्ति दूरदेश तक पहुँच कर दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है। २. शब्दव्यञ्जक वायु श्रोत्रदेश तक चली आती है, उस व्यञ्जक वायु के सम्बन्ध से श्रोत्रेन्द्रिय दूरदेशस्थ शब्द का ग्रहण करती है। ३. अथवा भेरी आदि के शब्दगुणविशिष्ट अवयव श्रोत्र तक आ जाते हैं। अतः दूरदेशोत्पन्न शब्द श्रोत्र के समीप तक आ जाने के कारण श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है। ४. अथवा शब्दगुणयुक्त वायु ही श्रोत्रेन्द्रिय तक आ जाता है, अतएव दूरस्थ शब्द का ग्रहण होता है। इन पांच पक्षों में-से कोई भी अभिप्रेत पक्ष स्वीकारा जा सकता है।

स्पर्शनिरूपणम्

अस्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्राह्यविजातीयव्यावृत्तोऽद्रव्यं स्पर्शः। स च त्रिविधः—शीतोष्णानुभयात्मकभेदात्। अप्सु शीतस्पर्शः। तेजस्युष्णस्पर्शः। क्षितिपवनयोरनुष्णाशीतस्पर्शः। पुनर्द्विविधः—पाकजोऽपाकजश्चेति। पृथिव्यां पूर्वः। इतरेषु त्रिषु परः। तत्रामृतगरलतूलोपलगोब्राह्मणचण्डालादिस्पर्शविशेषाः पाकजभेदाः।

अनुवाद—हम लोगों के स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य जितने पदार्थ है, उन सबों से विसजातीय जितने पदार्थ हैं, उन सबों से भिन्न जो अद्रव्य है, वह स्पर्श तीन प्रकार का होता है—शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, समशीतोष्णस्पर्श। जलों में शीतस्पर्श होता है। तेज में उष्णस्पर्श होता है। पृथिवी तथा वायु में समशीतोष्णस्पर्श होता है। पुनः स्पर्श के दो भेद किये जाते हैं—पाकज एवं अपाकज। पृथिवी में पाकजस्पर्श होता है। उससे भिन्न जल, तेज और वायु इन तीन द्रव्यों में अपाकजस्पर्श होता है। इनमें अमृत, गरल (विष), तूल, उपल, गौ, ब्राह्मण तथा चाण्डाल आदि के स्पर्श पाकजस्पर्श के भेद हैं।

स्पर्श का निरूपण

भा० प्र०—स्पर्श का लक्षण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा—'**अस्मदादिस्पर्शनेन्द्रियग्राह्य० इत्यादि**। अर्थात् जिनका ग्रहण हम लोगों की स्पर्शनेन्द्रिय से होता है, उन पदार्थों से जो विसजातीय पदार्थ हैं, उनसे भिन्न जो अद्रव्य है, वह स्पर्श है। हम लोगों की त्वगिन्द्रिय से कई स्पर्श तथा उनके आश्रय द्रव्यग्राह्य होते हैं, शब्दादि उनसे विसजातीय हैं। उन शब्दादिकों से सभी स्पर्श तथा उनके आश्रय द्रव्य भिन्न हैं। ऐसा भिन्न बना हुआ अद्रव्य स्पर्श ही है। लक्षण में अद्रव्य पद का प्रयोग घटादि में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिए हुआ है। अनुदभूत स्पर्शादि में अव्याप्ति का

वारण करने के लिए 'असमदादि स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यविजातीयव्यावृत:' पद का प्रयोग लक्षण में किया गया है।

स्पर्श के भेद—स्पर्श तीन प्रकार के होते हैं—१. शीतस्पर्श, २. उष्णस्पर्श, ३. इन दोनों से भिन्न अनुष्णाशीतस्पर्श। जल में शीतस्पर्श रहता है। तेज में उष्ण-स्पर्श रहता है तथा पृथिवी और वायु में अनुष्णाशीतस्पर्श रहता है। जल का सम्बन्ध होने पर पृथिवी तथा वायु में शीतस्पर्श प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शीतस्पर्श जल का होता है, वायु अथवा पृथिवी का नहीं। इसी प्रकार तेज का सम्बन्ध होने पर पृथिवी, जल एवं वायु उष्ण प्रतीत होते हैं। यह उष्णस्पर्श भी तेज का ही धर्म है, क्योंकि तेज का सम्बन्ध होने पर ही पृथिवी, जल एवं वायु उष्ण प्रतीत होते हैं, अन्यथा नहीं। इस प्रकार जल और वायु में उष्णता का अनुभव होते समय वायु के स्वाभाविक अनुष्णाशीतस्पर्श एवं जल के स्वाभाविक शीतस्पर्श का जो अनुभव नहीं होता है, उसका कारण जल और वायु में तेज का अनुप्रवेश ही है। रत्न की प्रभा इत्यादि स्पर्श वाले होने पर भी जो त्वगिन्द्रिय से गृहीत नहीं होते हैं, उसका कारण यही है कि उसका स्पर्श अनुद्भूत है। त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर ही वह उसके आश्रय द्रव्य का ग्रहण कर सकती है। रत्न की प्रभा के स्पर्श का ग्रहण त्वगिन्द्रिय से न होने के कारण ही त्वगिन्द्रिय रत्नप्रभा का ग्रहण नहीं करती है। सिद्धान्त में यह भी माना जाता है कि वायु तथा पृथिवी न उष्ण हैं और न शीत, अपितु ये दोनों भूत अनुष्णाशीत हैं।

स्पर्श के पुनः दो भेद स्वीकार किये जाते हैं—पाकज तथा अपाकज। विजातीय-तेजःसंयोग रूप पाक से उत्पन्न होने वाले स्पर्श को पाकजस्पर्श कहते हैं। जो स्पर्श पाक से उत्पन्न नहीं होता है, उसे अपाकजस्पर्श कहते हैं। पृथिवी में रहने वाला स्पर्श पाकजस्पर्श है और जल, तेज और वायु में रहने वाला स्पर्श अपाकजस्पर्श है। पाकजस्पर्श के ये अवान्तर भेद हैं—१. अमृत का स्पर्श, जो जीवन को प्रदान करने वाला होता है। २. विष का स्पर्श, जो मरण का हेतु बनता है। ३. तुल का स्पर्श, जो मृदु होता है। ४. पत्थर का स्पर्श, जो कठोर होता है। ५. गौ और ब्राह्मण का स्पर्श, जो पवित्रकारक होता है। ६. चाण्डाल का स्पर्श, जो अपवित्र-कारक होता है। मूल के आदि पद से संगृहीत—७. कपिकच्छु का स्पर्श, जिससे शरीर में खुजली पैदा हो जाती है।

रूपनिरूपणम्

असमदादिचक्षुरिन्द्रियैकग्राह्यविजातीयव्यावृत्तमद्रव्यं रूपम्। तच्चतुर्धा—सितरक्तपीतकृष्णभेदात्। तत्र सलिलकलधौतशङ्खशुक्तिशशाङ्कादीनां रूपविशेषास्सितभेदाः। हुतवहजपादाडिमबन्धुजीवविद्रुमपद्मरागादीनां रूपविशेषा रक्तभेदाः। काञ्चनहरितालहरिद्रादीनां रूपविशेषाः पीतभेदाः। मरकतमधुकरजलधरतिमिरतमालदूर्वादीनां रूपविशेषाः कृष्णभेदाः।

पीतिमानमपि रक्तावान्तरभेदं केचिदिच्छन्ति श्रुत्यनुसारात्। प्रकारान्तरेण रूपं द्विविधम्—भास्वराभास्वरभेदात्। तेजोगतं भास्वरम्। क्षिति-सलिलगतमभास्वरम्। एवं चत्वार्येव रूपाणि। एतेन चित्रं नाम पञ्चमं रूपमिति मतनिरासः। अत एव चित्ररसगन्धस्पर्शानामपि निरासः।

अनुवाद—हम लोगों की केवल चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत होने वाले पदार्थों से भिन्न जितने पदार्थ हैं, उनसे भिन्न बना हुआ जो अद्रव्य है, वही रूप है। रूप चार प्रकार का होता है—श्वेत, रक्त, कृष्ण (काला) और पीत (पीला)। उनमें भी जल, चांदी, शंख, शुक्ति (सीपी) तथा चन्द्रमा आदि के रूप श्वेत के अवान्तर भेद हैं। अग्नि, ओडहुल, दाडिम (अनार) बन्धुजीव (दुपहरिया का फूल), मूंगा तथा पद्मराग आदि के रूप-विशेष रक्त रूप के अवान्तर भेद हैं। सुवर्ण, हरिताल, हल्दी आदि के रूप-विशेष पीत रूप के अवान्तर भेद हैं। मरकतमणि, भ्रमर, बादल, अन्धकार, तमाल तथा दूब आदि के रूप-विशेष कृष्ण रूप के अवान्तर भेद हैं। श्रुति के अनुसार कुछ लोग पीतिमा को भी रक्तता का अवान्तर भेद मानते हैं। दूसरे प्रकार से रूप के दो भेद किये जाते हैं—भास्वर तथा अभास्वर। तेज में रहने वाला रूप भास्वर होता है। पृथिवी तथा जल में अभास्वर रूप रहता है। इस प्रकार से चार ही रूप होते हैं। अतएव चित्र नामक पाञ्चवें रूप को मानने वालों के मत का खण्डन हो गया। अतएव चित्ररस, चित्रगन्ध तथा चित्रस्पर्श को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

रूप का निरूपण

भा० प्र०—रूप का निरूपण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—**'अस्मदादिचक्षुरिन्द्रियैक० इत्यादि**—अर्थात् हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय मात्र से जिनका ग्रहण होता है, उन पदार्थों से जो भिन्न पदार्थ होते हैं, उनसे भिन्न जो अद्रव्य है, वह रूप ही है। यद्यपि हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय से सभी रूपों का ग्रहण नहीं होता है, फिर भी उनसे कई रूपों का ग्रहण होता ही है। हम लोगों की चक्षुरिन्द्रिय मात्र से गृहीत होने वाले जितने भी रूप हैं, उनसे भिन्न हैं रसादि, उन रसादि से भिन्न जितने भी अद्रव्य हैं, वे सभी अद्रव्य रूप हैं।

रूपों के भेद—रूप चार प्रकार के होते हैं—श्वेत, रक्त, कृष्ण और पीत। इन चारों रूपों के भी कई-कई अवान्तर भेद होते हैं। निदर्शनार्थ यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने इन चारों रूपों के कुछ अवान्तर भेदों का निर्देश किया है। कुछ लोग कहते हैं कि रूप तीन ही होते हैं—श्वेत, रक्त और कृष्ण। पीत भी रक्त का ही अवान्तर भेद है। श्रुतियाँ इन तीन रूपों का ही वर्णन करती हैं। छान्दोग्यश्रुति पृथिवी, जल एवं तेज, इन तीन भूतों का तीन ही रूप बतलाती हैं। किन्तु यतीन्द्रमतदीपिकाकार उपर्युक्त चार रूपों को ही मानते हैं। रूपों के दूसरे प्रकार से भी दो भेद होते हैं—भास्वर तथा अभास्वर। भास्वर रूप चमकदार होता है, अभास्वर रूप चमकदार

नहीं होता है। तेज में विद्यमान रूप भास्वर होता है, किन्तु पृथिवी और जल में रहने वाला तेज अभास्वर होता है। तेज में रक्तभास्वर रूप होता है। जल में अभास्वर शुक्ल रहता है तथा पृथिवी में अनेक प्रकार के अभास्वर रूप होते हैं। यद्यपि जल में अभास्वरशुक्ल रहता है, किन्तु पृथिवी के संसर्ग के ही कारण यमुना का जल नीला प्रतीत होता है।

चित्र-रूप का खण्डन—वैशेषिक आदि विद्वान् चित्र नामक पाँचवें प्रकार के रूप को स्वीकार करते हैं, किन्तु उनका यह मत समीचीन नहीं है। जिस प्रकार वैशेषिक आदि को यह अर्थ मान्य है कि पृथिवी पर बनाई गयी रंगबल्ली में, जो अनेक रूपों की प्रतीति होती है, वह उस रंगबल्ली के अवयवों के नाना रूपों की ही प्रतीति है, उससे अतिरिक्त उसमें चित्र नामक रूप नहीं है। इसी प्रकार उन्हें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि नाना वर्णवाले तन्तुओं से निर्मित वस्त्र में भी उन तन्तुगत नाना रूपों की ही प्रतीति होती है, उनसे भिन्न कोई पट में नया चित्र नामक वर्ण उत्पन्न नहीं होता है। अवयवगत उन नाना रूपों को वैशेषिक आदि ने माना ही है, क्योंकि वे अवयवगत नाना रूपों से ही अवयवी में चित्र-रूप की उत्पत्ति मानते हैं। यदि कहें कि अवयवगत रूपों से भिन्न अवयवी का रूप नहीं माना जाय तो फिर अवयवी का प्रत्यक्ष नहीं मानना होगा, क्योंकि रूपी द्रव्य का ही प्रत्यक्ष होता है? तो यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि सिद्धान्त में अवयवी द्रव्य स्वीकारा ही नहीं जाता है। तुष्यतुन्याय से अवयवी द्रव्य को स्वीकारा भी जाय फिर भी यही कहा जा सकता है कि वह अवयवी नाना रूपों का आश्रय होता है।

यदि यह कहा जाय कि परस्पर विरुद्ध अनेक रूप एक ही अवयवी में कैसे रह सकते है? तो इसका उत्तर है कि जिस प्रकार मूलभाग में कपिसंयोग का अभाव, अग्रभाग में कपिसंयोग का अभाव, ये दोनों एक ही वृक्ष में अवच्छेदक भेद से पाये जाते हैं। उसी प्रकार एक ही अवयवी में विभिन्न अवयव-रूपी अवच्छेदक भेद से परस्पर विरुद्ध अनेक रूप भी रह सकते हैं।

यदि यह कहें कि कई रूप ऐसे होते हैं, जो अपने आश्रय में सर्वावयवावच्छेदेन रहते हैं, अतएव वे व्याप्यवृत्ति कहलाते हैं। अवयवों में विद्यमान-रूप अवयवी में व्यापकत्व से रहते हैं, अतएव वे व्याप्यवृत्ति रूपों के उत्पादक ही देखे जाते हैं; ऐसी स्थिति में विभिन्न तन्तु रूपी अवयवों में विद्यमान विभिन्न रूपों से अवयवी में ऐसा ही रूप उत्पन्न होना चाहिए, जो अवयवी में व्याप्यवृत्ति हो, अर्थात् सम्पूर्ण अवयवी में व्यापक होकर रहे। उपर्युक्त रूपों से अवयवी में अव्याप्य वृत्ति अर्थात् एकदेशावच्छेद से रहने वाले रूपों की उत्पत्ति कैसे मानी जा सकती है? अतएव अवयवी में अनेक रूपाश्रयत्व का बाध ही होगा? तो इस शंका का समाधान यह है कि विभिन्न रूप वाले तन्तुओं से उत्पन्न वस्त्र में अनेक रूप देखने में आते हैं, वे रूप भी अवयवी में विभिन्न अवयवों के अवच्छेद से ही रहते हैं। यह अर्थ प्रत्यक्ष-सिद्ध है। इस प्रत्यक्ष के विरुद्ध रूप में यदि यह माना जाय कि अवयव-रूप अवयवी में व्याप्यवृत्ति रूपों के ही उत्पादक

होंगे तो क्रिया से उत्पन्न होने वाले संयोग के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि वह संयोग भी अन्यान्य गुणों के समान ही गुण होने के कारण व्याप्यवृत्ति होगा! यदि यह कहें कि यह प्रत्यक्ष से सिद्ध अर्थ है कि संयोग अपने आश्रय के कुछ हिस्से में रहता है, कुछ अंश में नहीं रहता है, अतएव संयोग को व्याप्यवृत्ति नहीं माना जा सकता है तो उसी प्रकार चित्र अवयवी के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि चित्र अवयवी में विभिन्न अवयवों में विद्यमान रूपों से उत्पन्न होने वाले अनेक रूप भी विभिन्न अवयवों के अवच्छेद से विद्यमान रहता है, यह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है। विभिन्नरूपाश्रय तन्तुओं से उत्पन्न होने वाले वस्त्र में उत्पन्न होने वाले रूप को व्याप्यवृत्ति मानना उपर्युक्त प्रत्यक्ष के सर्वथा विरुद्ध है। इसी प्रकार चित्ररस तथा चित्रगन्ध को भी मानना असमीचीन है।

रसनिरूपणम्

अस्मदादिरसनेन्द्रियग्राह्यविजातीयेतरो रसः। स षोढा—मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायभेदात्। तत्रेक्षुक्षीरगुडादिरसा मधुरभेदाः। चूतचिञ्चामलकादिरसा आम्लभेदाः। सैन्धवोषरविकारादिरसा लवणभेदाः। किम्पाकनिम्बादिरसास्तिक्तभेदाः। शुण्ठीमरीचसर्षपादिरसाः कटुभेदाः। हरीतकीविभीतकीचूताङ्कुरादिरसाः कषायभेदाः।

अनुवाद—हम लोगों की केवल रसनेन्द्रिय से ग्राह्य जो पदार्थ है, उनसे जो विसजातीय, उनसे भिन्न जो अद्रव्य है, वह रस है। रस छह प्रकार के होते हैं—१. मधुर, २. अम्ल, ३. लवण, ४. तिक्त, ५. कटु एवं ६. कषाय। इनमें इख, दुग्ध, गुड़ आदि मधुर रस के अवान्तर भेद हैं। आम, इमली, आँवला आदि के रस-विशेष आम्ल रस के अवान्तर भेद हैं। नमक तथा ऊषर के विकार आदि के रस-विशेष लवण रस के अवान्तर भेद हैं। किम्पाक अर्थात् विषवृक्ष तथा निम्ब आदि के रस तिक्तरस के अवान्तर भेद हैं। सोंठ, मरीच, सरसो आदि के रस कटुरस के अवान्तर भेद हैं। हरे, बिभीतक तथा आम्रमञ्जरी के रस कषायरस के अवान्तर भेद हैं।

रस का लक्षण

भा० प्र०—रस को लक्षित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—**अस्मदादिरसनेन्द्रिय इत्यादि**—अर्थात् हमलोगों की केवल रसनेन्द्रिय से गृहीत होने वाले जितने पदार्थ हैं, उनसे विसजातीय जो पदार्थ, उनसे जो भिन्न अद्रव्य हैं, वे रस हैं। यद्यपि लोक में जितने रस हैं, वे सब हमारी रसनेन्द्रिय से गृहीत नहीं होते हैं, फिर भी उनमें-से बहुतों का ग्रहण हम लोगों की रसनेन्द्रिय से होता है। उन गृहीत होने वाले रसों से शब्दादि विसजातीय हैं। उनसे भिन्न जो अद्रव्य हैं, वे सब के सब रस हैं, इस प्रकार लक्षण का समन्वय हो जाता है।

गन्धनिरूपणम्

अस्मदादिघ्राणग्राह्यविजातीयेतरो गन्धः। स द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च। पाटीरमृगमदघुसृणचम्पकादिगन्धास्सुरभिभेदाः। पूतिविस्रादिगन्धास्त्वसुरभिभेदाः। अयं च गन्धः पृथिव्येकवर्ती पाकभेदाद्भिन्नः। पवनसलिलादिषु गन्धोपलब्धिः पार्थिवसंसर्गात् अयो दहतीतिवदौपचारिकी। पञ्चीकरणप्रक्रियया सर्वभूतेषु सर्वगुणानां विद्यमानत्वेऽपि प्राधान्याभिप्रायेणोक्तमिति न विरोधः। पाकाद् गुणान्तरोत्पत्तिः स्वाश्रये। स्वाश्रयनाशाभावादेवोपपत्तेः पीलु(पाकवादि)पाकादिमतनिरासः।

अनुवाद—हम लोगों की घ्राणेन्द्रिय मात्र से जिनका ग्रहण होता है, उनसे जो विजातीय पदार्थ, उन विजातीय पदार्थों से भिन्न जो अद्रव्य होता है, वह गन्ध है। गन्ध दो प्रकार का होता है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। खस, कस्तूरी, कुंकुम और चम्पक आदि के रस सुगन्ध के अवान्तर भेद हैं। पूति (सड़े हुए मांस की दुर्गन्ध) और विस्रगन्ध दुर्गन्ध के अवान्तर भेद हैं। गन्ध केवल पृथिवी नामक भूत में रहता है और पाक के भेद से इसके भेद होते हैं। वायु, जल आदि में गन्ध की उपलब्धि पार्थिव वस्तुओं के संसर्ग से होती है। वायु के गन्धवत्त्व की प्रतीति औपचारिकी उसी प्रकार से हैं, जिस प्रकार से लोहे में दाहकत्व की प्रतीति औपचारिकी है। पञ्चीकरणप्रक्रिया के द्वारा सभी भूतों में सभी भूतों के गुणों के विद्यमान रहने पर भी, यहाँ पर तत्-तत् भूतों में ही तत्-तत् गुणों की स्थिति प्राधान्याभिप्राय से बतलायी गयी है, अतएव इसका कोई विरोध नहीं है। पाक के द्वारा अपने आश्रय में ही गुणान्तर की उत्पत्ति होती है। पाक के द्वारा स्वाश्रय का नाश हुए बिना ही गुणान्तरों की उत्पत्ति उपपन्न हो जाने के कारण, पिलुपाक, पिठरपाक आदि को मानने वालों के मत का निरास हो जाता है।

गन्ध-निरूपण

भा० प्र०—गन्ध को लक्षित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है कि जिन पदार्थों का ग्रहण केवल हमारी घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है, उन पदार्थों से विसजातीय जो पदार्थ, उनसे भिन्न जो अद्रव्य, वे सबके सव गन्ध हैं। संसार में अनेक प्रकार के गन्ध हैं, उन सभी का ग्रहण हमारी घ्राणेन्द्रिय से नहीं हो सकता है, किन्तु जितने का ग्रहण हमारी घ्राणेन्द्रिय से होता है, उससे विसजातीय शब्दादि हैं, उन सबों से भिन्न जो अद्रव्य हैं, वे सबके सब गन्ध हैं। इस प्रकार से लक्षण का समन्वय हो जाता है।

गन्ध दो प्रकार का होता है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। 'यह सुगन्ध है' इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार का जो विषय बनता है, उसे सुगन्ध कहते हैं तथा 'यह दुर्गन्ध है' इस प्रकार की प्रतीति और व्यवहार का जो विषय बनता है, उसे दुर्गन्ध कहते है। गन्ध केवल पृथिवी में रहता है। यह सुगन्धित जल है, यह सुगन्धित वायु हैं,

इत्यादि प्रकार से जो वायु, जल आदि के सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित होने की जो प्रतीति होती है, उसका कारण है—उन वायुओं अथवा जलों से सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित पार्थिव पदार्थ का संसर्ग हो जाता है। जिस प्रकार लौहपिण्ड का स्वभाव जलाने का नहीं होता है, किन्तु जब लौहपिण्ड का अग्नि से संसर्ग हो जाता है, तब वह लौहपिण्ड जलाने का कार्य करने लगता है तथा 'लौहपिण्ड जला रहा है' इस प्रकार का औपचारिक प्रयोग भी होने लगता है। इसी प्रकार सुगन्धित वायु चल रही है, इत्यादि औपचारिक प्रयोग हैं।

प्रश्न उठता है कि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में माना जाता है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूतों के गुण विद्यमान रहते हैं, अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि गन्ध केवल पृथिवी में ही रहता है ? तो इस शंका का समाधान है कि यद्यपि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार सभी भूतों में सभी भूत विद्यमान रहते हैं, फिर भी प्रधान रूप से पृथिवी में गन्ध नामक गुण ही विद्यमान रहता है। रस जल और पृथिवी में रहता है। अतएव इस कथन से पञ्चीकरण-प्रक्रिया का कोई भी विरोध नहीं होता है।

पाकजगुणान्तरोत्पत्ति-विषयक विचार—औपनिषद् मतावलम्वी मानते हैं कि उत्पन्न होते समय पृथिवी का कृष्ण रूप ही था; इस अर्थ का प्रतिपादन 'यत्कृष्णं तदन्नस्य' यह श्रुति करती है। आकाश में नील रूप की विद्यमानता का समर्थन करते हुए श्रीभाष्यकार ने कहा है कि पञ्चीकरण-प्रक्रिया के अनुसार आकाश में पृथिवी का नील-रूप मिश्रित हो गया है, अतएव आकाश में नील रूप की प्रतीति होती है। अतः सिद्ध होता है कि पृथिवी का नील रूप स्वाभाविक है, पाकज नहीं है, क्योंकि पञ्चीकरण से पूर्व तेजस्तत्त्व कार्य करने में असमर्थ था। यहाँ पर नैयायिक एवं वैशेषिक यह प्रश्न उठाते हैं कि उत्पन्न होते समय सभी कार्य निधर्मक होते हैं, तदनन्तर क्षण में उनमें पाकजन्य रूपादि गुणों की उत्पत्ति होती है, अतएव यह कैसे कहा जा सकता है कि पृथिवी उत्पत्ति-काल में नीली थी, उसका नील रूप स्वाभाविक है, पाकज नहीं ? तो इसका उत्तर है कि जिस प्रकार उत्पन्न होते समय में जल अभास्वर-शुक्ल नामक गुण से तथा शीतस्पर्श से युक्त रहता है, उसी प्रकार यह मानना चाहिए कि उत्पन्न होते समय पृथिवी नील रूप से युक्त होती है।

अब प्रश्न उठता है कि पाक के द्वारा द्रव्यों में जो पाकजन्य गुणान्तर की उत्पत्ति देखी जाती है, वह पाक किसका होता है ? पीलु (परमाणु) का, या पिठर (अवयवी) का, या आश्रय का ? नैयायिक तथा वैशेषिक पीलु (परमाणु) एवं पिठर (अवयवी) के पाक को लेकर विवाद करते हैं। सिद्धान्त में इन दोनों में-से कोई भी पक्ष मान्य नहीं है। अतएव विचारणीय विषय है कि घटादि के अवयव जब संयुक्त रहते हैं, तब उनमें पाक होता है, अथवा जब वे अलग-अलग होते हैं, तब उनमें पाक होता है ? विचार करने पर ये दोनों पक्ष उत्पन्न होते हैं। अवयवों के संयुक्त रहने पर ही

घटादि में पाक होता है, यह प्रथम पक्ष है। इस पक्ष की उपपत्ति यह है कि अशिथिल रहने वाले घटादि में पाकभेद होने के कारण रूपभेद दृष्टिगोचर होता है। वैशेषिक भी देखते हैं कि घट अशिथिल ही रहता है, किन्तु पाक के द्वारा उनमें रूपभेद हो जाता है। इस प्रकार यही सिद्ध होता है कि जब घटादि के अवयव संयुक्त रहते हैं तभी उनमें पाक होता है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि इस प्रकार का उपपादन होता है तो फिर वैशेषिकों ने पाकज-प्रक्रिया में यह क्यों माना है कि पाक में द्वयणुक-पर्यन्त अवयवियों का नाश होता है तथा परमाणुओं में पाक से रूपान्तर होने पर उन परमाणुओं द्वारा द्वयणुक से लेकर महान् अवयवी-पर्यन्त निर्माण होता है ? तो इसका उत्तर है कि वैशेषिकों ने ऐसे कई नियम मान रखें हैं कि उनको द्वयणुक-पर्यन्त पूर्वावयवियों का नाश तथा पक्व परमाणुओं से नवीन द्वयणुक से लेकर महान् अवयवी तक का निर्माण मानना पड़ता है। यहाँ उनके दो नियमों की चर्चा की जा रही है।

१. अवयवी में विद्यमान रूपादि गुण तब तक बने रहेंगे जब तक उनका आश्रय बना रहेगा, वे अवयवी के नष्ट होने पर ही नष्ट हो सकते हैं, उससे पहले नहीं। २. अवयवों में विद्यमान विशेष गुणों से अवयवी में विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। ये दोनों नियम अनुपपन्न हैं। इन्हीं नियमों का निर्वाह करने के लिए उन्हे द्वयणुक-पर्यन्त पूर्वावयवी का विनाश मानना पड़ता है, क्योंकि पूर्वावयवियों के नष्ट हुए बिना उनके पूर्व गुण रूपादि भी विनष्ट नहीं हो सकते, फलतः उनमें रूपान्तर की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव पूर्वावयवियों के विनष्ट हो जाने पर बचे हुए परमाणुओं के पूर्वरूप पाक से पहले विनष्ट हो जाते हैं। पाक के पश्चात् रूपान्तर-प्राप्त परमाणुओं द्वारा द्वयणुक से लेकर महान् अवयवी-पर्यन्त तक की नवीनतया उत्पत्ति होती है। इन अनुपपन्न नियमों का निर्वाह करने के लिए ही उन्हें पीलुपाकवाद अथवा पिठरपाक-वाद स्वीकार करना पड़ता है।

किञ्च यह भी पक्ष उपपन्न होता है कि जब अवयव विभक्त रहते हैं, तब उनके आश्रय में पाक होता है। इसके अनुसार मधु के छत्ते का पाक लोक में देखा जाता है। देखा जाता है कि अग्नि का संसर्ग होते ही मधु के छत्ते के अवयव विशीर्ण और विलीन होने लग जाते हैं। अतएव यथावसर अवयवों के संयुक्त रहने पर अथवा वियुक्त रहने पर, दोनों प्रकार का पाक स्वीकारा जा सकता है। इसी अर्थ को स्पष्ट करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं—**'पाकाद् गुणान्तरोत्पत्तिः स्वाश्रये' इत्यादि।**

संयोग-निरूपणम्

संयुक्तप्रत्ययनिमित्तं संयोगः। स च सामान्यगुणः षड्द्रव्यवर्ती। अस्य च स्वाभावसादेश्यमुपलभ्यमानमंशभेदप्रयुक्ततया न विरोधावहम्। स च कार्याकार्यभेदाद् द्विविधः। पूर्वः परिमितानामुभयप्रेरणात्, यथा मेषयो-

मल्लयोर्वा। क्वचिदन्यतरप्रेरणात्; यथा स्थाणुश्येनयोस्संयोगः। केचित्संयोगजसंयोगमपि वदन्ति, हस्तपुस्तकसंयोगात्कायपुस्तकसंयोग इति। तन्न। हस्तपुस्तकसंयोगेनैवोपपत्तेः। एतेन विभागजविभागोऽपि निरस्तः। विभागोऽपि संयोगाभाव एव न पृथग्गुणः। अकार्यसंयोगस्तु विभुद्रव्ययोः। अजद्रव्यसंयोगः श्रुत्याऽङ्गीक्रियते। अनुमानादप्यजद्रव्यसंयोगसिद्धिः। यथा विभुद्रव्यं विभुद्रव्यसंयोगवद् द्रव्यत्वात् घटवत् तथा विभुद्रव्यमीश्वरसंयुक्तम्, द्रव्यत्वात् घटवत्। ईश्वरः कालादिसंयुक्तो द्रव्यत्वाद् घटवत् इत्यादिभिर्विभुसंयोगस्सिद्धः।

अनु०—'ये पदार्थ संयुक्त हैं' इस प्रकार की प्रतीति जिसके कारण होती है, उसे संयोग कहते हैं। संयोग एक सामान्य गुण है तथा छह द्रव्यों में पाया जाता है। संयोग का वृक्षादि एक ही देश में जो अभाव भी उपलब्ध होता है, वह एक ही वस्तु के अंश की भिन्नता के कारण होता है, अतएव उसमें कोई भी विरोध नहीं है। संयोग दो प्रकार का होता है—कार्यसंयोग तथा कार्यभिन्न-संयोग। कार्यसंयोग सीमित वस्तुओं में होता है तथा दोनों के प्रेरित होने पर होता है। जैसे—दो मेषों अथवा दो मल्लों का संयोग। कहीं पर दोनों में-से एक के भी प्रेरित होने से होता है; जैसे—श्येन पक्षी तथा ठूँठे वृक्ष का संयोग। कुछ लोग संयोगजन्य संयोग को भी स्वीकार करते हैं; जैसे—हस्तपुस्तक-संयोग से उत्पन्न कार्य (शरीर) पुस्तक का संयोग। किन्तु यह संयोग नहीं माना जा सकता है, क्योंकि हस्तपुस्तक-संयोग से ही संयोग उपपन्न हो जाता है। अतएव विभागजन्य विभाग की भी उपपत्ति नहीं हो सकती है। विभाग भी संयोग का अभावरूप होने के कारण अतिरिक्त गुण नहीं हो सकता है। दो विभु द्रव्यों में होनेवाला संयोग अकार्यसंयोग है। नित्य द्रव्यों के संयोग का प्रतिपादन श्रुतियाँ ही करती हैं। अनुमान के द्वारा भी अज (नित्य) द्रव्यों के संयोग की सिद्धि होती है। उदाहरणार्थ—विभुद्रव्य से विभुद्रव्य का संयोग होता है, क्योंकि वह घट के समान द्रव्य है। किञ्च—विभुद्रव्य ईश्वर से संयुक्त होता है, क्योंकि वह घट के समान द्रव्य है। ईश्वर का काल आदि से संयोग होता है, क्योंकि वह घट के समान द्रव्य है। इत्यादि अनुमान के द्वारा विभुद्रव्यों के संयोग की सिद्धि होती है।

संयोग का निरूपण

भा० प्र०—संयोग नामक अद्रव्य को लक्षित करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि—जिस अद्रव्य के कारण ये दोनों पदार्थ संयुक्त हैं, इस प्रकार की प्रतीति होती है, उस अद्रव्य (गुण) को संयोग कहते हैं। संयोग का यह स्वभाव है कि वह अपने अभाव के साथ एकदेश में रहता है। जैसे जिस वृक्ष पर वानर बैठा है, उसके अग्रभाग में तो वृक्षीवानरसंयोग का सद्भाव है, किन्तु वृक्ष के मूलभाग में वृक्षीवानरसंयोग का अभाव है। अतएव समान देश में उसके सद्भाव और अभाव की उपलब्धि जो होती है, वह देश के अंशभेद को लेकर है; जैसे—एक ही वृक्ष के एक

अंश में कपिसंयोग का सद्भाव तथा दूसरे अंश में उसका अभाव दृष्टिगोचर होता है। अतएव उसमें कोई विरोध नहीं है। 'अस्य च स्वाभावसादेश्यम्' नियम के विषय में यह भी शंका की जा सकती है कि सावयव पदार्थों के विषय में तो संयोग का समान देश में अंशभेद के कारण अपने अभाव के साथ रहने का नियम उपपन्न हो सकता है, किन्तु निरवयव पदार्थों के विषय में संयोग के उस स्वभाव का कैसे निर्वाह हो सकता है ? तो इस शंका का समाधान है कि निरवय पदार्थों में भी संयोग के इस नियम की उपपत्ति उपाधि के द्वारा होती है। निरवयव पदार्थों का भी औपाधिक अंश तो रहता ही है। अतएव उसके एक औपाधिक अंश में संयोग रहता है तथा दूसरे औपाधिक अंश में संयोग का अभाव रहता है। जैसे—मठाकाश में पुरुष-संयोग रहता है तथा घटाकाश में उस संयोग का अभाव रहता है।

संयोग के दो भेदों का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि संयोग दो प्रकार का होता है—कार्यसंयोग तथा अकार्यसंयोग।

कार्यसंयोग—परिमित मूर्त पदार्थों का संयोग कार्य है, क्योंकि वह उत्पन्न होता है। परिमित मूर्त पदार्थ एवं अपरिमित विभु पदार्थों में भी होनेवाला संयोग कार्य होता है। यह कार्यरूप संयोग तब होता है, जब कि उन दोनों पदार्थों में क्रिया हो। जैसे दो भेड़ों का संयोग तब होता है जब कि दोनों में क्रिया होती है। अथवा दो पहलवानों में संयोग तब होता है, जब कि उन दोनों में क्रिया हो। कहीं-कहीं पर संयुक्त होनेवाले दोनों पदार्थों में-से एक पदार्थ में भी होनेवाली क्रिया से संयोग होता है; जैसे—बाज पक्षी तथा स्थाणु (ठूँठा पेड़) का संयोग। इस संयोग में केवल बाज में क्रिया होती है।

संयोगज संयोग का खण्डन—वैशेषिक दार्शनिक एक तीसरे प्रकार का भी संयोग मानते हैं—संयोगज संयोग। जैसे—हाथ और पुस्तक के संयोग से सम्पन्न होनेवाला कार्य पुस्तक संयोग। हाथ शरीर का अवयव है और शरीर उसका अवयवी। अवयव-भूत हाथ से पुस्तक का संयोग होने से अवयवी शरीर से पुस्तक का संयोग संपन्न हो जाता है। परन्तु वैशेषिकों द्वारा स्वीकृत यह संयोग समीचीन नहीं है, क्योंकि अवयव-समुदाय से अतिरिक्त अवयवी नामक कोई पदार्थ ही नहीं है। अवयवभूत हाथ का पुस्तक से जो संयोग होता है, वही अवयव-समुदाय शरीर का पुस्तक के साथ संयोग है। अतएव संयोगजसंयोग की मान्यता ठीक नहीं है।

अकार्यसंयोग—उन दो वस्तुओं में होता है, जो निश्चल रहते हुए अन्तरालरहित होते हैं। काल तथा ईश्वर इत्यादि विभुद्रव्य निश्चल हैं। इनमें क्रिया नही होती है। ये सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त होकर रहते हैं। दोनों विभुद्रव्यों के बीच में कोई भी ऐसा द्रव्य नहीं है, जो उनसे संयुक्त न हो। अतएव वे अन्तरालरहित हैं। अन्तराल वही पदार्थ होता है, जो उनसे असंयुक्त रहता है। दोनों विभुद्रव्यों में क्रिया न होने के कारण इनका संयोग अकार्य है, कार्य नहीं है। वैशेषिक अकार्यसंयोग को नहीं

मानते हैं, किन्तु उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमानप्रमाण के द्वारा अकार्यसंयोग की सिद्धि होती है। तथाहि—१. दो विभुद्रव्यों में संयोग होता है, क्योंकि वे अन्तराल-शून्य होकर रहते हैं। जैसे अन्तराल-शून्य होकर रहनेवाले दो मनुष्यों में संयोग देखा जाता है। यदि दोनों विभुद्रव्य संयुक्त नहीं होते तो उनमें अन्तराल अवश्य रहता, किन्तु उनमें अन्तराल नहीं होता है, इससे सिद्ध होता है कि उनमें संयोग होता है। २. किञ्च विभुद्रव्य ईश्वर से संयुक्त होकर रहता है, क्योंकि वह द्रव्य है, जितने द्रव्य हैं, वे सब घट के समान ईश्वर से संयुक्त होकर रहते हैं। ३. विभुद्रव्य ईश्वर, काल आदि से संयुक्त होकर रहता है; क्योंकि वह द्रव्य है। जितने भी द्रव्य हैं, वे घट के समान काल से संयुक्त होकर ही रहते हैं।

किञ्च श्रुतियाँ भी विभुद्रव्य ईश्वर को स्वेतर समस्त वस्तुओं से संयुक्त होकर रहने का प्रतिपादन करती हैं। 'सर्वव्यापी च भगवान्' अर्थात् परमात्मा सर्वव्यापक है। इससे ईश्वर की सभी वस्तुओं से संयुक्त होकर रहने की सिद्धि होती है। 'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः' श्रुति बतलाती है कि भगवान् नारायण संसार की सभी वस्तुओं के बाहर-भीतर व्याप्त होकर रहते हैं। यह श्रुति भी परमात्मा का सभी वस्तुओं से संयोग बतलाती है।

शक्तिनिरूपणम्

अथ शक्तिः। सर्वकारणानां कारणत्वनिर्वाहकः कश्चिदद्रव्यविशेषः शक्तिः। तर्कागमाभ्यां तत्सिद्धिः। प्रतिबन्धकमणिमन्त्रादिसन्निधौ स्वरूपसहकारिवैकल्याभावेऽपि यदुपरोधाद्दहनो न दहति सा ह्यतीन्द्रिया शक्तिः। अयस्कान्तादिषु तत्प्रसिद्धिः। सा शक्तिः षड्द्रव्यवर्तिनी। भगवन्निष्ठत्वं पुराणरत्नादिषु प्रसिद्धम्। एवं सर्वत्रापि शक्तिनामकधर्मविशेषसिद्धिः।

अनुवाद—अब शक्ति का निरूपण किया जाता है। सभी कारणों के कारणत्व का निर्वाहक कोई अद्रव्य-विशेष ही शक्ति है। शक्ति की सिद्धि तर्क और आगम से होती है। प्रतिबन्धक मणि आदि के सन्निकट में स्वरूप एवं सहकारी कारणों का अभाव नहीं रहने पर भी, जिससे बाधित होकर अग्नि जलाने का काम नहीं करती है, वही अतीन्द्रिय शक्ति है। अयस्कान्त आदि मणियों में उसकी प्रसिद्धि है। वह शक्ति छह द्रव्य में रहती है। पुराणादि में शक्ति की भगवन्निष्ठता प्रसिद्ध है। इस प्रकार सर्वत्र शक्ति नामक धर्म की सिद्धि होती है।

शक्ति का निरूपण

भा० प्र०—इस अवतार के प्रारम्भ में उद्दिष्ट दश अद्रव्यों में-से नव अद्रव्यों का निरूपण करने के पश्चात् अन्तिम अद्रव्य शक्ति का निरूपण किया जा रहा है। शक्ति का निरूपण करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार कहते हैं कि शक्ति वह अद्रव्य है, जो सभी कारणों के कारणत्व की निर्वाहिका है। कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होने से कारण बनता है और शक्ति उसके कारणत्व का निर्वाह करती है।

उस शक्ति की सिद्धि तर्क एवं शास्त्र से होती है। शक्ति की सिद्धि में यह तर्क है कि स्वरूप एवं सहकारी कारणों के रहने पर भी अग्निप्रतिबन्धक चन्द्रकान्तमणि के रहने पर जलाने का कार्य नहीं करती है। उसका कारण यह है कि अग्नि के जलाने की शक्ति उस मणि के द्वारा अवरुद्ध हो जाती है और उस मणि के हटा देने के बाद अग्नि जलाने का कार्य करने लगती है। जिसके उपरुद्ध होने के कारण अग्नि नहीं जलाती है तथा जिसके द्वारा अग्नि जलाने का कार्य करती है, वह शक्ति नामक अद्रव्य है। यह शक्ति अतीन्द्रिय है, उसका साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है। किन्तु अग्नि में जलाने की शक्ति तथा जल में आर्द्र करने की शक्ति आदि का अनुमान किया जा सकता है। महर्षि पराशर भी कहते हैं—'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मण एतास्तु सर्गाद्याभावशक्तयः। भवन्ति तपसां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता।' अर्थात् हे तपस्वियों में श्रेष्ठ मैत्रेयजी ! सभी वस्तुओं में रहने वाली शक्तियाँ, जो अचिन्त्य ज्ञान का विषय बनती हैं, अतएव वे उसी ज्ञान से सिद्ध होती हैं। अतएव परब्रह्म में भी ऐसी स्वाभाविक शक्तियाँ विद्यमान हैं, जो सृष्टि इत्यादि के अनुकूल हैं। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता प्रमाणसिद्ध है, उसी प्रकार परब्रह्म की शक्तियाँ भी प्रमाणसिद्ध हैं। पदार्थों के प्रमाणसिद्ध स्वभाव का किसी भी प्रकार अपलाप नहीं किया जा सकता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में भी कहा गया है कि—'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक् स्थिताः।' अर्थात् सभी पदार्थों में शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं, वे अचिन्त्य तथा अपृथक्सिद्ध हैं। अयस्कान्तमणि की भी शक्ति प्रसिद्ध है कि वह लोहे का आकर्षण करने का कार्य करती है। अतएव अयस्कान्त आदि में शक्ति की विशद रूप से प्रतीति होती है। शक्ति छहों द्रव्यों में रहती है। ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जिसमें शक्ति न हो। विष्णुपुराण के 'शक्तयः सर्वभावानाम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा बतलाया गया है कि श्रीभगवान् में जगत् की सृष्टि आदि करने की शक्ति विद्यमान है तथा वह प्रमाणसिद्ध है। 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते' श्रुति कहती है कि श्रीभगवान् में अनेक प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं। यह श्रुति भी परमात्मा की शक्ति का वर्णन करती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सभी वस्तुओं में शक्ति नामक धर्म रहता है।

वैशेषिकाभिमतदशगुणेषु चतुर्विंशतिगुणानामन्तर्भावः

ननु, चतुर्विंशतिप्रकारा गुणा इत्युक्तत्वात् कथं दशैवेति निर्दिश्यते इति चेत्। उच्यते। जीवात्मगुणविशेषाणां बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नानां षण्णां ज्ञानविततिरूपत्वेन ज्ञानेऽन्तर्भावस्योक्तत्वात्। धर्माधर्मयोरपीश्वरप्रीत्यप्रीतिरूपत्वेनेश्वरज्ञानेऽन्तर्भावात्। भावनाख्यसंस्कारस्य ज्ञानविशेषरूपत्वात्। वेगो(त्पतन)त्पादकहेतोरेव वेगाख्यसंस्कारोपपत्तेः, संयोगमादाय स्थितस्थापकस्यापि सम्भवात्, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां पञ्चानां प्रत्यक्षसिद्धत्वेनाङ्गीकारात्। विभागपृथक्त्वयोरपि संयोगाभावमादायोपपत्तेः।

परत्वापरत्वयोर्देशकालसंयोगविशेषमादायोपपत्तेः संख्यापरिमाणद्रवत्व-स्नेहानां तत्तद्द्रव्यस्वरूपमादायोपपत्तेः। गुरुत्वस्य शक्त्यन्तर्भावस्य वक्तु-मुचितत्वाच्च दशैवेति सुष्ठूक्तम्।

अनुवाद—प्रश्न उठता है कि चौबीस प्रकार के गुण कहे जाते हैं तो फिर विशिष्टाद्वैती दश प्रकार के ही गुण कैसे कहते हैं ? तो इसका उत्तर है कि जीवात्मा के गुण-विशेष—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न—ये छहों ज्ञान के विस्तृत रूप हैं, अतएव उनका ज्ञान में अन्तर्भाव होता है। धर्म एवं अधर्म भी ईश्वर की प्रसन्नता और अप्रसन्नता-रूप हैं, अतएव उनका ईश्वर के ज्ञान में अन्तर्भाव होता है। भावना नामक संस्कार भी ज्ञान-विशेष रूप है। वेग को उत्पन्न करने का जो कारण है, उसे ही वेग नामक संस्कार कहते हैं; संयोग को ही लेकर स्थितस्थापक भी होता है। हम प्रत्यक्षसिद्ध—शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध को स्वीकार करते ही हैं। विभाग और पृथक्त्व संयोगाभाव रूप हैं। परत्व एवं अपरत्व की सिद्धि देश और काल को लेकर होती है। संख्या, परिमाण, द्रव्यत्व और स्नेह तत्-तत् द्रव्य-स्वरूप हैं। गुरुत्व का शक्ति में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव दश ही गुणों को मानना समीचीन है।

भा० प्र०—वैशेषिकदर्शन में चौबीस गुण बतलाए गये हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार। विशिष्टाद्वैती दस गुण बतलाते हैं। इन दोनों का समन्वय कैसे हो सकता है ? इस शंका का समाधान करते हुए विशिष्टाद्वैती कहते हैं कि जीवों के जो बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये छह गुण माने गये हैं, वे ज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इस बात की चर्चा धर्मभूत ज्ञान के निरूपण के प्रसंग में की गयी है, अतएव उनका ज्ञान में ही अन्तर्भाव हो जाता है, उनको अलग गुण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार ईश्वर की प्रसन्नता को ही धर्म कहते हैं और ईश्वर की अप्रसन्नता को अधर्म कहते हैं। अतएव धर्माधर्म का ईश्वर के ज्ञान में अन्तर्भाव हो जाता है।

संस्कार का संयोग में अन्तर्भाव—संस्कार का निरूपण करते हुए वैशेषिकों ने कहा है कि संस्कार तीन प्रकार का होता है—वेग, भावना और स्थितस्थापक। क्योंकि वेग तो कर्मविशेष है। वेग की उत्पति का जो हेतु है, उसे वेग नामक संस्कार कहते हैं। भावना नामक संस्कार ज्ञान-विशेष रूप है। किञ्च स्थितस्थापक नामक जो संस्कार है, वह संयोग को लेकर उपपन्न होता है। इस संस्कार के विषय में वैशेषिक कहते हैं कि किसी शाखा को पकड़कर खींचने तथा खींचकर छोड़ देने पर शाखा पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाती है। जिसके कारण वह शाखा पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाती है, वह स्थितस्थापक नामक संस्कार कहलाता है। वैशेषिकों की इस मान्यता के विषय में सिद्धान्तियों का कहना है कि शाखा इत्यादि में विद्य-मान जो संस्थान-विशेष है, वह अवयव-रचनाविशेष है, वही स्थितस्थापक है।

उसी के प्रभाव से शाखा पुनः अपने स्थान में पहुँच जाती है। वैशेषिक दार्शनिक यादृशसंस्थानविशेषविशिष्ट में स्थितस्थापक मानते हैं, हम उस संस्थानविशेष को ही स्थितस्थापक मानते हैं। संस्थानविशेष के तारतम्य के अनुसार ही शाखा इत्यादि का लौटकर स्वस्थान में पहुँचने में तारतम्य होता है। अतः संस्थानविशेष को स्थित-स्थापक मानना ही उचित है। अतएव स्थितस्थापक संयोगविशेष रूप ही है। इस प्रकार संस्कार नामक गुण को अतिरिक्त गुण नहीं माना जा सकता है।

पृथक्त्व एवं विभाग की संयोगाभावरूपता—का प्रतिपादन करते हुए यतीन्द्रमत-दीपिकाकार कहते हैं—'**विभागपृथक्त्वयोरपि इत्यादि**—अर्थात् विभाग और पृथक् की सिद्धि तो संयोग का अभाव रूप उन्हें मान लेने से हो जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि वैशेषिक पृथक्त्व को एक अलग गुण मानकर उसका लक्षण करते हैं कि 'यह पदार्थ इस पदार्थ से पृथक् है' इस प्रकार के व्यवहार का जो कारण है, वह पृथक्त्व नामक गुण है। इसके विषय में विशिष्टाद्वैतियों का कहना है कि पृथक्त्व भी भेद ही है, उससे भिन्न पदार्थ नहीं है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से भिन्न है, इस भेद को ही लेकर पृथक्त्व की प्रतीति होती है। यह इससे भिन्न है तथा यह इससे पृथक् है; इन दोनों कथनों का भाव एक ही है। इस प्रकार पृथक्त्व के भेद से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध नहीं होता। वह भेद संयोग का अभाव रूप ही है। इसीलिए न्यायतत्त्व में कहा गया है कि—'अतिरेकव्यतिरेकभेदेन द्विविधो भेदः।' अर्थात् भेद दो प्रकार का होता है—अतिरेक और व्यतिरेक। दूसरे धर्मी में न पाए जाने वाला धर्म अतिरेक कहलाता है। धर्म और धर्मी आदि के स्वरूप को व्यतिरेक कहते हैं। उसी ग्रन्थ में भेद को लक्षित करते हुए कहा गया है—'ऐक्यं साकल्येन संयोगः, तदभावो भेदः।' अर्थात् पूर्णरूप से होने वाले संयोग को ऐक्य कहते हैं तथा उस संयोग का अभाव भेद है।

इसी प्रकार विभाग भी संयोग का अभाव रूप अथवा भेद रूप ही होता है। उस विभाग को लक्षित करते हुए वैशेषिक कहते हैं कि संयोग का विरोधी गुण विभाग है, किन्तु उनका यह कथन इसलिए उचित नहीं है कि जिन नोदन और पाटन इत्यादि से विभाग की उत्पत्ति और उस विभाग से संयोग का नाश वैशेषिक दार्शनिक मानते हैं, उन नोदनादि क्रियाओं से संयोग का ध्वंस ही उत्पन्न हो सकता है, उसके बीच में विभाग नामक गुण को मानने की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार स्पष्ट है कि विभाग भी संयोग का अभाव रूप ही है। अत एव उसको एक अलग गुण मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।

परत्व एवं अपरत्व देश तथा काल के संयोग-विशेष रूप हैं—यतीन्द्रमतदीपिका-कार यही मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि—पर एवं अपर ये दो पदार्थ हैं, इस प्रकार की प्रतीति का जो असाधारण कारण है, उस गुण को ही परत्व एवं अपरत्व शब्द से अभिहित किया जाता है। परत्व एवं अपरत्व दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं—दिक्कृत एवं कालकृत। दूरस्थ वस्तु में दिक्कृत

परत्व तथा सन्निकटस्थ वस्तु में दिक्कृत अपरत्व रहते हैं। इसी प्रकार वृद्ध पुरुष में कालकृत परत्व तथा युवा पुरुष में कालकृत अपरत्व रहता है। यही वैशेषिक विद्वानों की परत्वापरत्व की व्याख्या है। इसके विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वानों का कहना है कि दिक्काल का संबन्ध-विशेष ही परत्वापरत्व कहलाते हैं। वे दिक्काल के संबन्ध-विशेष से अतिरिक्त नहीं हैं और इसे मानने में लाघव भी है। अतएव परत्वापरत्व को अतिरिक्त गुण मानना अनुचित है।

वैशेषिकाभिमत गुण, संख्या, परिमाण, द्रवत्व एवं स्नेह की तत्-तत् द्रव्यस्वरूपता—का प्रतिपादन करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार का कहना है कि ये सभी तत्-तत् द्रव्यस्वरूप ही हैं।

संख्या का स्वरूप यह है कि एक, दो, तीन इत्यादि रूप से ज्ञान और व्यवहार के विषय को संख्या कहते हैं। वैशेषिक इत्यादि संख्या को द्रव्यमात्रनिष्ठ मानते हैं। अन्य दार्शनिक इसे द्रव्य एवं गुण इत्यादि सबों का धर्म मानते हैं। वे कहते हैं कि तीन गुण हैं, छह रस होते हैं इत्यादि प्रकार की प्रतीति और व्यवहार होते देखा ही जाता है। वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि नित्यद्रव्यों में रहने वाला एकत्व नित्य है और अनित्य अवयवी द्रव्यों में रहने वाला एकत्व अनित्य है, क्योंकि वह अवयवों में विद्यमान एकत्वों से उत्पन्न होता है। उनके अनुसार द्वित्व एवं त्रित्व इत्यादि संख्याएँ अनित्य हैं, क्योंकि वे—यह एक है, यह भी एक है इत्यादि प्रकार की अपेक्षाबुद्धि रूप निमित्त-कारण से युक्त प्रत्येक में विद्यमान एकत्वों से उत्पन्न होती हैं। वैशेषिकों की इस प्रकार की मान्यता के विषय में विशिष्टाद्वैती विद्वान् कहते हैं कि वैशेषिक बाह्य पदार्थों में द्वित्वादि की उत्पत्ति के लिए जिस अपेक्षाबुद्धि को सहकारीकारण मानते हैं उसी अपेक्षाबुद्धि को हम संख्या मानते हैं। उससे (अपेक्षाबुद्धि से) बाह्य पदार्थों में द्वित्वादि की उत्पत्ति नहीं होती है, क्योंकि ज्ञान बाह्य पदार्थ को केवल प्रकाशित करता है, उसमें किसी को उत्पन्न नहीं करता है। वह अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि है, वह स्वयम्प्रकाश होने के कारण ज्ञान भी बन जाती है। अपेक्षाबुद्धि से ही व्यवहार की उत्पत्ति और व्यवहारनियम दोनों सम्पन्न हो जाते हैं। हम व्यवहार और नियम दोनों का हेतु एक ही मानते हैं, भिन्न नहीं। अपेक्षाबुद्धि को ही द्वित्वादि होने के कारण, उसके विनष्ट होने पर द्वित्वादि व्यवहार नहीं होता है। ज्ञान के न होने पर व्यवहार भी नहीं होता है। यह सभी दार्शनिक मानते हैं, अतएव विशिष्टाद्वैतियों की मान्यता लाघवयुक्त है। अतएव सभी वस्तुओं के तत्-तत् स्वरूप को ही संख्या मानना चाहिए। उस संख्या का संयोग में ही अन्तर्भाव होता है।

परिमाण—को निरूपित करते हुए कहा जाता है कि 'यह वस्तु परिमित है' इस प्रकार की प्रतीति का जो विषय होता है, उसे परिमाण कहते हैं। परिमाण चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ। इन चारों प्रकार के परिमाणों के स्वरूप का निरूपक प्रतियोगी के द्वारा होता है। यह पदार्थ इस पदार्थ से अणु है;

यह पदार्थ इस पदार्थ से महत् है; यह पदार्थ इस पदार्थ से ह्रस्व है; यह पदार्थ इस पदार्थ से दीर्घ है; इसी प्रकार से परिमाणों का निरूपण किया जाता है। यहाँ पर अपादानकारक के चिह्न के द्वारा प्रतियोगी का ही निर्देश किया गया है। इस परिमाण की चर्चा करते हुए श्रीमन्नाथमुनि ने कहा है कि—'अनेकव्याप्तिर्महत्तर तदभावो मन्दत्वम्' अनेक देशों में व्याप्ति ही महत्ता है, उस व्याप्ति का अभाव ही मन्दत्व है। क्रोश इत्यादि जो देश-परिमाण है; मास, संवत्सर इत्यादि जो काल-परिमाण है; बीस-तीस इत्यादि जो संख्या-परिमाण हैं तथा पुरुष, हस्त इत्यादि जो ऊर्ध्व-मान(उन्मान)-परिमाण है, ये सभी प्रकार के परिमाण पदार्थों के तत्-तत् स्वरूप हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि तत्-तत् स्वरूप-विशेष ही परिमाण हैं।

द्रवत्व—को भी वैशेषिक अलग गुण मानते हैं। द्रवत्व की प्रतीति का विषयभूत पदार्थ द्रवत्व कहलाता है। वह द्रवत्व ही जल के बहने का कारण है। वैशेषिक मानते हैं कि द्रवत्व केवल जल में ही रहता है, किन्तु वह केवल जल में ही नहीं पाया जाता है, अपितु वह पार्थिव दुग्ध तथा तेजस सुवर्ण में भी पाया जाता है। द्रवत्व दो प्रकार का होता है—स्वाभाविक और पाकज। जल में पाया जाने वाला द्रवत्व स्वाभाविक द्रवत्व है, पाकज द्रवत्व सुवर्णादि पदार्थों में पाया जाता है। इस द्रवत्व का अन्तर्भाव जलत्व में अथवा संयोग-विशेष में या स्पर्श-विशेष में हो सकता है।

स्नेह—नामक गुण को भी वैशेषिकों ने स्वीकार किया है। स्नेह-प्रतीति का विषय ही स्नेह कहलाता है। वह केवल जल में रहता है। घृत इत्यादि में पाया जाने वाला स्नेह जल के संसर्ग से होता है। वह स्नेह द्रवत्व से भिन्न है, क्योंकि सुवर्ण में पाया जाने वाला द्रव धूल नहीं इकट्ठा करता है, किन्तु स्नेह ही धूल को इकट्ठा करने का कारण बनता है। जलत्व मात्र को स्नेह इसलिए नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'जल स्निग्ध है' इत्यादि प्रतीतियों में स्नेह जल का धर्म प्रतीत होता है। किञ्च जल से भिन्न पार्थिव शहद आदि में भी स्नेह देखा जाता है। इस प्रकार केवल जल में पाया जाने वाला, पांसु के ग्रहण करने का कारणभूत स्नेह नामक गुण है; यह वैशेषिक तथा एक प्रकार के विशिष्टाद्वैती विद्वान् मानते हैं।

दूसरे प्रकार के विशिष्टाद्वैती विद्वान् मानते हैं कि 'यह स्निग्ध है' इस प्रकार की प्रतीति अवश्य होती है। रूप-विशेष एवं स्पर्श-विशेष इत्यादि के विषय में वह स्निग्धत्व प्रतीति होती है। जल की मसृणता को लेकर उसके स्निग्धत्व की प्रतीति होती है। मसृणता ऐसे स्पर्श को कहते हैं कि उससे संयुक्त होने वाले पदार्थ को पृथक् नहीं किया जा सके। इस प्रकार का स्नेह स्वर्ण में भी रहता है।

तीसरे प्रकार के लोग कहते हैं कि जल में स्नेह नहीं होता, अपितु स्नेह मृत्तिका में रहता है। जल में विद्यमान जलत्व अथवा जल में विद्यमान एक प्रकार की शक्ति-विशेष के द्वारा जल धूलियों को विटोरता है। उनका कहना है कि यदि धूलि-संग्राहक

होने के कारण जल में स्निग्धत्व की कल्पना की जाती है तो फिर विश्लेषक होने के कारण अग्नि में रूक्षता नामक गुण की भी कल्पना करनी चाहिए।

वास्तविकता यह है कि जल का स्वरूप ही तत्-तत् सहकारियों को प्राप्त कर संग्राहक और विभेदक होता है, उससे अतिरिक्त स्नेह नामक एक गुण की कल्पना करना अनावश्यक है। अतएव स्नेह भी जल के स्वरूप से अतिरिक्त पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि संख्या, परिमाण, द्रवत्व तथा स्नेह तत्-तत् वस्तुओं के स्वरूप रूप ही हैं, इनको अलग-अलग गुण मानना असंगत है।

गुरुत्व का शक्ति में अन्तर्भाव—बतलाते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा कि गुरुत्व का शक्ति में ही अन्तर्भाव मानना चाहिए। क्योंकि स्वतः गिरने का हेतु जो स्वभाव है, वही गुरुत्व है। वह गुरुत्व जल और पृथिवी में रहता है। यह गुरुत्व पृथिवी और जल के स्वरूप से अतिरिक्त नहीं होता। प्रतिबन्धकरहित पृथिवी और जल स्वरूपतः गिरते हैं। शिक्यों से दधिभाण्ड के नहीं गिरने का प्रतिबन्धक शिक्य ही है। अतिरिक्त गुरुत्ववादियों के मत में पतन का कारण जो अतिरिक्त गुरुत्व है, उसके पतन का जो कारण है, उस पतन का प्रयोजक स्वभाव ही है। वह स्वभाव पृथिवी-स्वरूप तथा जलस्वरूप दोनों का ही है, यही मानना चाहिए। न्यायतत्त्व के प्रणेता नाथमुनि तीन प्रकार का गुरुत्व मानते हैं—ऊर्ध्वगुरुत्व, अधोगुरुत्व तथा तिर्यग्गुरुत्व। तिर्यग्गुरुत्व के कारण वायु तिर्यग्गमन करता है। ऊर्ध्वगुरुत्व के कारण अग्नि में ऊर्ध्वज्वलन होता है। अधोगुरुत्व के कारण ही जल और पृथिवी का अधःपतन होता है। न्यायतत्त्वकार के अनुसार गुरुत्व का स्वभाव अथवा अदृष्ट अथवा ईश्वरसंकल्प में अन्तर्भाव होता है। वेदान्तदेशिक का कहना है कि शक्ति में ही गुरुत्व का अन्तर्भाव होना चाहिए, वह शक्ति ही सर्वत्र करणत्व की निर्वाहिका होती है। वह पतनादि का कारण है। शक्ति से अतिरिक्त गुरुत्व नामक पदार्थ नहीं है।

इस विस्तृत विवेचन से स्पष्ट हो गया कि दश ही गुणों को स्वीकार करना चाहिए।

तेषां तेषां गुणानां ते ते धर्मिणः

तत्र सत्त्वरजस्तमांसि प्रकृतिगुणाः तत्सम्बन्धि जीवगुणाश्च। सत्त्वरूपं ज्ञानं सात्त्विकः काल इत्यादिप्रतीतिरुपाधिवशादौपचारिकी। शब्दादयः पञ्च प्रकृतिकार्यपञ्चमहाभूतगुणत्वेन प्रसिद्धाः। शुद्धसत्त्वं तु त्रिपाद्विभूत्यां, तत्प्रवर्तकेश्वरे च। संयोगशक्तिरूपौ गुणौ षड्द्रव्यसाधारणाविति विवेकः। इत्यद्रव्यं निरूपितम्।

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यप्रथमदासेन श्रीनिवासदासेन विरचितायां यतीन्द्रमतदीपिकायां शारीरकपरिभाषायामद्रव्य-निरूपणं नाम दशमोऽवतारः।

अनुवाद—उन दशों गुणों में सत्त्व, रजस् एवं तमस् प्रकृति के तथा प्रकृति-संबन्धी जीवों के गुण हैं। सत्त्वरूप ज्ञान तथा सात्त्विक काल की प्रतीति औपाधिक होने के कारण औपचारिक है। शब्द इत्यादि पांच गुण प्रकृति के कार्यभूत पञ्चमहाभूतों के गुण रूप से प्रसिद्ध है। शुद्धसत्त्व त्रिपाद्विभूति तथा त्रिपाद्विभूति के प्रवर्तक ईश्वर में रहता है। संयोग और शक्ति ये दोनों गुण छहों द्रव्यों में समानरूप से पाए जाते हैं। इस प्रकार सें अद्रव्य का निरूपण किया गया।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य-प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका का अद्रव्य-निरूपण नामक दशम अवतार पूर्ण हुआ।

अथोपसंहारग्रन्थः

यतीन्द्रमतदीपिकाया उपजीव्यग्रन्थाः

एवं द्रमिडभाष्यन्यायतत्त्वसिद्धित्रयश्रीभाष्यदीपसारवेदार्थसङ्ग्रहभाष्यविवरणसङ्गतिमालाषडर्थसंक्षेपश्रुतप्रकाशिकातत्त्वरत्नाकरप्रज्ञापरित्राणप्रमेयसङ्ग्रहन्यायकुलिशन्यायसुदर्शनमानयाथात्म्यनिर्णयन्यायसारतत्त्वदीपतत्त्वनिर्णयसर्वार्थसिद्धिन्यायपरिशुद्धिन्यायसिद्धाञ्जनपरमतभङ्गतत्त्वत्रयचुलुकतत्त्वत्रयनिरूपणं तत्त्वत्रयतद्व्याख्यानचण्डमारुतवेदान्तविजयपाराशर्यविजयादिपूर्वाचार्यप्रबन्धानुसारेण ज्ञातव्यार्थान् संगृह्य बालबोधनार्थं यतीन्द्रमतदीपिकाख्यशारीरकपरिभाषायामस्यामेतेऽर्थाः प्रतिपादिताः ।

अनुवाद—इस प्रकार द्रमिडभाष्य, न्यायतत्त्व, सिद्धित्रय, श्रीभाष्य, वेदान्तदीप, वेदान्तसार, वेदार्थसंग्रह, भाष्यविवरण, संगतिमाला, षडर्थसंक्षेप, श्रुतप्रकाशिका, तत्त्वरत्नाकर, प्रज्ञापरित्राण, प्रमेयसंग्रह, (२), न्यायकुलिश, न्यायसुदर्शन, मानयाथात्म्यनिर्णय, न्यायसार (तत्त्वसार), तत्त्वदीप, तत्त्वनिर्णय, सर्वार्थसिद्धि, न्यायपरिशुद्धि, न्यायसिद्धाञ्जन, परमतभङ्ग, तत्त्वत्रयचुलुक, तत्त्वत्रयनिरूपण, तत्त्वत्रयम्, तत्त्वत्रयव्याख्या, चण्डमारुत, वेदान्तविजय, पाराशर्यविजय आदि पूर्वाचार्यों के प्रबन्ध के अनुसार ज्ञातव्य अर्थों का संग्रह करके बालकों को ज्ञान कराने के लिए यतीन्द्रमतदीपिका नामक इस शारीरक-परिभाषा में इन अर्थों का प्रतिपादन किया गया है ।

यतीन्द्रमतदीपिका के बत्तीस उपजीव्य ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

भा० प्र०—इस ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने इस ग्रन्थ के उपजीव्य ग्रन्थों के रूप में अपने पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रणीत बत्तीस ग्रन्थों को उद्धृत किया है । जिस प्रकार मोक्षार्थ की प्रतिपादिका उपनिषदों में बत्तीस ब्रह्मविद्याएँ बतलायी गयी हैं, उसी प्रकार इस यतीन्द्रमतदीपिका के उपजीव्यभूत ग्रन्थ भी बत्तीस हैं, जिससे वेदान्तार्थों का अर्थ-याथात्म्य निरूपित किया गया है । यतीन्द्रमतदीपिका के उपजीव्य ग्रन्थों का संक्षिप्ततम परिचय निम्नलिखित है—

(१) **द्रमिडभाष्य**—यह नैध्रुवकाश्यपगोत्रोत्पन्न द्रविडाचार्य-प्रणीत ग्रन्थ है तथा छान्दोग्यव्याख्यानभूत ब्रह्मानन्दिटङ्काचार्य-प्रणीत वाक्यग्रन्थ की व्याख्या है ।

(२) **न्यायतत्त्व**—इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीमन्नाथमुनि है । यह ग्रन्थ कई अधिकरणों में निबद्ध है तथा श्रीमद्वेदान्तदेशिक ने प्रमाणरूप से इस ग्रन्थ के वाक्यों को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है ।

(३) **सिद्धित्रय**—इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीमन्नाथमुनि के पौत्र तथा श्रीमद्रामानुजाचार्य के परमगुरु श्रीमद्यामुनाचार्य है। इस प्रकरण-ग्रन्थ के तीन प्रकरण हैं—आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि तथा संवित्सिद्धि।

(४) **श्रीभाष्य**—विशिष्टाद्वैतदर्शन के भाष्यकार श्रीमद्रामानुजाचार्य-प्रणीत शारीरक-मीमांसा का विस्तृत भाष्य है। यही ग्रन्थ विशिष्टाद्वैती दार्शनिकों का भाष्य माना जाता है। इस ग्रन्थ में श्रीमद्रामानुजाचार्य ने बड़ी सफलतापूर्वक शारीरक-मीमांसा के शाङ्करभाष्य का सप्रमाण प्रत्याख्यान किया है;

(५) **वेदान्तदीप**—इस ग्रन्थ में श्रीरामानुजाचार्य ने शारीरक-मीमांसा के सूत्रों की नातिविस्तृत नातिसंक्षिप्त व्याख्या की है।

(६) **वेदान्तसार**—यह ग्रन्थ श्रीमद्रामानुजाचार्य-प्रणीत शारीरक-सूत्रों का संक्षिप्ततम अर्थ के रूप में निबद्ध है।

(७) **भाष्यविवरण**—श्रीविष्णुचित्ताचार्य-प्रणीत यह ग्रन्थ श्रीभाष्य की व्याख्या रूप है।

(८) **संगतिमाला**—इस ग्रन्थ में आचार्य विष्णुचित्त ने श्रीभाष्य के विषय-वाक्यों की संगति तथा अन्य प्रकार की संगतियों का उपपादन किया है।

(९) **षडर्थसंक्षेप**—श्रीराममिश्राचार्य द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ को श्रीमद्वेदान्त-देशिक ने न्यायसिद्धाञ्जन में स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है।

(१०) **श्रुतप्रकाशिका**—श्रीसुदर्शनसूरि-प्रणीत श्रीभाष्य की सर्वप्रधान व्याख्या है। इस ग्रन्थ का कलेवर इतना बड़ा है जितना बड़ा छत्तीस हजार अनुष्टुप् श्लोकों का कलेवर हो सकता है। इनका दूसरा नाम वेदव्यास भी है।

(११) **तत्त्वरत्नाकर**—यह ग्रन्थ श्रीकुरेशसूरि के पुत्र पराशरभट्टर-प्रणीत है।

(१२) **प्रज्ञापरित्राण**—इस ग्रन्थ के प्रणेता वरदनारायण भट्टारक है।

(१३) **न्यायसुदर्शन**—इस ग्रन्थ के भी प्रणेता वरदनारायण भट्टारक है।

(१४) **प्रमेयसंग्रह**—इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीविष्णुचित्ताचार्य है।

(१५) **प्रमेयसंग्रह**—वात्स्यवरदाचार्य ने भी एक प्रमेयसंग्रह का प्रणंयन किया है।

(१६) **न्यायकुलिश**—अनेक वादों के संग्रहरूप तथा शतदूषणी के उपजीव्य-भूत इस ग्रन्थ के प्रणेता वादि हंसाम्बुवाह आत्रेय रामानुजाचार्य है।

(१७) **मानयाथात्म्यनिर्णय**—इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीवरदविष्णु मिश्र है।

(१८) **न्यायसार अथवा तत्त्वसार**—के प्रणेता वात्स्यवरदाचार्य है।

(१९) **तत्त्वदीप**—इस ग्रन्थ के प्रणेता वादि केसरी रम्यजामातृमुनि है।

(२०) **तत्त्वनिर्णय**—इस ग्रन्थ के प्रणेता वात्स्यवरदाचार्य है।

(२१) **वेदार्थसंग्रह**—यह ग्रन्थ श्रीमद्रामानुजाचार्य-प्रणीत श्रुतियों के अर्थ का निर्णय-स्वरूप है। कहा जाता है कि भगवान् वेङ्कटेश की आज्ञा से रामानुजाचार्य ने वेदार्थों के निर्णय-रूप एक दिन प्रवचन किया था, उसी को वेदार्थसंग्रह के नाम से अभिहित किया जाता है।

(२२) **सर्वार्थसिद्धि**—श्रीमद्वेदान्तदेशिक-प्रणीत तत्त्वमुक्ताकलाप नामक ग्रन्थ की व्याख्या है। इसमें श्रीमद्वेदान्त ने सर्वज्ञत्व की प्रतिज्ञा की है।

(२३) **न्यायपरिशुद्धि**—इस ग्रन्थ में वेदान्तदेशिक ने न्यायदर्शन की समालोचना करके उसको शारीरक-मीमांसा के अनुसार न्यायदर्शन को व्यवस्थित किया है।

(२४) **न्यायसिद्धाञ्जन**—इस ग्रन्थ में वेदान्तदेशिक ने वैशेषिक दर्शन की समालोचना छह परिच्छेदों में की है।

(२५) **परमतभंग**—मणिप्रवाल भाषा में प्रणीत इस ग्रन्थ में वेदान्तदेशिक ने विशिष्टाद्वैतदर्शन-व्यतिरिक्त दर्शन की प्रौढ समालोचना की है।

(२६) **तत्त्वत्रयचुलुक**—इसके प्रणेता श्रीवेदान्तगुरुकुमार श्रीवरदगुरु है।

(२७) **तत्त्वत्रय-निरूपण**—इसके प्रणेता श्रीकृष्णपादसूरि है।

(२८) **तत्त्वत्रय**—इसके व्याख्याता श्रीमल्लोकाचार्य है।

(२९) **तत्त्वत्रयव्याख्या**—श्रीमल्लोकाचार्य-प्रणीत तत्त्वत्रय की व्याख्या-रूप इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीमद्वरवरमुनि है।

(३०) **चण्डमारुत**—वेदान्तदेशिक-प्रणीत शतदूषणी की व्याख्या-रूप इस ग्रन्थ के प्रणेता श्रीमन् भट्टाचार्य है।

(३१) **वेदान्तविजय**—यह ग्रन्थ भी श्रीमन् भट्टाचार्य-प्रणीत है।

(३२) **पाराशर्यविजय**—इस ग्रन्थ के भी प्रणेता श्रीमन् भट्टाचार्य ही है।

यतीन्द्रमतदीपिकायाः तत्त्वहितपुरुषार्थप्रतिपादकत्वम्

अध्यात्मशास्त्राणां तत्त्वहितपुरुषार्थप्रतिपादकत्वात् तत्सारेस्मिन्नपि प्रकृतिजीवेश्वरपरिच्छेदैः तत्त्वस्य निरूपितत्वात्, बुद्धिपरिच्छेदे उपायस्य निरूपणात्, नित्यविभूतिपरिच्छेदे ईश्वरपरिच्छेदे च पुरुषार्थस्य निरूपणाच्च तत्त्वोपायपुरुषार्था निरूपिता इति निरवद्यम्।

अनु०—अध्यात्मशास्त्र तत्त्व, हित एवं पुरुषार्थ का प्रतिपादक है, अध्यात्मशास्त्र के सारभूत इस ग्रन्थ के भी प्रकृति, जीव तथा ईश्वर परिच्छेद में तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। बुद्धिपरिच्छेद में उपाय का निरूपण किया गया है तथा नित्य विभूतिपरिच्छेद में तथा ईश्वरपरिच्छेद में पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। इस प्रकार इस यतीन्द्रमतदीपिका में तत्त्व, हित एवं पुरुषार्थ का निरूपण किया गया है। अतः यह गन्थ पूर्णरूप से निर्दोष है।

यतीन्द्रमतदीपिकायाः तत्त्वापादकत्वम्

एकं तत्त्वमिति प्रतिपादयन्ति सूरयः। आत्मानात्मेति द्वेधा विभज्य निरूपयन्ति ऋषयः। श्रुत्यनुसाराद् भोग्यभोक्तृनियन्तृरूपं तत्त्वत्रयमिति प्रतिपादयन्त्याचार्याः। हेयम्, तस्य निवर्तकम्, उपादेयम्; तस्योपाय इति

चतुर्धा विभज्यानुसन्दधते केचिदाचार्याः। प्राप्यम्, प्राप्ता, उपायः, फलम्, विरोधीति पञ्चधा कथयन्त्यपरे देशिकाः। अर्थपञ्चकमेव सम्बन्धेन साकं षोढा परिगणय्य वर्णयन्त्यन्ये गुरवः। तेषां तत्तद्विभाजकधर्मपुरस्कारेण तथोपन्यासो नार्थभेदक इति सर्वमवदातम्।

अनुवाद—एक ही तत्त्व है; यह सूरिगण प्रतिपादित करते हैं। ऋषिगण दो प्रकार से तत्त्व का विभाग करते हैं—आत्मा एवं अनात्मा। श्रुतियों के अनुसार आचार्यगण प्रतिपादन करते हैं कि तीन ही तत्त्व हैं—भोक्ता (जीव), भोज्य (जड़तत्त्व) तथा नियन्ता (प्रेरक-तत्त्व ईश्वर)। कुछ आचार्य तत्त्व के चार प्रकार का विभाग करके अनुसन्धान करते हैं। वे तत्त्व हैं—हेय (त्याज्य), हेय के निवर्तक तत्त्व, उपादेय तत्त्व तथा उपादेय तत्त्वों के उपाय। दूसरे आचार्य तत्त्वों का पाँच भेद करते हैं—प्राप्य, प्रापक, उपाय, फल तथा विरोधी। दूसरे आचार्य उपर्युक्त पाँच तत्त्वों के साथ संबन्ध नामक छठे तत्त्व को मिलाकर छह-तत्त्व मानते हैं। तत्त्वों के विभिन्न विभाजक धर्मों को पुरस्कृत करके तत्-तत् प्रकार से भेद किया जाता है, अत एव उनके अर्थ में किसी प्रकार का भेद नहीं है। इस प्रकार ये सभी मत निर्दोष हैं।

यतीन्द्रमतदीपिका की तत्त्वापादकता

भा० प्र०—तत्त्वों के विषय में आचार्यों का मतभेद है। सूरिगण एक ही तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि में सम्पूर्ण जगत्शरीरक परमात्मा ही एकमात्र तत्त्व है। ऋषियों का मत है कि तत्त्व दो प्रकार के हैं—आत्मा और अनात्मा। आत्मा के अन्तर्गत जीवात्मा और परमात्मा आते हैं, अनात्मा के अन्तर्गत सभी जीवेश्वर-व्यतिरिक्त आते हैं। प्रकृति, काल, नित्यविभूति आदि अनात्मतत्त्व ही है। आचार्यों का कहना है कि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्त्वा' यह श्रुति बतलाती है कि तत्त्व तीन है—भोक्ता, भोग्य और प्रेरिता। जीव ही भोक्ता तत्त्व है, वही क्षरणशीला प्रकृति का भोग करता है। भोग्य अर्थात् जड़तत्त्व। भोग्यों में प्रकृति, काल, धर्मभूत ज्ञान और शुद्धसत्त्व आदि आते हैं। भोक्तृतत्त्व और भोग्यतत्त्व दोनों के स्वरूप, स्थिति एवं प्रवृत्ति का नियामक परमात्मा है। इसी अर्थ को 'क्षरं प्रधानममृताक्षरो हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः' यह श्वेताश्वतर श्रुति बतलाती है। कुछ आचार्य तत्त्वों का चार विभाग करते हैं—१. हेयतत्त्व—प्रकृति एवं प्राकृतिक पदार्थ। २. हेय के निवर्तक—मोक्ष के साधनभूत भक्ति आदि। ३. उपादेयतत्त्व—परमात्मतत्त्व तथा ४. परमात्मा की प्राप्ति के साधनभूत तत्त्व।

'प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेः तथा प्राप्तिविरोधि च।
वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः॥'

अर्थात् सभी वेद, इतिहास और पुराण इन पाँच तत्त्वों का प्रतिपादन करते हैं—१. सभी जीवों द्वारा प्राप्य परमात्मा का स्वरूप क्या है ? २. परमात्मा को प्राप्त करने वाले जीवात्मा का स्वरूप क्या है ? ३. परमात्मा की प्राप्ति के साधन क्या हैं ? ४. परमात्मा की प्राप्ति का फल क्या है ? तथा ५. परमात्मा की प्राप्ति के विरोधी तत्त्व कौन हैं ?

इन पाँच भागों में विभक्त करके कुछ आचार्य तत्त्वों का अनुभव करते हैं। इसी अनुभव के प्रकार को अर्थपञ्चक-विज्ञान कहते हैं।

कुछ आचार्य इन पाँच तत्त्वों के साथ छठे तत्त्व संबन्ध को भी मिला लेते हैं और तत्त्वों की संख्या छह मानते हैं। अष्टाक्षरमन्त्र का पर्यालोचन करने से पता चलता है कि जीवात्मा और परमात्मा के बीच नवविध संबन्ध हैं। वे संबन्ध हैं—

१. **पिता-पुत्रभाव**—जीवात्मा परमात्मा का पुत्र है, परमात्मा जीवात्मा का पिता है, क्योंकि वह सभी जीवों की सब प्रकार से रक्षा करता है।

२. **रक्ष्यरक्षकभावसम्बन्ध**—परमात्मा ही जीवों का रक्षक है और जीव परमात्मा का रक्ष्य है।

३. **शेषीशेषभावसम्बन्ध**—परमात्मा जीवात्मा का शेषी अर्थात् यथेष्ट उपभोक्ता है और जीवात्मा उसका शेष अर्थात् यथेच्छविनियोगार्ह है।

४. **भर्तृभृत्यभावसम्बन्ध**—परमात्मा जीवों का स्वामी है तथा जीवात्मा परमात्मा का सेवक है।

५. **ज्ञातृज्ञेयभावसम्बन्ध**—परमात्मा ज्ञेय है तथा जीवात्मा उस परमात्मा को जानने वाला है।

६. **सेव्यसेवकभावसम्बन्ध**—परमात्मा सेव्य है तथा जीवात्मा सेवक है।

७. **आधाराधेयभावसम्बन्ध**—परमात्मा जीवों की आत्मा होने से उनका आधार है और जीवात्मा उसका आधेय है।

८. **शरीरात्मभावसम्बन्ध**—जीव परमात्मा का शरीर है और परमात्मा जीवों की आत्मा है।

९. **भोक्तृभोग्यभावसम्बन्ध**—परमात्मा का जीवात्मा भोज्य है और जीवात्मा परमात्मा का भोग्य है। इसी बात को स्पष्ट करती है मुक्तजीव के सामाम्नान को बतलाने वाली 'अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्' यह श्रुति। अर्थात् मैं परमात्मा का भोग्यभूत हूँ।

इस प्रकार से अर्चिरादिमार्ग से उत्क्रमण करने वाली मुक्तजीव-विषयिणी श्रुति से इन संबन्धों के ज्ञान के बिना वेदान्तज्ञान की पूर्ति नहीं होती है। अतएव अर्थ-पञ्चक ज्ञान के साथ-साथ संबन्धज्ञान का होना अनिवार्य हो जाता है। इसी बात का प्रतिपादन कुछ विशिष्टाद्वैती आचार्य करते हैं। ये सभी तत्त्व के भेद प्रकारभेद के कारण हैं। वास्तविकता यह है कि सभी विभाजनों का तात्पर्य एक ही अर्थ में है। अतएव ये सभी विभाग प्रकार-निर्देश निरवद्य हैं।

चिदचिद्विशिष्टम् अद्वैतं तत्त्वमेकमेवेति वेदान्तानां तात्पर्यम्

वस्तुतस्तु, वेदान्तानां चिदचिद्विशिष्टाद्वैतं तत्त्वमेकमेव ब्रह्मेति तात्पर्यम्। अत एव चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्मैक(मेवेति)मिति मत्वा भगवान् बादरायण अथातो ब्रह्मजिज्ञासा इत्युपक्रम्य तदेव सप्रकारं निरूपितवान्। अतः चिदचिद्विशिष्टो ब्रह्मशब्दवाच्यो विष्ण्वाख्यः परवासुदेवो नारायण एवैकं तत्त्वमिति विशिष्टाद्वैतवादिनां दर्शनमिति सिद्धम्।

अनुवाद—वास्तव में वेदान्तों का तात्पर्य यह है कि चिदचिद्विशिष्टाद्वैत ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। अतएव चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म एक ही है, यह मानकर भगवान् बादरायण ने 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र से प्रारम्भ करके सम्पूर्ण शारीरक-मीमांसा में सप्रकार ब्रह्म का निरूपण किया है। अतएव विशिष्टाद्वैतवादियों का दर्शन है कि ब्रह्म शब्द से तथा विष्णु शब्द से अभिहित किये जाने वाले चेतनाचेतनशरीरक परवासुदेव भगवान् नारायण ही एकमात्र तत्त्व हैं।

यतीन्द्रमतदीपिकाया उपसंहारः

इति विविधविचित्रमानमेयप्रकाशं
घनगुरुवरदासेनोक्तमादाय शास्त्रात्।
यतिपतिमतदीपं वेदवेदान्तसारं
स भवति मतिमान्यस्सत्कटाक्षैकलक्ष्यः॥

इति श्रीवाधूलकुलतिलक-श्रीमन्महाचार्यस्य प्रथमदासेन श्रीवेङ्कटगिरिनाथपद-कमलसेवापरायणः स्वामिपुष्करिणी-श्रीगोविन्दार्यसूनुना श्रीनिवास-दासेन विरचिता यतीन्द्रमतदीपिकाख्या विशिष्टाद्वैत-शारीरकपरिभाषा समाप्ता।

अनुवाद—इस प्रकार से अनेक प्रकार के अद्भुत प्रमाणों तथा प्रमेयों का प्रकाश करने वाला, शास्त्रानुसारी, साङ्ग, सशिरस्क वेदों के सार-स्वरूप तथा यतिराज श्रीरामानुजाचार्य के सिद्धान्त के प्रकाशक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य द्वारा प्रोक्त इस यतीन्द्रमतदीपिका का अभ्यास करके सदाचार्य का कृपापात्रभूत अधिकारी वेदान्तज्ञान से सम्पन्न हो जाता है।

इस प्रकार श्रीवाधूलकुलतिलक श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीवेङ्कटाचल के स्वामी श्रीवेङ्कटेश भगवान् के श्रीचरणकमलों की सेवा में संलग्न, स्वामी पुष्करिणी श्रीगोविन्दाचार्य के पुत्र श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत यतीन्द्रमतदीपिका नाम की विशिष्टाद्वैत शारीरक-परिभाषा पूर्ण हुई।

ग्रन्थ का उपसंहार

भा० प्र०—ग्रन्थ का उपसंहार करते हुए यतीन्द्रमतदीपिकाकार ने कहा है कि मेरे आचार्य महाचार्यजी मेघ के सदृश हैं। यद्यपि महाचार्य की दूसरी संज्ञा ही घनगुरु है, फिर भी घन शब्द मेघ का भी वाचक है। आचार्य और मेघ में अनेक प्रकार की समता है—१. मेघ समुद्र के क्षार जल को पेय बनाकर वर्षा करता है। आचार्य भी दुःखावगाह्य शास्त्रार्थों को सर्वोपभोग्य बनाकर जन-सामान्य के जीवनोज्जीवन के उपायों को प्रदान करते हैं। २. मेघ अपनी वृष्टि से निम्न स्थल को जल से पूर्ण कर देता है, आचार्य भी अपने सदुपदेश से नम्र शिष्यों के जीवन को सद्गुण से परिपूर्ण बना देते हैं। ३. मेघमाला अत्यधिक वर्षा करके न तो तृप्त होती है और न तो प्रत्युपकार ही चाहती है, उसी प्रकार आचार्य भी अत्यधिक उपदेश देकर भी न तो तृप्त होते हैं और न तो शिष्य से प्रत्युपकार की ही भावना रखते हैं। इस प्रकार आचार्य और मेघ में अनेक प्रकार की समता देखकर श्रीनिवासाचार्य उन्हें मेघ के सदृश कहते हैं।

अपने आचार्यश्री के द्वारा उपदिष्ट अर्थों का ही संग्रह करके श्रीनिवासाचार्यजी इस यतीन्द्रमतदीपिका नामक ग्रन्थ का प्रणयन करते हैं। यह ग्रन्थ अत्यन्त लघुकाय होकर भी प्रमाण एवं प्रमेय का प्रकाशक है। ये प्रमाण अनेक प्रकार के हैं तथा अद्भुत हैं। किन्तु सब कुछ होने के साथ-साथ अप्रामाणिक नहीं हैं। इस ग्रन्थ में जितनी भी बातें कहीं गयी हैं, वे सब शास्त्रानुकूल हैं, शास्त्र के प्रतिकूल कुछ भी नहीं कहा गया है। विशिष्टाद्वैतियों का स्वभाव है कि वे कभी भी शास्त्र के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहते हैं और न तो शास्त्र में मिथ्यार्थ के आपादकत्व इत्यादि दोषों की वे कल्पना ही करते हैं। सम्पूर्ण वेद भूतार्थ का आपादक है; यह विशिष्टाद्वैतियों की सर्वप्रधान मान्यता है। विशिष्टाद्वैती पूर्ण वैदिक हैं।

यह यतीन्द्रमतदीपिका वेदों तथा वेदान्तों का सारस्वरूप है। जो आचार्य का कृपापात्र बनकर इस ग्रन्थ का अभ्यास करता है, वह वेदान्त के ज्ञानों से परिपूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार श्रीमन्महाचार्य के प्रधान शिष्य श्रीनिवासाचार्य द्वारा प्रणीत
यतीन्द्रमतदीपिका नामक शारीरक-परिभाषा की शिवप्रसादद्विवेदी
(श्रीधराचार्य) प्रणीत 'भावप्रकाशिका' व्याख्या पूर्ण हुई।

पुस्तक-परिचय

दर्शनों में वेदान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वेदों के अन्तिम भाग तथा वेदों के अर्थ-निश्चय को वेदान्त कहते हैं। वेदान्त की अनेक शाखाओं में विशिष्टाद्वैत वेदान्त अन्यतम है। श्री श्रीनिवासाचार्य द्वारा रचित 'यतीन्द्रमतदीपिका' विशिष्टाद्वैतदर्शन का प्रवेश ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के दो भाग हैं–1. प्रमाण-विचार भाग तथा 2. प्रमेय-विचार भाग। यतीन्द्रमतदीपिका के प्रथम तीन अवतारों में प्रमाणों का विचार तथा शेष सात अवतारों में प्रमेयों का विचार किया गया है। इस प्रकार ये अवतार–सत्पक्ष का संरक्षण, सत्पक्षप्रतिपक्षी पक्ष का खण्डन तथा तत्त्व, हित एवं पुमर्थज्ञान रूप सद्धर्म का प्रवर्तन करने का कार्य करते हैं। इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने अधिक से अधिक सैद्धान्तिक भावों को कम से कम शब्दों में सफलतापूर्वक अभिव्यक्त करके ग्रन्थ को सरल और सुबोध बनाने का प्रयास किया है, जिससे यह ग्रन्थ जिज्ञासुओं के मन में विषय-सम्बद्ध विस्तृत भावों को जानने की अभिलाषा उत्पन्न कर देता है।

ISBN : 978-93-85005-59-6

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

email : csp_naveen@yahoo.co.in

website : www.chaukhamba.co.in